काव्य-धारा

Kavya Dhara

Price Rs 6=50

शिवदानसिंह चौहान

हिन्दी-कविता का विकास

श्रीधर पाठक से लेकर अब तक के सत्तर-पचहत्तर वर्ष हिन्दी (खड़ीबोली) कविता के जन्म और विकास के अभूतपूर्व वर्ष हैं। स्रोत से निकली क्षीण धारा जैसे अपनी यात्रा में मार्ग की उपत्यकाओं, वन-प्रान्तरों और मैदानों का पानी समेट कर विशाल धारा बन जाती है, और कोटि-कटि एकड़ भूमि को सींचती और उर्वर बनाती हुई आगे बढ़ती है, उसी तरह प्रारम्भ में एक-दो कंठों से फूट-निकली हिन्दी-कविता आज एक विशाल धारा बन गई है, जिसके संगीतमय अहरह गर्जन में सैकड़ों समर्थ और उदीयमान कवियों के कंठों का सम और विषम स्वर ध्वनित है, और वह कोटि-कोटि हिन्दी-भाषियों के हृदयों को रस-प्लावित कर नये विचारों और भावाओं की खेती के लिए उर्वर (चेतन-संस्कृत) बना रही है।

इस काव्य-धारा के प्रवृत्यात्मक विकास का अध्ययन इन तीन युगों में बाँट कर करना अपेक्षित है—(१) पूर्व-छायावाद-युग (२) छायावाद-युग (३) उत्तर-छायावाद-युग।

इस काल-विभाजन का छायावाद ही प्रमाण है। छायावाद का विस्तार दोनों महयुद्धों के बीस-इक्कीस वर्षों की काल-अवधि है। छायावाद युग से पहले की कविता में किसी समय कोई एक ही प्रवृत्ति या विचारधारा सर्व-प्रधान नहीं रही। उत्तर-छायावाद युग में भी अभी तक हिन्दी-काव्य की कोई प्रवृत्ति इतनी प्रभुत्वशाली और व्यापक नहीं हो पाई कि उसके नाम पर युग को अभिहित किया जाय। इस काल-विभाजन का छायावाद प्रमाण इसलिए भी है कि पूर्व और पश्चात् की काव्य धाराएँ और प्रवृत्तियाँ छायावाद से अन्तरंग रूप से सम्बन्धित हैं। श्रीधर पाठक से हिन्दी-कविता की जो परम्परा चली, वह छायावाद की ही पूर्व-गामिनी थी। छायावाद के पूर्व-चिह्न उसमें प्रगट थे, और उसके बहिरंग को देखकर आलोचकों और इतिहासकारों ने अपने रजिस्टर में प्रवृत्तियों के चाहे जितने खाने खोल दिए हों, उसका स्वाभाविक विकास छायावाद की ओर ही था, क्योंकि युग की प्रगतिशील चेतना और अनुभूति अज्ञात रूप से इस दिशा में ही विकास कर रही थी। इसी प्रकार उत्तर-छायावाद युग की कविता भी छायावाद से ही निसृत है। छायावादी काव्य के ह्रास-चिह्न इसमें प्रकट हैं। छायावादी प्रवृत्ति एक संश्लिष्ट प्रवृत्ति थी, किन्तु उत्तर-छायावाद युग में उसकी संश्लिष्ट भावना विश्रृंखलित हो गई; जिससे काव्यानुभूति के तार बिखर गये। छायावादी कविता का स्वर बिखर गया। कुछ कवियों ने छायावाद के समाज-परक तत्वों में नये विचार भरकर सच्ची अनुभूति के बिना ही प्रगतिशीलता का स्वर-संधान करना चाहा, तो कुछ ने उसके व्यक्तिपरक तत्वों की गठरी सहेज कर प्रयोगशीलता का बौद्धिक चमत्कार दिखाया। दोनों ओर खोखला आत्म प्रदर्शन ही अधिक रहा, जीवन के हर्ष-विषाद और उसकी समस्याओं की मार्मिक अभिव्यक्ति विरल हो गई। इसलिए आरम्भ की साधरण, सरल, इतिवृत्तात्मक किन्तु विकासोन्मुखी हिन्दी कविता;

दोनों महायुद्धों के बीच की अपने पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँची छायावादी कविता और उत्तर-छायावादयुग की पथभ्रष्ट अथवा पथ-खोजी; दुरूह अथवा गद्यात्मक कविता में एक-सूत्रता है। जिसे हमारे इतिहासकार बड़े गर्व से 'राष्ट्रीय' कविता कहते हैं (मानो उन चन्द उद्बोधनात्मक कविताओं और तुकबन्दियों के अतिरिक्त सब कुछ अ-राष्ट्रीय हो), वह भी इस सूत्र में ही अनिवार्यतः गुंथी हुई है। राष्ट्रीय-जागरण के क्रोड़ में ही हिन्दी-कविता का जन्म और विकास हुआ है, इसलिए राष्ट्रीय-भावना कहीं दृश्यस्तर की वस्तु-योजना को लेकर तो कहीं गहरी अन्तःप्रवृत्ति की सूक्ष्म, मार्मिक अभिव्यक्ति के रूप में व्याप्त रही है ।

जिस कविता को हिन्दी में छायावादी कहकर पुकारते हैं, वह वस्तुतः पाश्चात्य देशों की 'रोमांटिक' (स्वच्छन्दतावादी) कविता की अनुरूपिणी है। बंगला से लेकर 'छायावाद' नाम तो उन विरोधियों का दिया हुआ है जिनमें यथातथ्यवादी, अभिधा-शैली में लिखी तुकबन्दियों या परम्परा-विहित धार्मिक-भावना से लिखी कविताओं के अतिरिक्त किसी प्रकार की भी संश्लिष्ट और अनुभूति-प्रधान कविता को समझने की क्षमता ही नहीं थी। किन्तु यह शब्द प्रचलित होकर रूढ हो गया और स्वयं स्वच्छन्दतावादी कवियों ने इसे अपना लिया। स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति विश्व-साहित्य में नई नहीं है। यथार्थवादी प्रवृत्ति की तरह काल-विशेष की विशेष परिस्थितियों में यह वस्तुजगत् के प्रति संवेदनशील मनुष्य की एक विशिष्ट, किन्तु स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। यह केवल एक अन्ध भाव-प्रतिक्रिया ही नहीं है, बल्कि जीवन और जगत् के प्रति एक निश्चित और मूलभूत दृष्टिकोण भी है। इसलिए हिन्दी की छायावादी कविता को पाश्चात्य या बंगला-काव्य की अनुकृति या अनुवर्तिनी नहीं कहा जा सकता, यद्यपि उनसे प्रभावित वह अवश्य है। एक सीमा तक किसी भी काल की कविता को स्वच्छन्दतावादी कहा जा सकता है जो भाव और कल्पना-प्रधान हो, अर्थात् जिसमें रीति-बद्ध काव्य की तरह रूढ़ि-नियमों, और सुनिश्चित शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह न हो। इस व्यापक अर्थ में हम प्राचीन काव्य में भी यत्र-तत्र स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के चिह्न खोज कर निकाल सकते हैं। लेकिन अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चात्य काव्य और साहित्य की एक विशिष्ट प्रवृत्ति और जीवन-दृष्टि के अर्थ में ही स्वच्छन्दतावाद या 'रोमान्टिसिज्म' शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रवृत्ति के अंकुर चाहे पश्चिम की प्राचीन और मध्यकालीन काव्य-परम्परा में मिलते हों, लेकिन इसका प्रस्फुटन अनेक अन्तर्विरोधी तत्वों के संयोग से एक अभिनव और विशिष्ट रूप में हुआ।

एक अंग्रेजी आलोचक का कहना है कि स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधि प्रतीक मध्यकालीन गाथाओं का चरितनायक डाक्टर फॉस्टस है, जिसने वर्जित तंत्र-ज्ञान का अध्ययन करके स्वयं ईश्वर को चुनौती दी थी। मध्यकालीन जन-साधारण की दृष्टि में डाक्टर फॉस्टस सामन्ती सत्ता को चुनौती देने, ज्ञान की उपलब्धि में निरत रहने और 'मनुष्य अपने हित-साधन के लिए प्रकृति को वश में कर सकता है,' इस मानवी विश्वास का प्रतीक था। किन्तु बाद में, स्वच्छन्दतावादियों की दृष्टि में वह अज्ञात और अप्राप्य को प्राप्त करने की शाश्वत मानव-चेष्टा, वस्तु-जगत् से मनुष्य के चिरन्तन और दुर्निवार अन्तर्विरोध का प्रतीक बन गया। मध्यकालीन दृष्टिकोण में व्यक्ति की महत्ता और शक्ति-सम्भावना में आस्था थी, तो स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण में मनुष्य और वस्तु-जगत् में चिरस्थायी संघर्ष और विरोध का विश्वास था। इस प्रकार वास्तविकता और उसके सत्य की खोज से विमुख होकर वास्तविकता से ही पालायन करने की चेष्टा करना यथार्थवादी दृष्टिकोण से स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण की ओर संक्रमण है।

इस स्थान पर हम उन समाजगत कारणों की ओर संकेत ही कर सकते हैं जिन्होंने कला

और साहित्य में व्यक्तिवाद को जन्म दिया। मध्यकाल से निकल कर मनुष्य ने जब औद्योगिक युग में प्रवेश किया, उस समय व्यक्ति की सत्ता के प्रति वह पहली बार व्यापक रूप से सचेतन हुआ। फ्रांस और इंग्लैंड की औद्योगिक क्रान्तियों ने, जिनके फलस्वरूप मानव-समाज सामन्तकाल से निकलकर पूंजीवादी युग में आया, मनुष्य के अधिकारों की घोषणा की थी। यह एक प्रजातांत्रिक सिद्धान्त की घोषणा थी, जिसका अर्थ था कि स्वतन्त्रता और भाईचारे के वातावरण में हर व्यक्ति शान्तिपूर्वक अपने व्यक्तिगत सुख-सम्मान के साधन जुटा सकता है; क़तई आवश्यक नहीं कि उसके व्यक्तिगत हित सामाजिक हितों से अनिवार्यतः टकरायें ही। व्यक्तिवाद की यह स्वीकृति समाज की अस्वीकृति पर निर्भर नहीं थी। व्यक्ति-चेतना का यह रूप मनुष्य मात्र की चेतना का मुक्तिदायी विकास-चिह्न है। तब से व्यक्तिवाद किसी न किसी रूप में विश्व-मानव की चेतना का अभिन्न अंग बना हुआ है और किसी भी भावी समाज में व्यक्ति की सत्ता और उसकी व्यक्ति-परक चेतना को विस्मृत करने के लिए मनुष्य को विवश नहीं किया जा सकता। एक पूर्णतः जनवादी अथवा समष्टिवादी समाज में भी व्यक्ति ही समाज के योग-क्षेम का प्रमाण रहेगा, क्योंकि व्यष्टि और समष्टि के हितों में वैषम्य और असामंजस्य के कारणभूत वर्ग-भेद मिट जायेंगे। लेकिन अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दियों की पूंजीवादी क्रान्तियों ने व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सामंजस्य की सम्भावना की घोषणा तो की परन्तु व्यवहारतः यह सम्भावना प्रतिफलित न हो सकी। नये समाज के क्रूर वर्ग-सम्बन्धों ने तत्काल मनुष्य की आशाओं, इच्छाओं और कल्पनाओं पर कुठाराघात किया। साहित्य की रोमान्टिक या स्वच्छन्दतावादी धारा ने व्यक्ति और समाज या वस्तु-जगत् के इस वैषम्य को चिरन्तन मानकर व्यक्तिवाद की पताका फहराई। नैराश्य-वेदना के भावना-कूलों के बीच स्वच्छन्दतावाद की धारा प्रवाहित हो चली।[1] जर्मनी के श्लीगल, शेलिंग और फिश्ते ने सर्वप्रथम सन् १८०० ई० के लगभग स्वच्छन्दतावाद के काव्य-दर्शन 'असीम की साधना' की बुनियाद डाली थी। यह दर्शन उस युग के बुद्धिवाद और क्लासिसिज्म की भावना की प्रतिक्रिया के रूप में जन्मा। फ्रांस के रूसो और उसके अनुयायियों ने इसका अपने ढंग से समर्थन किया। जर्मनी की स्वच्छन्दतावादी धारा बुद्धि-पक्ष की अपेक्षा हृदय-पक्ष को, चेतना की अपेक्षा अवचेतना या अन्तश्चेतना को, तर्कज्ञान की अपेक्षा दिव्य-ज्ञान को, प्रतिनिधि मानव-चरित की अपेक्षा विशिष्ट व्यक्ति-चरित को, मानवता की अपेक्षा लोकजनों को, दिवस और धूप की अपेक्षा रात्रि और ज्योत्स्ना को, भावी समाज की आदर्श-कल्पनाओं की अपेक्षा इतिहास को अधिक मूल्य देती थी। जर्मन-धारा का सम्बन्ध मध्यकालीन जीवनादर्शों और ईसाई-धर्म से इतना आंगिक था कि वह राजनीति में शीघ्र ही प्रतिक्रियावादी शक्तियों से सम्बद्ध हो गई। लेकिन फ्रांसीसी

---

१. विषय-वस्तु से साहित्य की प्रवृत्ति का निर्धारण नहीं किया जाता। प्रवृत्ति प्रवृत्ति है, जीवन और जगत् को देखने की दृष्टि और रागात्मक प्रतिक्रिया का वह समन्वित रूप है। स्वच्छन्दतावादी काव्य और कला ने अपनी दृष्टि से जीवन और जगत् के बहुविधि विषयों, वस्तुओं, भावों और जीवन-व्यापारों का कलात्मक वर्णन और चित्रण किया है। लोकवार्ता, परियों की कहानियों, पौराणिक गाथाओं, ऐतिहासिक घटनाओं और चरित-नायकों से लेकर व्यक्ति-मानस के सूक्ष्मातिसूक्ष्म संवेदनों को अभिव्यक्ति दी है। इसलिए स्वच्छन्दतावादी या यथार्थवादी प्रवृत्ति के अन्तर्गत रखते समय किसी रचना के बहिरंग को ही नहीं देखना चाहिए बल्कि उसके अन्तरंग से झांकती हुई कवि-दृष्टि और स्वर को पहचानना चाहिए।

धारा ने क्रान्ति का समर्थन किया और प्रगतिशील विचारों की धार्मिक अभिव्यक्ति दी। अंग्रेज़ी में शैली, बायरन और प्रारम्भिक उत्थान के वर्ड्सवर्थ आदि ने स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के जिस रूप को अभिव्यक्ति दी वह फ्रांसीसी धारा से मिलती जुलती है। उसकी अहंवादी भावनाएँ उदात्त और व्यापक हैं। कहने का तात्पर्य यह कि अपने-अपने देशकाल की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति का भिन्न-भिन्न रूप-संस्कार हुआ। उसके व्यापक दृष्टिकोण में यद्यपि समानता है, किन्तु अभिव्यक्ति में काफ़ी भेद भी है। अनेक ऐतिहासिक विचार-तन्तु और प्रवृत्तियों की संश्लिष्ट-योजना स्वच्छन्दतावादी काव्य में मिलती है, और देश-काल परिस्थिति-भेद के अनुसार किसी देश की धारा में यदि एक तत्व की प्रधानता है तो दूसरे देश की धारा में दूसरे तत्व की। अतः यह कहना जैसे ग़लत होगा कि फ्रांसीसी धारा जर्मन धारा के अनुकरण पर चली या अंग्रेज़ी धारा फ्रांसीसी धारा की अनुवर्तिनी थी, उसी तरह यह कहना भी ग़लत होगा कि हिन्दी की छायावादी कविता पाश्चात्य (भला किस देश की ? पाश्चात्य में तो जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंगड आदि सभी हैं) धारा की नक़ल है। और यदि फ़ैशन की नक़ल की जाती हैं तो तत्कालीन या समसामयिक फ़ैशन की। सौ वर्ष पुराने फ़ैशन की नहीं। किन्तु उस स्वच्छन्दतावादी धारा का तो जिससे छायावाद की कविता प्रभावित है, सत्तर वर्ष पहले अवसान हो चुका था, और प्रथम महायुद्ध के बाद की पाश्चात्य कविता स्वच्छन्दतावाद के अवशिष्ट ह्रासोन्मुखी, घोर व्यक्ति-वादी, अनास्थावादी और असामाजिक तत्वों को ही एकांगी अभिव्यक्ति दे रही थी। छायावादी यदि सहसा उनकी परिपाटी पर चल पड़ते तो उन पर अनुकरण-वृत्ति का आरोप सही उतरता। वस्तुतः अपने देश-काल की विशिष्ट परिस्थितियों में हमारे कवियों के हृदय में वास्तविक जगत् और उसके मानव-संबंधों की जो प्रतिक्रिया हुई, उसकी अभिव्यक्ति देते समय उन्हें उन्नसवीं शताब्दी की पाश्चात्य (अंग्रेज़ी) स्वच्छन्दतावादी धारा में कुछ सामान्य तत्व मिले जो उन्होंने ग्रहण किये।[1] छायावादी कवियों ने अपना अलग साहित्य-दर्शन प्रतिपादित किया, जिसका विवेचन प्रसंग आने पर होगा। इस संक्षिप्त भूमिका के बाद हम हिन्दी-कविता के विकास-क्रम को सरलता से समझ सकते हैं।

पूर्व-छायावादी युग

भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखक हिन्दी और हिन्दू-जाति के उद्धार के लिए आन्दोलन करने वाले देश-प्रेमी पत्रकार और प्रचारक ही अधिक थे, कवि और साहित्यकार कम। उनका देश-प्रेम एक ओर हिन्दू पुनत्थानवाद की मुस्लिम-विरोधी साम्प्रदायिकता तो दूसरी ओर राजभक्ति की

---

१. सांस्कृतिक मानव-शास्त्र के विद्यार्थी जानते हैं कि किसी भी देश वा जाति की जीवन तथा विचार-पद्धति में या तो अपने सामाजिक जीवन के विकास की आन्तरिक आवश्यकताओं के तकाजे के फलस्वरूप परिवर्तन होते हैं या किसी अपने से उन्नत बाह्य संस्कृति और जीवनप्रणाली के संपर्क में आने के कारण, या फिर दोनों कारणों के संयोग से। केवल पुराणपंथी ही बाह्य-प्रभावों को वर्जनीय घोषित कर सकते हैं। यदि सब देश और सब जातीय संस्कृतियाँ आवश्यकतानुसार आदान-प्रदान से वंचित कर दी जायें तो मानव-समाज की प्रगति-धारा केंचुए की गति से भी मंद पड़ जायगी, संभव है कि अनेक संस्कृतियां ह्रासोन्मुखी होकर मिट चलें। बाह्य-प्रभावों में स्वस्थ और अस्वस्थ दोनों प्रकार के तत्व होते हैं, लेकिन जीवन का यह नियम है कि अन्ततः स्वस्थ प्रभाव ही विजयी होते हैं।

अवसरवादिता के संकीर्ण घेरे में ही अन्त तक चक्कर काटता रहा। आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी में ही नहीं, बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों तक, अर्थात् छायावादी काव्य-धारा के फूट पड़ने से पहले तक के हिन्दी कवि (महावीर प्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और मैथिलीशरण गुप्त) इस संकीर्ण घेरे का अतिक्रमण करने का साहस नहीं कर पाये। जातिगत, सम्प्रदायगत और भाषा-गत स्वार्थों से ऊपर उठकर वे अपनी वाणी में राष्ट्रीय एकता का वह उदात्त स्वर नहीं फूंक पाये जिसने रवीन्द्रनाथ ठाकुर और इक़बाल के कंठ से निकलकर सारे देश में एक नया स्पन्दन भर दिया था। छायावादी कविता ने ही सबसे पहले काव्य-क्षेत्र में इन संकीर्ण सीमाओं को तोड़ा। राज-भक्ति की अवसरवादिता उसमें कहीं नहीं मिलती, यद्यपि प्रसाद और निराला में हिन्दू-पुनरुत्थानवाद की दूरागत अनुगूंज प्रारम्भ में कहीं-कहीं अवश्य सुनाई देती रही। अस्तु, प्रधानतः सुधारक, प्रचारक और पत्रकार होने के नाते भारतेन्दुकालीन लेखकों को दिन प्रतिदिन अपने-अपने सम्पादित पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हिन्दू-समाज में प्रचलित कुरीतियों, धार्मिक मिथ्याचार, छल-कपट, अमीरों की स्वार्थपरता, पाश्चात्य-सभ्यता के रंग में रंगे नये शिक्षित वर्ग की अनुकरणवृत्ति, पुलिस और कर्मचारियों की लूट-खसोट, अदालतों में प्रचलित अन्याय-अनीति, उर्दू के प्रति सरकार के पक्षपात, देश की सामान्य दुरवस्था, अकाल, महामारी के प्रकोप, अंग्रेजी शासन के आर्थिक-शोषण आदि के संबंध में अपने विचार प्रकट करके पाठकों को सामयिक प्रश्नों के प्रति जागरुक बनाना होता था। वे इन विचारों को कभी गद्य-लेखों में तो कभी छन्द-बद्ध पद्यों के माध्यम से प्रकट करते थे। कभी-कभी इन विचारों को और अधिक प्रभावशाली अभिव्यक्ति देने के लिए वे नाट्य-विधान का भी उपयोग करते थे। उनके लेखों और नाटकों की भाषा तो हिन्दी होती थी, लेकिन नाटकों में आये गीतों और पद्यों की भाषा बहुधा ब्रजभाषा होती थी। भारतेन्दु ने खड़ी-बोली में पद्यरचना करनी चाही, किन्तु वे सफल न हुए, निर्जीव तुकबन्दियां ही बन पड़ीं। ब्रजभाषा में अपेक्षया उन्होंने कुछ मार्मिक कविताएं लिखी हैं, जिनमें अनुभूति का योग है। ब्रजभाषा या खड़ी-बोली में भारतेन्दु-कालीन लेखकों ने सामयिक विषयों पर जो पद्यात्मक रचनाएं कीं उन्हें कविता की कोटि में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उनमें राजनीतिक-सामाजिक विचारों को ज्यों का त्यों छन्द-बद्ध करने की ही प्रवृत्ति है, जीवन और जगत् के अनुभव को मर्म-छवियों के माध्यम से मूर्त्त कलात्मक अभि-व्यक्ति देकर नयी अर्थ-सृष्टि करने का प्रयास क़तई नहीं है। विचारों और वक्तव्यों को बिना अनुभूति के छंद-बद्ध कर देने मात्र से कविता नहीं पैदा होती। ऐसी छन्दोबद्ध तुकबन्दियां आज-कल भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं, नये से नये विषयों पर भी, लेकिन उन्हें कविता कहलाने का गौरव नहीं मिलता। स्वयं भारतेन्दुकालीन लेखक अपने को कवि और अपनी पद्यात्मक रचनाओं को कविता कहकर पुकारने में संकोचशील थे। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखाः—

"भारत में अब कवि भी नहीं हैं और कविता भी नहीं है। कारण यह है कि कविता देश और जाति की स्वाधीनता से सम्बन्ध रखती है। जब यह देश, देश था और यहां के लोग स्वाधीन थे, तब यहां कविता भी होती थी। उस समय की जो बची-खुची कविता अब तक मिलती है वह आदर की वस्तु है और उसका आदर होता है। कविता के लिए अपने देश की बातें, अपने देश के भाव और अपने मन की मौज दरकार है। हम पराधीनों में यह सब बातें कहां? फिर हमारी कविता क्या और उसका गुरुत्व क्या? इससे इसे तुकबन्दी कहना ठीक है। पराधीन लोगों की तुकबन्दी में कुछ तो अपने दुःख का रोना होता है, और कुछ अपनी गिरी दशा पर पराई हंसी आती है..."[1]

इसलिए भारतेन्दु या उनके जीवन-काल में जिन लेखकों ने खड़ीबोली में इक्की-दुक्की तुक-बन्दियाँ रचीं उन्हें कविता कहना ठीक नहीं। भारतेन्दुकालीन लेखक अधिकतर हिन्दी में गद्य और ब्रजभाषा में पद्य-रचना करते थे। उनके बाद भी उन्नीसवीं शताब्दी में कोई कवि केवल हिन्दी का कवि नहीं हुआ। जिन्होंने भी पद्य-रचना की, हिन्दी और ब्रजभाषा दोनों में की। साहित्य की दृष्टि से हिंदी-कविता के प्रारम्भिक कवियों में केवल तीन नाम उल्लेखनीय हैं—श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर और राय देवीप्रसाद पूर्ण। हिन्दी के प्रारम्भिक कवि होने के कारण ही इनका विशेष महत्व है। भारतेन्दु ने सन् १८७६ में हिन्दी में तीन पद्य रचे थे, लेकिन तीनों कविताएँ 'भौंड़ी' बन पड़ीं, इस पर उन्होंने उर्दू कविता के अनुभव को अनदेखा करके और अपनी असामर्थ्य को स्वीकार न करके यह फतवा दे दिया कि हिन्दी में "क्रिया इत्यादि प्रायः दीर्घ मात्रा में होती हैं इससे कविता अच्छी नहीं बनती।" तथा "इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा ही में कविता करना उत्तम होता है और इसीसे सब कविता ब्रजभाषा ही में उत्तम होती है।" बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास आदि भी इस मत के अनुगामी थे। गद्य और पद्य की दो भाषायें भारतेन्दु की मृत्यु (सन् १८८५ ई०) तक, अपवाद छोड़कर बिलकुल अलग चलती रहीं। श्रीधर पाठक ने सन् १८८६ में 'एकान्तवासी योगी' की रचना करके यह परम्परा तोड़ी। सन् १८८८ में अयोध्याप्रसाद खत्री ने 'खड़ी-बोली आन्दोलन' नाम की एक पुस्तिका छपाई जिसमें उन्होंने यह सम्मति प्रकट की कि ब्रजभाषा और अवधी की रचनाएँ हिन्दी की नहीं हैं। हिन्दी की कविता हिन्दी में होनी चाहिए। इस प्रश्न को लेकर दो दल बन गये। श्रीधर पाठक, अयोध्याप्रसाद खत्री और महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी (खड़ी-बोली) का पक्ष लिया। प्रतापनारायण मिश्र, राय देवीप्रसाद पूर्ण आदि ब्रजभाषा की हिमायत लेकर उठे। मनोरंजक बात यह है कि खड़ी-बोली हिन्दी के पक्षधर ब्रजभाषा में भी कविताएँ लिखते थे और ब्रज-

---

१. इस वक्तव्य में अनेक भ्रान्त स्थापनाएँ हैं। पहला शब्द ही भ्रम में डालता है। 'भारत' शब्द का प्रयोग बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने या तो औपचारिक रीति से किया है, या हिन्दी-भाषी क्षेत्र को ही वे समग्र भारत समझ बैठे हैं। अन्यथा 'भारत में अब कवि नहीं' वे न लिखते। मिर्ज़ा ग़ालिब की मृत्यु हाल ही में हुई थी (सन् १८६६ ई०) और यद्यपि इक़बाल का रचनाकाल किंचित् बाद में शुरू हुआ (सन १८६८ ई०), तो भी 'दाग़', 'हाली', 'अकबर' इलाहाबादी तो उस समय जीवित ही थे, और बेहद लोक-प्रिय थे। उधर बंगाल में माईकेल मधुसूदन दत्त की रचनाएँ युगान्तर उपस्थित कर चुकी थीं, हेमचन्द्र और नवीनचन्द्र सेन के महाकाव्य और देश-प्रेम से ओतप्रोत काव्य-ग्रन्थ सामने आ चुके थे और साहित्य-गगन में स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर का उदय हो चुका था। सन् १८७५ में रवीन्द्र की प्रारम्भिक कविताओं का संग्रह 'वनफूल और प्रलाप' के नाम से छपा था, फिर १८८० में 'बाल्मीकि प्रतिभा'—संगीत-नाटक, १८८१ में 'भग्न-हृदय' कविताओं का संग्रह, १८८२ में 'काल-मृगया'—गीति-नाटक आदि रचनाओं के प्रकाशित होने का धारावाहिक क्रम शुरू हो गया था और यह सब पराधीन देश में ही। पराधीन देश में ही कबीर, सूर, तुलसी और मीरा ने कविता की। अपनी अ-प्रतिभा और अपनी अ-कविता के लिये देश की पराधीनता में औचित्य खोजना एक समाजशास्त्रीय प्रवंचना को जन्म देना है। किन्तु विचारों के इस कच्चेपन के होते हुए भी बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने अपने समय के लेखकों की तुकबन्दियों को तुकबन्दियाँ ही स्वीकार करके जो ईमानदारी दिखाई वह आज के लेखकों के लिए भी अनुकरणीय है।

भाषा के पक्षपाती खड़ी-बोली में। फिर भी दोनों ओर से पत्र-पत्रिकाओं में ऐसा जमकर वाग्युद्ध चला कि एक समय तक और सब प्रसंग फीके पड़ गये। अपने जन्म-काल में ही पत्रकारों और प्रचारकों के नेतृत्व के कारण हिन्दी-साहित्य को कितने ग़लत विचारों और संकीर्ण भावनाओं का भार वहन करना पड़ा है, यह स्वयं अपने आप में स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है। जो भी हो, इन सार्थक-निरर्थक बहसों के बीच श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने हिन्दी काव्य-धारा का सूत्रपात किया। तीनों ही साधारण प्रतिभा के कवि थे, लेकिन इनमें नाथूराम शंकर (सन् १८५९–१९३२ ई०) का महत्व इसलिए है कि उन्होंने खड़ी-बोली में अतिशयोक्तियों से भरे रीतिकालीन ढर्रे के शृंगार-प्रधान कवित्त रचकर यह सिद्ध कर दिया कि भाषा पर अधिकार हो तो हिन्दी में भी ब्रजभाषा जैसा शब्द-चमत्कार पैदा किया जा सकता है। उदाहरण के लिए—

तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी
मंगल मयंक मन्द मन्द पड़ जायेंगे।
मीन बिन मारे मर जायेंगे सरोवर में,
डूब-डूब 'संकर' सरोज सड़ जायेंगे॥
चौंक-चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायेंगे।
बोलो इन अंखियों की होड़ करने को अब
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायेंगे॥

नाथूराम शंकर शर्मा की कविताओं में अनुभूति का योग नहीं है, केवल चमत्कार-प्रदर्शन की स्थूल भावना है। वे वस्तुतः पुरानी रीतिकाव्य-परम्परा के ही कवि हैं, भेद केवल इतना है कि उन्होंने ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी-बोली हिन्दी में लिखा। इसीलिए छायावाद-युग जहां इतिवृत्तात्मक पद्य-रचना की परम्परा को पीछे छोड़कर आगे बढ़ चला, वहां इस तरह की चमत्कार-प्रधान संवेदन-शून्य कविताओं को भी उसने पीछे छोड़ दिया। नाथूराम शंकर शर्मा सन् १९३२ तक जीवित रहे, लेकिन काव्यक्षेत्र में उनकी प्रतिभा युग का साथ न दे सकी। यही हाल एक सीमा तक श्रीधर पाठक और उनके अनन्तर आने वाले इतिवृत्तात्मक पद्य-प्रबन्धों, मुक्तकों या खण्ड-काव्यों की रचना करने वाले कवियों का हुआ। प्रथम महायुद्ध के अन्त तक ही वे पाठकों की रुचि का रंजन कर पाये, यद्यपि उनमें से अधिकांश कवि छायावाद-युग में भी लिखते रहे। प्रतिभावान् कवियों का हिन्दी-गगन में उदय होते ही उनका प्रकाश मन्द पड़ता गया। लेकिन इनकी इतिवृत्तात्मक, यथा-तथ्य वर्णन-प्रधान रचनाएं प्रवृत्यात्मक दृष्टि से छायावाद की ही पूर्वगामिनी हैं, उनमें स्वच्छन्दतावादी भावना के पूर्व-चिह्न प्रकट हैं। श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि इस प्रकार 'छायावादी-युग' की आदि-कड़ी हैं।

श्रीधर पाठक (१८५९-१९२८ ई०) ने सन् १८८६ में लावनी की शैली पर हिन्दी में अंग्रेज़ी की प्रथम स्वच्छन्दतावादी धारा के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ के हरमिट (Hermit) का 'एकान्तवासी योगी' और फिर 'श्रांत पथिक' के नाम से ट्रेवलर (Traveller) का अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त लौंगफेलो और पारनेल की कृतियों के अनुवाद भी उन्होंने किये। साथ ही हिन्दी में उन्होंने स्वतन्त्र प्रकृति-वर्णन की ओर पहली बार ध्यान दिया। ब्रजभाषा की रीति-काव्य-परम्परा में प्राकृतिक-दृश्यों के प्रति मनुष्य का सहज अनुराग प्रकट नहीं हुआ। 'षट्-ऋतु-वर्णन'

आदि में परम्परा-विहित ढंग से प्राकृतिक दृश्यों, पेड़-पौधों, फूल, पशु-पक्षियों आदि का उल्लेख केवल नायक-नायिका के भावों का 'उद्दीपन' कराने-भर के लिये होता था। वाह्य-प्रकृति के चिर-संसर्ग में चलने वाले मनुष्य के नाना कार्य-व्यापारों का पुराने ब्रजभाषा-काव्य में कोई संकेत ही नहीं मिलता, इसलिए संस्कृत-काव्यों की तरह प्रकृति के वस्तु-व्यापारों को काव्य का स्वतन्त्र आलम्बन बनाने या पाश्चात्य परम्परा के अनुसार 'प्रकृति के नाना-रूपों के बीच व्यंजित होने वाली भावधारा का सुन्दर उद्घाटन' करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। श्रीधर पाठक ने हिन्दी और ब्रजभाषा दोनों में समान रूप से स्वतन्त्र प्रकृति-वर्णन किया, और ब्रजभाषा में कालिदास के 'ऋतुसंहार' का अत्यन्त सरस काव्यमय अनुवाद भी। ब्रजभाषा में ही उन्होंने गोल्डस्मिथ के 'डिज़र्टेड विलेज' (Deserted Village) का 'ऊजड़ ग्राम' के नाम से अनुवाद किया। हिन्दी के प्रथम और एक सीमा तक समर्थ कवि की भाव-धारा को गोल्डस्मिथ और कालिदास में सहज आधार क्यों मिला, यह विचारणीय है। गोल्डस्मिथ अठारहवीं शताब्दी (सन् १७२८-७४ ई०) का लेखक है। सेम्युअल रिकार्डसन, हेनरी फील्डिंग, स्टर्न और गोल्डस्मिथ अठारहवीं शताब्दी—अंग्रेजी-साहित्य के उन श्रेष्ठ लेखकों में से हैं जिन्हें हम उन्नीसवीं शताब्दी के स्वच्छन्दतावाद और यथार्थवाद इन दोनों महान् साहित्य-धाराओं के हरकारे कह सकते हैं। इनकी रचनाओं में, विशेषकर गोल्डस्मिथ के काव्य-ग्रंथ 'हर्मिट' और 'डिज़र्टेड विलेज' में, उसके उपन्यास 'दी विकार ऑफ वेकफील्ड' में और नाटक 'शी स्टूप्स टू कॉन्कर' में अंग्रेजी जीवन के यथार्थ, उसके सहज हास्य-विनोद, संयम, उदात्त भावना, नैतिक आचरण और मानववाद का हम विशद चित्रण पाते हैं, जिसने गोल्डस्मिथ के बाद जेन आस्टिन, सर वाल्टर स्काट, चॉर्ल्स डिकेन्स और थेकरे को अंग्रेज़ी जीवन की सरलता, सहृदयता और आदर्शवादिता मिश्रित यथार्थ चित्र अंकित करने की प्रेरणा दी। दूसरी ओर गोल्डस्मिथ की रचनाओं में उसकी अपनी आत्मा भी झलकती है। राग-सम्बन्धों और जीवन-आदर्शों से समन्वित लेखक का व्यक्तित्व उसकी भावुकता में से झलक पड़ता है। उसके अन्तस् की भाव-धारा स्वच्छन्दतावाद की ओर ऊर्ध्वगमन करती दीखती है। नागरिक समाज के कृत्रिम और आडम्बरपूर्ण वातावरण की अपेक्षा ग्राम्य-जीवन की सरलता के प्रति उसके मन का सहज अनुराग है। उसने अपनी रचनाओं में ग्राम्य-जीवन और भद्र-समाज के शिष्टाचारों से अनभिज्ञ रुक्ष और गँवार, किन्तु आत्मीय, सरल और सहृदय ग्रामीणों के अनेक चित्र अंकित किए हैं। गोल्डस्मिथ ने प्रकृति-प्रेम और प्रकृत-जीवन का काव्यादर्श सामने रखा। नवोत्थित पूँजीवाद की नागरिक सभ्यता के प्रति यह भावुकतामयी मध्यम वर्गीय प्रतिक्रिया थी। ये तत्व अगली शताब्दी की स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा में एक नया जीवन-दर्शन लेकर विकसित हुए। इस प्रकार गोल्डस्मिथ और प्रकृति और मानव-स्वभाव के अनन्य कवि कालिदास की कृतियों में अपनी भाव-धारा के प्रकाश के लिए आधार खोजने का अर्थ है कि श्रीधर पाठक अपनी अन्तश्चेतना में काव्य और जीवन के आदर्शों में आसन्न परिवर्तनों का अनुभव कर रहे थे। उनमें स्वयं इतनी समर्थ प्रतिभा नहीं थी कि इन परिवर्तनों को कल्पना के योग से मूर्त्त अभिव्यक्ति दे सकते, इसलिए उन्होंने उनका आश्रय खोजा, जिनकी रचनाओं में उन्हें अपने हृदय की गूँज सुनाई दी। हिन्दी और ब्रजभाषा में उन्होंने स्वयं अपनी अनभूति से जो कुछ लिखा वह भी ब्रज, अवधी, राजस्थानी या मैथिली आदि हिन्दी भाषा समूह की परम्परागत कविता में एक नया स्वर था—प्रकृति-प्रेम और साधारण जन-जीवन का चित्रण :—

"बीता कातिक मास शरद् का अन्त है,
लगा सकल सुख-दायक ऋतु हेमन्त है।

ज्वार बाजरा आदि कभी के कट गये,
खल्यान के काम से किसान निबट गये।
थोड़े दिन को बैल परिश्रम से थमे,
रब्बी के लहलहे नये अंकुर जमे।
ज़मीदार को मिली उगाही खेत की,
मूल ब्याज सब दैन महाजन की चुकी।
उसके घर आनन्द हर्ष सुख मच रहा,
जिनका कुछ नहीं बचा, काम को टो रहे,
किस्मत को दे दोष बैठ घर रो रहे।
खाने भर को जिस किसान को बच रहा॥
ख़रीफ़ के खेतों में अब सुनसान है,
रब्बी के ऊपर किसान का ध्यान है।
जहाँ तहाँ रहट परोहे चल रहे,
बरहे जल के चारों ओर निकल रहे।
जौ गेहूँ के खेत सरस सरसों घनी,
दिन-दिन बढ़ने लगी विपुल शोभा सनी।
सुन्दर सौंफ़ सुन्दर कसूम की क्यारियाँ,
सोआ, पालक आदि विविध तरकारियाँ।
अपने अपने ठौर सभी ये सोहते,
सुन्दर शोभा से सबका मन मोहते...[1]

(श्रीधर पाठक, 'हेमन्त')

---

१. स्मरण रहे कि 'एकान्तवासी योगी' (गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' का अनुवाद) सन् १८८६ में प्रकाशित हो गया था और 'हेमन्त' कविता उसके एक वर्ष बाद की रचना है। उनकी मौलिक कविता में तुकबन्दी की साधारणता और अनूदित कविता में शैली की प्रौढ़ता और सरसता का अन्तर द्रष्टव्य है।

दूर एक जंगल में जिसका नहीं जगत को कुछ भी ध्यान।
बाल्य वयस से बसा हुआ था वृद्ध एक योगी सुज्ञान॥
घास पात था बिस्तर उसका, दीन गुफ़ा सुखवासस्थान।
कन्दमूल स्वादिष्ट मिष्टफल विमल कूपजल भोजन पान॥
जग से अलग अचिंतित निसदिन करे मगन ईश्वर का ध्यान।
एक भजन ही काम उसे, आनंद, सदन भगवत गुनगान॥

('एकान्तवासी योगी' से)

साथ ही, सन् १८८४ में ब्रजभाषा में लिखी उनकी मौलिक कविता 'मेघागमन' का भी मिलान कीजिए :—

नाना कृपान निज पानि लिए, वपु नील वसन परिधान किए,
गंभीर घोर अभिमान हिए, छकि पारिजात-मधुपान किए

यहाँ प्रकृति-दृश्य अपनी इयत्ता खोकर किसी नायिका की सुन्दरता के उपमान बने नहीं खड़े हैं, न युगल-प्रेमियों के प्रणय-विलास में उद्दीपन का सरंजाम कर रहे। यहाँ सिर्फ हेमन्त-ऋतु-कालीन किसान-जीवन और ग्राम्य दृश्य का यथातथ्य, पद्यात्मक वर्णन है। किन्तु इसमें एक नया स्वर है, वास्तविक जीवन का रुक्ष संस्पर्श है और कवि की सहानुभूति के प्रसरण के लिए नया क्षेत्र है। इसमें छायावाद के बीज हैं, लेकिन इतिवृत्तात्मक, वर्णन-प्रधान काव्य का तो यह आरम्भिक रूप है। आगे चलकर श्रीधर पाठक की हिन्दी कविताओं में भी परिष्कृति और चुस्ती आ गई, लेकिन अनुभूति में अधिक गहराई न आ पाई।

हम ऊपर कह चुके हैं कि काव्य की भाषा के सम्बन्ध में खड़ी-बोली बनाम ब्रजभाषा का विवाद छिड़ते ही लेखक दो दलों में बँट गये थे और श्रीधर पाठक, अयोध्याप्रसाद खत्री और महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी का पक्ष लेकर उठ खड़े हुए। अयोध्याप्रसाद खत्री कवि नहीं थे, महावीरप्रसाद द्विवेदी थोड़े-थोड़े कवि भी थे, किन्तु और बहुत-कछ थे। छायावाद-युग के पूर्ण प्रसार तक वे हिन्दी-कवियों के प्रेरक, पथ-प्रदर्शक और नेता रहे। सन् १९०३ में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' (प्रयाग) पत्रिका का संपादन-कार्य संभाला। उस समय तक हिन्दी का साहित्यिक रूप स्थिर न हो पाया था। गद्य-लेखक व्याकरण की भूलों, विषय-प्रतिपादन की शिथिलता और अव्यवस्था पर ध्यान ही न देते थे। कविगण खड़ी-बोली में ब्रजभाषा और अवधी के शब्दों और क्रियाओं का प्रयोग मनमाने ढंग से करते थे। द्विवेदी जी ने भाषा-संस्कार का आन्दोलन छेड़ दिया। गौरीशंकर मिश्र, कामता प्रसाद गुरु और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने इस कार्य में उनका हाथ बँटाया। उन्होंने विषयानुरूप गद्य-शैली का आदर्श सामने रखा। कविता के क्षेत्र में उन्होंने कोई नया आदर्श नहीं रखा। श्रीधर पाठक ने इतिवृत्तात्मक, या यथातथ्य वर्णनात्मक (नैचुरलिस्टिक) शैली का प्रयोग किया था, यद्यपि उनकी भावना या प्रवृत्ति कुछ-कुछ स्वच्छन्दतावादी थी। द्विवेदी जी ने भी इस शैली को ही प्रोत्साहन दिया। बँगला की कोमल-कान्त पदावली की अपेक्षा मराठी की इतिवृत्तात्मक शैली उनके मन के अधिक अनुकूल थी। उनकी स्वयं अपनी लिखी कविताओं का अधिक महत्व नहीं है, किन्तु उन्होंने अपने संपादनकाल में जिन उदीयमान कवियों का मार्ग-प्रदर्शन किया उनकी कृतियों से हिन्दी-कविता गौरवशाली हुई है। पूर्व-छायावाद-युग के कवियों में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', गयाप्रसाद-शुक्ल 'सनेही' और मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-प्रतिभा अपने पूर्णविकास के लिए इतिवृत्तात्मक शैली की शुष्क-नीरस सीमाओं का अतिक्रमण करके युग-जीवन की व्यापक समस्याओं का काव्यो-

---

छिन छिन पर जोर मरोर दिखावत, पल पल पर आकृति-कोर झुकावत
बनराह बाट श्यामता चढ़ावत, वैधव्य बाल वामता वढ़ावत
यह मोर नचावत, सोर मचावत, स्वेत स्वेत वग पाँति उड़ावत ॥
सीतल सुगन्ध सुन्दर अमंद, नन्दन प्रसून मकरन्द विन्द
मिश्रित समीर बिन धीर चलावत
अँधियार रात, हाथ न दिखात, बिन नाथ बाल विधवा डरात
तिन के मन मंदिर आग लगावत
छिन गर्जि गर्जि पुनि लर्जि लर्जि निज सेन सिखावत तर्जि तर्जि
दुन्दुभि धरनि आकाश लचावत
मल्लार राग गावत विहाग, सुख पावत आवत मेघ महावत

चित चित्रण करने की ओर उन्मुख हुई। छायावादी-युग में भी इस मार्ग पर चलने वाले अनेक प्रतिभाशाली कवि सामने आये, जिनमें से माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, गोपालशरणसिंह, गुरुभक्तसिंह भक्त, सियारामशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' और श्यामनारायण पाण्डे के नाम उल्लेखनीय हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और सुभद्राकुमारी चौहान के अतिरिक्त, सौभाग्य से, ये सभी कवि जीवित हैं और उनका रचना-क्रम जारी है।

मैथिली शरण गुप्त की 'कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति' का उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया है। किन्तु यह बात न्यूनाधिक रूप में वर्णनात्मक शैली के उपरोक्त सभी कवियों पर लागू होती है। काव्य-क्षेत्र में ये किसी 'वाद' से बंधकर नहीं चले, यद्यपि गांधीवाद का सर्वाधिक प्रभाव इनकी विचारधारा पर पड़ा है। ग़ालिब के शब्दों में इन सब कवियों की स्थिति कुछ ऐसी रही है—

चलता हूँ थोड़ी दूर हरइक तेज़ रौ के साथ।
पहचानता नहीं हूँ अभी राहबर को मैं॥

इस बीच राष्ट्रीय आन्दोलन में जो उतार-चढ़ाव आये, राष्ट्रीय-चेतना में जितनी विचार-धाराएं आकर मिलीं उन सब की अनुगूंज इनकी कविता में मिलती है, साम्प्रदायिक संकीर्णता और समाज-सुधार की भावना से आगे बढ़कर इनका मानव-प्रेमी हृदय दलित-पीड़ित किसान-मजदूरों के आर्तनाद या शंखनाद या दोनों को सुनने में समर्थ हुआ है। राष्ट्रीय-संग्राम में इन्होंने अपनी उद्बोधनात्मक वाणी से योग दिया है। अतीत के गौरव-गान गाकर इन्होंने जनता में स्वाभिमान जगाया है। इनकी कविता में भारतेन्दुकालीन या द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मक कविता की शुष्कता नहीं है, बल्कि विषयानुकूल काव्योचित लालित्य, सरसता और ओज भी है, यद्यपि शैली मूलतः वर्णनात्मक ही है। आवश्यकतानुसार इन कवियों ने संस्कृत वृत्तों में भी कविता की और हिन्दी के मात्रिक छन्दों में भी और छायावादी कविता से प्रभावित होकर अतुकान्त और छन्द-मुक्त कविता भी लिखी है। इन्होंने प्रबन्ध-काव्य, खण्ड-काव्य और प्रगीत-मुक्तकों की भी रचना की है। विशेषकर अपने गीतों में इनमें से अधिकांश ने छायावाद की देखा-देखी लाक्षणिक व्यंजना और अप्रस्तुतों की योजना भी करनी चाही है, लेकिन इस तरह के प्रयोग बहुत सफल नहीं हुए। उनकी अन्तःप्रकृति और काव्य-मनोभूमि से छायावादी शैली का पूरा मेल नहीं बैठता, लगता है जैसे यत्न-साध्य ऊपर से ओढ़ा हुआ परिधान है, अन्तर्भाव को प्रकट करने के लिए अभिव्यक्ति का स्वाभाविक रूप-प्रकाश नहीं। उनकी दृष्टि मूलतः बहिर्मुखी है, इसलिए राष्ट्र-जीवन की सम-सामयिक हलचलों में निरन्तर रमती चली आई है, अन्तर्मुखी होकर व्यक्ति-चेतना की अगम गहराइयों में नहीं उतर पायी। विशेषकर लोक-प्रचलित पौराणिक आख्यानों, इतिहास वृत्तों और देश की राजनीतिक घटनाओं से इन्होंने अपने काव्य की विषय-वस्तु को सजाया है, इन आख्यानों, वृत्तों और घटनाओं के चयन में उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति, देशानुराग और सत्ता के प्रति विद्रोह का स्वर मुखर है। यह एक प्रकार से राजनीति में राष्ट्रीय आन्दोलन और काव्य में स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति के बीच पलने और बहने वाली कविता की बहिर्मुखी धारा है, जिसने हिन्दी-भाषी जनता को आधुनिक जीवन के व्यक्ति-समाज-सम्बन्धी गहरे तात्विक प्रश्नों के प्रति नहीं, तो राजनीतिक पराधीनता और राष्ट्रीय संघर्ष की आवश्यकता के प्रति सचेत बनाने में बहुत बड़ा काम किया है। स्थूलस्वरूप से इस धारा को राष्ट्रीय-धारा कह सकते हैं, लेकिन छायावादी कविता भी अ-राष्ट्रीय नहीं है। एक ही जीवन-वास्तव की ये स्थूल और सूक्ष्म, बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी प्रतिक्रियाएँ हैं। बल्कि छायावादी

कवियों ने आधुनिक जीवन के केन्द्रीय प्रश्नों को उठाकर राष्ट्रीय-चेतना में गहरी अन्तर्दृष्टि पैदा की है। सामान्यतः ये बातें इस समूची धारा के बारे में कही जा सकती हैं, किन्तु हर कवि का व्यक्तित्व, प्रतिभा, कृतित्व और शैली का अपना वैशिष्ट्य है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय (सन् १८६५-१९४१ ई०) भारतेन्दु के जीवन-काल में ही कविता करने लगे थे, किन्तु उस समय वे ब्रजभाषा में लिखते थे। सन् १८८२ में उन्होंने 'श्रीकृष्ण शतक' की सत्रह वर्ष की अवस्था में रचना की, जिसमें सौ दोहे संग्रहीत हैं। इसके अनन्तर सन् १९१४ में 'प्रिय-प्रवास' के प्रकाशित होने तक वे ब्रजभाषा में ही काव्य-रचना करते रहे। सभी रचनाएँ कृष्ण-सम्बन्धी थीं, जिनमें कहीं कृष्ण को परब्रह्म के रूप में, तो कहीं मानव-रूप में चित्रित किया गया था। 'खड़ी-बोली आन्दोलन' के प्रभाव में आकर उन्होंने 'प्रिय-प्रवास' की रचना के पूर्व भी हिन्दी में कभी-कभी कुछ लिखा था, लेकिन बहुधा उर्दू के छन्दों और ठेठ बोली में ही। 'प्रिय-प्रवास' हिन्दी का पहला महाकाव्य है। इसमें उपाध्यायजी ने आद्यान्त संस्कृत के वर्ण-वृत्तों का प्रयोग किया है। शैली वर्णनात्मक है, जिसमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावों की व्यंजना हुई है। आचार्य शुक्ल का मत है कि "इसकी कथा-वस्तु एक महाकाव्य क्या अच्छे प्रबन्ध-काव्य के लिए भी अपर्याप्त है। अतः प्रबन्ध-काव्य के सब अवयव इसमें कहाँ आ सकते।" हमारा मत शुक्ल जी के मत से किंचित् भिन्न है। यह ठीक है कि महाकाव्य होने के लिए काव्य-वस्तु भी इतनी विशाल होनी चाहिए कि उसमें जीवन का सर्वांगीण चित्रण हो सके। लेकिन 'प्रिय-प्रवास' की संक्षिप्त कहानी—कृष्ण का ब्रज से मथुरा को प्रवास और फिर लौट कर आना—और उसकी काव्य-वस्तु दो भिन्न चीजें हैं। रूढ़ि-रीति-ग्रस्त दृष्टि के कारण ही यह भेद ऊपर से दिखाई नहीं देता। 'हरिऔध' जी की विशेषता यह है कि उन्होंने इस छोटी-सी कहानी के भीतर ही कृष्ण-जीवन का पूरा वृत्त और उसके माध्यम से समाज के विविध अंगों, समस्याओं आदि को झलका दिया है। कृष्ण के चले जाने पर ब्रजवासियों में कृष्ण-सम्बन्धी चर्चाएँ चलती हैं, ऊधो के आगमन पर छः महीने तक कृष्ण की बाल-लीलाएँ और ब्रज की जनता की रक्षा के निमित्त किये गये कार्य-कलाप और ब्रज की स्मृतियाँ मुखर हो उठती हैं। इस प्रकार काव्य-वस्तु केवल कृष्ण के प्रवास-प्रसंग तक ही सीमित नहीं है। यदि और भी सूक्ष्मता से देखा जाय तो प्रबन्ध-रचना और यथार्थ-चित्रण की पद्धति का मनोरम रूप प्रिय-प्रवास में व्यक्त हुआ है—सीधे-साधे एक छोर से दूसरे छोर तक ब्यौरेवार कहानी का वर्णन करने की अपेक्षा केन्द्रीय प्रसंग से आगे-पीछे हटकर स्मृति और कांक्षा के योग से जो कहानी कही जाती है, वह अधिक मनोवैज्ञानिक भी होती है और जीवन के विविध अन्तर्सम्बन्धों और अन्तर्सूत्रों को भी उद्घाटित करने में अधिक समर्थ होती है। इसलिए वस्तु-योजना का इस महाकाव्य में काफी संश्लिष्ट और विशद रूप मिलता है। यह ठीक है कि संस्कृत के वर्णवृत्तों और बंगला की कोमल-कान्त-पदावली के कारण शैली जितनी सरस है, उतनी ही बोझिल और गतिहीन भी।

'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण अपने शुद्ध-मानव रूप में, विश्व-कल्याणकार्य में निरत एक जन-नेता के रूप में अंकित किये गये हैं। आचार्य शुक्ल ने 'साकेत' की आलोचना करते हुए यकायक सूत्र-रूप में एक भयंकर पुराणपन्थी बात कही है, जो न जाने क्यों 'प्रिय-प्रवास' के प्रसंग में कहना वे भूल गये। उन्होंने लिखा है—"किसी पौराणिक वा ऐतिहासिक पात्र के परम्परा से प्रतिष्ठित स्वरूप को मनमाने ढंग पर विकृत करना हम भारी अनाड़ीपन समझते हैं।" लेखक और कलाकार को यदि परम्परा से इतना बँध कर चलने की बाध्यता हो तो पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यानों

और पात्रों को अंकित करने की सार्थकता ही न रह जाय। कोई सच्चा कलाकार अनुकृति नहीं रचता। किसी विषय-वस्तु के द्वारा यदि वह अपने युग की केन्द्रीय समस्याओं का उद्घाटन नहीं कर सकता, यदि नये सत्य को झलका नहीं पाता तो केवल पुनरावृत्ति के लिए उस पर कलम या तूलिका नहीं उठाता। यह सामान्य नियम है। वाल्मीकि रामायण में राम का मानव-चरित्र अंकित हुआ है, किन्तु तुलसीदास ने उन्हें मर्यादा-पुरुषोत्तम बना दिया है। इनमें से राम के किस रूप को परम्परा से प्रतिष्ठित माना जाय ? यदि वाल्मीकि के राम को, तो तुलसीदास का 'भारी अनाड़ीपन' शुक्ल जी को क्यों नहीं खला ? या अलौकिक से लौकिक बनाने में ही 'मनमाने ढंग पर विकृत' करने का लांछन लगता है ? राधा का ही परम्परा से प्रतिष्ठित कौन-सा रूप है ? जयदेव की विलासिनी, प्रेम-विह्वला राधा; विद्यापति की यौवनोन्मत्त मुग्धा नायिका जैसी राधा; चण्डीदास की परकीया नायिका जैसी राधा; सूरदास की मर्यादा-संतुलित नागरी राधा; नन्ददास की तार्किक राधा या रीतिकाल की उच्छृंखल, अल्हड़ किशोरी राधा—इनमें से राधा का कौनसा-रूप परंपरा प्रतिष्ठित माना जाय ? क्या हर युग के कवियों ने अपने जीवनादर्शों के अनुकूल 'राधा' की कल्पना नहीं की ? अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी हिन्दी को एक नई 'राधा' दी--आधुनिक युग की प्रबुद्ध नारी के रंग में रंगी। वस्तुतः 'प्रिय-प्रवास' में उन्होंने समय से पहले ही राष्ट्र-जीवन की एक केन्द्रीय समस्या की पूर्व-झलक दे दी है और उसका आदर्शवादी, अतः स्थूल समाधान भी उपस्थित किया है—इस समस्या को बाद में एक गंभीर मनोवैज्ञानिक समस्या के रूप में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और अभी कुछ दिन पहले जैनेन्द्रकुमार ने अपने उपन्यासों 'घर और बाहर' तथा 'सुखदा' में उठाया। 'प्रिय-प्रवास' में इस समस्या की प्रारम्भिक झलक हमें मिली। समस्या है स्थानीय और सार्वदेशिक, व्यक्तिगत और सकल मानवगत हितों,राग-सम्बन्धों के वैषम्य और परस्पर समन्वय की। स्वच्छन्दता-वाद का यह पहला रूप है, जब व्यक्तिवादी चेतना इतनी मुखर नहीं हुई कि व्यष्टि और समष्टि के हितों में दुर्निवार वैषम्य दीखे और अत्यन्त जटिल मनोवैज्ञानिक समस्याएँ पैदा हो गई हों। आदर्श-वादी ढंग से दोनों में समन्वय अभी सम्भव है। लेकिन उससे दोनों का अस्तित्व नहीं मिट जाता, और इसकी स्वीकृति ही ऐसी करुणाजनक स्थिति पैदा कर देती है, जो काव्य-वस्तु का आधार बन सकी। राष्ट्रीय संघर्ष को आगे बढ़ाने और देश की प्रगति में हाथ बँटाने के लिए प्रबुद्ध जनों को अपने घर-बार छोड़कर देश के कोने-कोने में अलख जगाते फिरना होगा, किन्तु अपने प्रियजनों का मोह, क्या इस साधना को विफल नहीं कर देगा, प्रिय-जन इस वियोग को सहन कर सकेंगे ? क्या स्त्रियाँ, प्रेमिकाएँ भी इस अनुष्ठान में योग दे सकेंगी ?—यह हमारे राष्ट्रीय-जागरण और संघर्ष की ही समस्या थी। इसी समस्या को मूर्त्त काव्य-रूप देने के लिए उपाध्याय जी ने ब्रज से कृष्ण-प्रवास का मार्मिक प्रसंग चुना, और बिना किसी प्रकार का 'अनाड़ीपन' किये उसके माध्यम से युग-जीवन की यह केन्द्रीय समस्या झलका दी। कृष्ण मथुरा गये और विश्व-कल्याण और राजनीति की समस्याओं में इतने उलझे कि लौटकर वापस न आ सके, लेकिन उनका हृदय ब्रजभूमि में ही रमा रहा। उद्धव के समझाने पर ब्रजवासियों को कृष्ण के बाहर रहने की अनिवार्यता समझ में आ गई और विरह-विदग्ध राधा ने चिर कौमार्य का व्रत धारण कर लोक-सेवा के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया।

उपाध्याय जी की अन्य रचनाएँ इस कोटि की नहीं बन पड़ीं। उनके दूसरे महाकाव्य 'वैदेही-वनवास' में भी लोक-संग्रह की यही भावना व्याप्त है, लेकिन उसमें उन्होंने कोई नई भूमि नहीं नापी। चोखे और चुभते चौपदों में भाषा-प्रयोग का चमत्कार कहीं-कहीं जरूर मिल जाता है, लेकिन

उतना ही पर्याप्त नहीं है।

मैथिलीशरण गुप्त (सन् १८८६) हिन्दी के राष्ट्र-कवि के रूप में विख्यात हैं। सन् १६०७ से ही आपकी कविताएँ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' में छपने लगी थीं। उन दिनों बोल-चाल की भाषा में लिखी इतिवृत्तात्मक कविताओं का ही जोर था। गुप्त जी ने भी इस शैली में लिखना आरम्भ किया। सन् १६१० में इनका 'रंग में भंग' नाम का एक छोटा-सा प्रबन्ध-काव्य छपा, लेकिन सब से पहले इनकी कीर्ति 'भारत-भारती' के कारण फैली। यह मौलाना हाली के 'मुसद्दस' के ढंग पर लिखी गई थी। मौलाना हाली ने मुसद्दस की रचना करके मुसलमानों में जाग्रति फैलाई थी। गुप्त जी ने भी 'भारत-भारती' में हिन्दुओं के अतीत वैभव और गौरव की अपेक्षा में वर्तमान हीन-दशा का वर्णन करके हिन्दू-जनता को उदबुद्ध करना चाहा। काव्य की मर्म-बोधिनी रसात्मकता न रहने पर भी यह पुस्तक उस समय हिन्दू-युवकों में बहुत लोक-प्रिय हुई। इसमें साम्प्रदायिक संकीर्णता और अंग्रेज़ी-राज्य के प्रति भक्ति और प्रशंसा के भाव भी मिलते हैं, जो भारतेन्दु-कालीन दृष्टिकोण के अवशेष-चिन्ह समझने चाहिए। आगे चलकर गुप्त जी की दृष्टि अधिक व्यापक और उदार मानववादी हो गई।

उपाध्याय जी और इस धारा के अन्य कवियों की तरह गुप्त जी का दृष्टिकोण भी मूलतः आदर्शवादी और भावनामूलक है। वस्तून्मुखी मनोवैज्ञानिकता या गहरे संवेदनशील मर्मबोध की उनमें भी कमी है, इसलिए अगले काव्यग्रन्थों में, यद्यपि उनकी शैली का परिष्कार हो गया है और उन्होंने उत्कृष्ट काव्यों की भी रचना की है, लेकिन नई भाव-भूमियों का उद्घाटन करने वाली तल-स्पर्शी दृष्टि का विकास वे नहीं कर सके, जीवन के केवल गोचर-दृश्य का ही अंकन करते रहे।

'रंग में भंग' के बाद 'जयद्रथ-वध', 'गुरुकुल', 'किसान', 'पंचवटी', 'सिद्धराज' आदि आपके अनेक छोटे-छोटे प्रबन्ध-काव्य छपे, जिनमें से जयद्रथ-वध और पंचवटी को साहित्य-क्षेत्र में काफ़ी सम्मान मिला। इस बीच आप वर्षों तक अपने महाकाव्य 'साकेत' की रचना में संलग्न रहे, जो सन् १६३१ में प्रकाशित हुआ। 'साकेत' और उसके बाद 'यशोधरा' गुप्त जी की स्थायी कीर्ति के दो स्तम्भ हैं। 'साकेत' रचकर गुप्त जी ने महाकाव्यों की परम्परा में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। उपाध्यायजी की राधा कवियों की कभी उपेक्षिता नहीं रही,जयदेव से लेकर 'रत्नाकर' तक ने राधा के काव्य-चरित्र का अंकन किया था। लेकिन राम-काव्य की परम्परा के कविगण अयोध्या से बनगमन करते ही राम के साथ-साथ लंका तक तो भ्रमण कर आते थे, मगर अयोध्या और वहाँ के लोगों का ध्यान भी न लाते थे। विशेषकर लक्ष्मण से बियुक्त उर्मिला तो उपेक्षित ही रह जाती थी। गुप्त जी का भावनाशील कवि-हृदय राम के साथ वन-गमन को तत्पर नहीं हुआ, अयोध्या में ही रम रहा। इसलिए 'साकेत'; और साकेत के नायक भरत और नायिका उर्मिला हैं।

साकेत के राम वाल्मीकि के लोक-प्रतिनिधि, वीर-चरित और तुलसीदास के मर्यादा पुरुषोत्तम लीलावतारी राम से भिन्न हैं। वे एक सामान्य मानव हैं और अपनी मानवता के उत्कर्ष द्वारा ही ईश्वरत्व के अधिकारी हैं। भरत, उर्मिला, कैकेयी, सुमित्रा आदि सभी सामान्य मानव-प्राणी हैं। यद्यपि उनके व्यक्तित्व अलग-अलग और विशिष्ट हैं। हर पात्र के व्यक्तित्व की मर्यादा की रक्षा करते हुए गुप्त जी ने व्यक्तिवाद और समत्व की भावनाओं का समन्वय करने की चेष्टा की है। इसके साथ ही साकेत में तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलनों की अनु-

गूँज भी सुनाई देती है, जैसे उर्मिला द्वारा सैनिकों को अहिंसा की शिक्षा देना, प्रजा के अधिकारों की चर्चा, राम के वनगमन के अवसर पर अयोध्यावासियों का सत्याग्रह, विश्व-बन्धुत्व और मानव-वाद के आदर्शों की प्रतिष्ठा आदि। ये सामयिक घटनाओं के प्रभाव हैं, जो कवि ने काफ़ी सावधानी से ग्रहण किये हैं। साकेत में वर्णनात्मक और प्रगीतात्मक दोनों शैलियों का सम्मिश्रण है। पहले आठ सर्गों में राम के अभिषेक की तैयारी से लेकर चित्रकूट में भरत-मिलन तक, कथा-सूत्र वर्णनात्मक शैली में व्यवस्थित रूप से चलता है। इसके बाद नवें सर्ग में उर्मिला की वियोगावस्था की मनःस्थितियों का प्रगीतात्मक वर्णन है। कथा-सूत्र इस बीच थमा रहता है। दसवें सर्ग में उर्मिला अपने शैशवकालीन अतीत का स्मरण करती है। ग्यारहवें-बारहवें सर्गों में सहसा भरत के बाण से हनुमान के गिरने की घटना के पश्चात् अयोध्या के राज-परिवार के दैनिक-जीवन की झाँकी मिलती है और शत्रुघ्न और मांडवी के मुख से दण्डकारण्य से लेकर लंका तक की घटनाएँ सुनने को मिलती हैं। अन्त में, राम के वापस लौटने और लक्ष्मण-उर्मिला-मिलन से काव्य की समाप्ति होती है। इन अन्तिम चार सर्गों में, विशेषकर दो सर्गों में वस्तु-व्यापार का काव्योचित विकास नहीं हो पाया, जिससे काव्य में शिथिलता आ गई है। ऐसी और भी अनेक त्रुटियाँ दिखाई जा सकती हैं, किन्तु फिर भी समग्र रूप से साकेत एक श्रेष्ठ काव्य है और उसने आधुनिक महाकाव्यों की परम्परा का सूत्रपात किया है।

यशोधरा की रचना प्राचीन चम्पू के ढंग की है।। मार्मिक भावों की व्यंजना गीतों में है और कथा-सूत्र कहीं-कहीं गद्य में है। गुप्त जी ने लिखा है कि यशोधरा की ओर संकेत उर्मिला ने ही किया। बुद्ध यशोधरा को आधी रात के समय सोती छोड़ कर चले गये। उर्मिला के लिए अवधि का सहारा था, लेकिन यशोधरा के लिए वह भी नहीं था। उसे त्याग का गौरव भी नहीं मिल पाया। उपेक्षिता यशोधरा के मन की पीड़ा, उसकी समस्त आत्मा का उपालम्भ केवल इतना है कि वे उससे कहकर क्यों न गये :

जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से
दुखी न हों इस जन के दुख से—
उपालंभ दूँ मैं किस मुख से ?
आज अधिक वे भाते !
सखि वे, मुझ से कहकर जाते।

विरहिणी यशोधरा और कुमार राहुल का चरित्र-चित्रण इस काव्य में अत्यन्त करुणोत्पादक और मार्मिक हुआ है। प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त, मुख्यतः छायावाद के प्रभाव में गुप्त जी गीत-मुक्तकों की ओर भी झुके। साकेत के नवें सर्ग और यशोधरा के गीतों पर भी लाक्षणिक व्यंजना का प्रभाव दिखाई देता है। उनकी स्फुट कविताओं के संग्रह 'झंकार' और 'मंगल-घट' में विशेष रूप से इस शैली के गीत संकलित हैं।

इन दो महाकवियों के अतिरिक्त इस धारा में और अनेक प्रतिभा-सम्पन्न कवि योग देते आये हैं। गयाप्रसाद शुक्ल सनेही (जन्म १८८३ ई०) की सरल-कोमल और ओजस्वी कविताएं काफी लोक-प्रिय रही हैं। '*तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ*' की विनय-शील भावुकता के साथ-साथ उनमें '*जी न चुराओ रण से, समर सूरवत डटे रहो*' का उद्धत घोष भी है। माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' (जन्म १८८८ ई०) की कविता उनके कर्मठ राष्ट्र-सेवी जीवन की समतल पर चली है। उनके व्यक्तिवाद की परिणति देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में

बलिदान होने की भावना में हुई—"*मुझे तोड़ लेना बन माली ! उस पथ पर देना तुम फेंक। मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।*" रामनरेश त्रिपाठी (जन्म १८८९ ई०) के तीनों खंड-काव्य 'पथिक', 'मिलन' और 'स्वप्न' जो सन् ३० के राष्ट्रीय-आन्दोलन के दिनों प्रत्येक राष्ट्रप्रेमी युवकके कण्ठहार बने हुए थे, अभी तक विस्मृत नहीं हुए। इन प्रबन्ध-काव्यों में त्रिपाठीजी ने उपाध्याय जी या गुप्त जी की तरह पौराणिक आख्यानों या इतिहास के पात्रों को नहीं लिया, स्वयं अपनी कल्पना से उनके पात्रों की सृष्टि की। इनके अधिकतर पात्र उनकी देश-भक्ति-पूर्ण भावनाओं के प्रतीक बन कर सामने आते हैं। आदर्शोन्मुखी भावना-प्रधान शैली और भाव-भूमि के कारण ही वे सर्वांग-सजीव पात्रों की सृष्टि नहीं कर पाये, लेकिन युग की भावनाओं के साथ मिलकर उनकी भाषा और अभिव्यक्ति इतनी सजीव है कि सहज ही प्रभाव डालती है। स्थल-स्थल पर प्रकृति-चित्रण का भी भव्य-रूप देखने को मिलता है—"*प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग-बिरंग निराला। रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद् माला।*" तीनों काव्य देश-भक्ति की भावना से प्रेरित हैं। 'स्वप्न' में मनोवैज्ञानिक द्वंद्व भी मिलता है। प्रियतमा के प्रेम-साहचर्य का सुख और असंख्य पीड़ित जनों के आर्तनाद को सुनकर जाग्रत कर्तव्य-विवेक दोनों अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस तरह प्रेम और कर्तव्य के द्वन्द्व को लेकर चलने वाला यह काव्य राष्ट्रीय-आन्दोलन द्वारा उठाई समस्या को ही अत्यन्त मार्मिक ढंग से प्रतिबिम्बित करता है। ठाकुरगोपाल शरणसिंह (जन्म १८९१ ई०) की यह प्रार्थना अभी तक विस्मृत नहीं हुई—'*पृथ्वी पर ही मेरे पद हों, दूर सदा आकाश रहे*' और इस पृथ्वी पर ही खड़े होकर उन्होंने नारी को दुलहिन के सुहाग-भरे रूप में भी देखा और देवदासी, उपेक्षिता, अभागिनी, भिखारिनी, वीरांगना के समाज-विकृत अभागे रूप में भी। तभी '*तेरे दुःख की दुःख ज्वालाएं, मेरे मन में हैं छन्द हुईं*' का चीत्कार कवि के हृदय से निकल पड़ा। उन्होंने हिन्दी में ब्रजभाषा के छंदों का सफलता-पूर्वक प्रयोग किया और उनकी भाषा और शैली अत्यन्त सरस और मार्मिक है। सियारामशरण गुप्त (जन्म १८९५ ई०) करुण-भावना के कवि हैं। उनकी कविताओं में सात्विक और शान्त भाव प्रकट हुआ है, विचार-तल पर वे गांधीवाद, मानववाद और कुछ-कुछ रहस्यवाद से प्रभावित हैं, और अपनी कविताओं में इन विचार-जन्य अमूर्त्त भावनाओं की मंजूषा भी सजाते हैं। अनूप शर्मा इसके विपरीत हिन्दी में वीररस के कवि प्रसिद्ध हैं। आपने कवित्त छंद में हिन्दी को सुघरता से ढाला है। आरम्भ में आप ब्रज-भाषा के ही कवि थे, लेकिन फिर हिन्दी में लिखने लगे। ऐतिहासिक और सामाजिक सभी विषयों पर आपकी दृष्टि गई है। 'सुनाल' नाम के खंड'काव्य में अंकित कुणाल के चरित्र ने सबसे पहले लोगों का ध्यान आकर्षित किया। अठारह सर्गों के भीतर संस्कृत के शिखरणी, मंदाक्रांता, स्रग्धरा आदि वर्ण-वृत्तों में आपने बुद्ध-चरित को लेकर 'सिद्धार्थ' एक महाकाव्य भी रचा। इसके पश्चात् आपने और भी अनेक खण्ड-काव्य और फुटकर कविताएँ लिखी हैं। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान द्वारा उद्घाटित सृष्टि और जीवन-सम्बन्धी नये तथ्यों को भी आपने मार्मिक रूप में काव्योचित अभिव्यक्ति दी है। गुरु भक्तसिंह भक्त (जन्म १८९३ ई०) को लोग छायावाद की 'नई धारा' के कवियों में भी गिनते हैं, क्योंकि प्रकृति-चित्रण के लिए आप प्रसिद्ध हैं। लेकिन वस्तुतः आप पूरी तरह दोनों में से किसी एक धारा में नहीं खपते। आपके प्रबन्ध-काव्य 'नूरजहाँ' की स्मृति आज भी शेष है। सन् ३४-३५ के दिनों 'नूरजहाँ' उतनी ही लोक-प्रिय थी, जितना 'पथिक' और 'मिलन'। आपकी शैली प्रधानतः वर्णनात्मक है, और भाषा सरल और मुहावरेदार। लेकिन इस धारा की यशस्वी कवियित्री हैं दिवंगता सुभद्रा कुमारी चौहान (सन् १९०४-१९४७ ई०)। इनकी वर्णनात्मक शैली

में जो भाव-तन्मयता, ओजस्विता और प्रवाह है वह अन्यत्र दुर्लभ रहा। उनकी कविता के दो स्वर हैं, एक में राष्ट्रीय भावनाओं का स्फूर्तिदायी उद्घोष, तड़प और ओज है तो दूसरे में पारिवारिक जीवन की सरसता, वात्सल्य की गरिमा और मधुरता को व्यक्त करने वाली सुकुमारता और कोमलता है। गहरे, दार्शनिक विचारों और व्यापक विश्व-बोध का उनकी कविताओं में यदि अभाव है तो उसकी क्षति-पूर्ति पारिवारिक और देश-प्रेम की उत्सर्ग-भावनाओं द्वारा हो जाती है, जिससे वे सहज ही हृदय को छू लेती हैं। *"चमक उठी सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी! बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी— खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी!"* ने हर भारतवासी का मस्तक ऊंचा उठाया है। जिस समय हमारे भारतेन्दुकालीन कवि *'धन्य तिहारो राज, अरी मेरी महारानी!'* (प्रतापनारायण मिश्र) लिखकर 'भारतेश्वरी', 'आर्येश्वरी', 'माता', 'देवी', विक्टोरिया की प्रशस्तियाँ गाते थे और सन् सत्तावन के राज-द्रोह को—*"देसी मूढ़ सिपाही कछुक लै कुटिल प्रजा संग। कियो अमित उत्पात, रच्यो निज नासन को ढंग॥"* (बद्रीनारायण 'प्रेमघन') कहकर भर्त्सना कर रहे थे, उन्हीं दिनों ब्रज और बुन्देली के लोक-गीतों में जनता के कण्ठ से अनायास ये कृतज्ञता-भरे शब्द फूट रहे थे—*'खूब लड़ी मर्दानी, अरे झाँसी वाली रानी।···सगरं सिपाहियों को पेड़ा जलेबी, आपने चबाई गुड़धानी। अरे झाँसी वाली रानी, खूब लड़ी मर्दानी॥"* भारतीय जनता की सच्ची भावनाओं को व्यक्त करने वाले इस लोक-गीत का उद्धार और संस्कार करके सुभद्राकुमारी चौहान स्वयं चिरकाल के लिए भारतीयों की कृतज्ञता की पात्र बन गई हैं। इससे अधिक ओजस्वी जन-गीत हिन्दी में और कोई नहीं रच सका। इस प्रसंग के अंत में श्यामनारायण पांडे (जन्म सन् १६१० ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वीररस और करुणरस के आप प्रसिद्ध कवि हैं। आप की वर्णनात्मक शैली अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक प्रगल्भ और वेगवती है। 'हल्दी-घाटी' नाम से १७ सर्गों में रचे गये आपके महाकाव्य में युद्ध का आवेगपूर्ण और चित्रमय सजीव वर्णन जगनिक कवि (सन् ११७३ ई०) को 'आल्हा' का स्मरण दिलाता है—*"वारिद के उर में चमक-दमक, तड़-तड़ थी बिजली तड़क रही। रह-रह कर जल था बरस रहा, रणधीर भुजा थी फड़क रही॥··· ··वैरी दल को ललकार गिरी, वह नागिन सी फुफकार गिरी। था शोर मौत से बचो-बचो, तलवार गिरी, तलवार गिरी।"* में भाषा, अभिव्यक्ति और भावना का आवेग तो बहुत है, लेकिन व्यापक वस्तुन्मुखी जीवन दृष्टि का अभाव है। इसके अतिरिक्त हमारा विचार है कि जिन्होंने मुस्लिम राजत्व-काल से ऐतिहासिक घटना-प्रसंग लेकर स्फुट कविताओं या प्रबन्ध-काव्यों की रचना की है, उनके पात्र चाहे शिवाजी और प्रताप जैसे वीर-चरित्र ही क्यों न हों, वे देश की सामयिक परिस्थिति में व्यापक राष्ट्रीय भावना का पोषण करने में सफल न हो सके, ऐसी रचनाओं में सर्वजनीनता के स्थान पर साम्प्रदायिक संकीर्णता का आ जाना अनिवार्य है। एकता-विधायिनी साम्राज्य-विरोधी स्वातंत्र्य-भावना में ऐसी रचनाएं कवि द्वारा न चाहने पर भी मध्य-कालीन भारत के हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष की स्मृतियों को जगाकर अनिवार्यतः एक विक्षेप उपस्थित कर देती हैं, जो शुद्ध राष्ट्रीय-भावना का उदात्त स्वरूप स्थिर करने में बाधक होती है। पौराणिक या पूर्व-मध्यकालीन आख्यान भारतीय हिन्दू अथवा बौद्ध-संस्कृति के प्रतीक होते हुए भी सर्वजन-संवेद्य हो सकते हैं, या कम-से-कम राष्ट्रीय-भावना में विक्षेप नहीं उपस्थित करते।

हमने राष्ट्रीय जाग्रति से प्रेरित आदर्श-भावना का रूप-संस्कार करके अधिकतर निर्वैयक्तिक दृश्यस्तर पर काव्य-रचना करने वाले वर्णनात्मक पद्धति के उन मुख्य-मुख्य कवियों को ही लिया

है जिनका कृतित्व अपनी धारा की सामान्य परिधि के भीतर भी विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण है। श्रीधर पाठक से लेकर श्यामनारायण पाण्डेय तक इस धारा का प्रवाह कभी विच्छिन्न नहीं हुआ। काल-क्रम की दृष्टि से, प्रिय-प्रवास और इतर कुछ रचनाओं को छोड़ कर, इस धारा की अधिकांश रचनाएं भी छायावाद-युग में या दो महायुद्धों के बीच ही रची गईं, लेकिन फिर भी हमने उन्हें पूर्व-छायावाद-युग में ही रखा है, क्योंकि यह धारा जिस काव्यादर्श को लेकर चलती रही—इसके शब्द-प्रयोग, भाषा परिपाटी, अनुभूति-प्रकार, अन्तः स्वर, चित्रण-क्रम, वस्तु-विन्यास आदि आदि—वह पूर्व-छायावाद-युग का ही काव्यादर्श है। इसके भाव-संकेत और भावना-संस्कार भी पूर्व-छायावाद-युग के हैं। छायावाद-युग में काव्यादर्श बदल गया, कवियों का विश्व-बोध, उनकी जीवन-दृष्टि और उनकी अनुभूति और अभिव्यंजना का रूप-प्रकार सभी मौलिक रूप से बदल गये, जिससे ये कवि भी प्रभावित हुए। किन्तु फिर भी छायावाद की मुख्य-धारा में पुरानी धारा का पूरी तरह पर्यवसान नहीं हो पाया।

छायावाद-युग

हम पहले कह चुके हैं कि छायावाद या स्वच्छन्दतावाद की मूलवर्ती भावना आधुनिक औद्योगिक युग से प्रेरित व्यक्तिवाद है। इस वक्तव्य का पूरा अर्थ समझ लेना चाहिए। प्रारम्भ में आचार्य द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचकों ने भी छायावादी कवियों पर पाश्चात्य कविता का अनुकरण करने का आरोप लगाया था। बाद में जब छायावादी कविता की मान्यता प्राप्त हो गई तो हिन्दी-आलोचकों ने यह स्वीकार कर लिया कि छायावादी कविता हमारे देश की राष्ट्रीय जाग्रति की हलचल में ही पनपी और फली-फूली है और इसकी मुख्य प्रेरणा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक है। यह दूसरी स्थापना सत्य के अधिक समीप है। किन्तु यही बात इतिवृत्तात्मक पद्धति के उन काव्यों के बारे में भी सत्य है, जिनका विवेचन हम अभी कर आये हैं। इसलिए इस बात को स्पष्ट समझ लेने की जरूरत है कि यदि हमारा देश पराधीन न होता और हमारे यहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन की आवश्यकता न रही होती, तो भी आधुनिक औद्योगिक समाज (पूंजीवाद) का विकास होते ही काव्य में स्वच्छन्दतावादी भावना और व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति मुखर हो उठती। इसलिए छायावादी कविता राष्ट्रीय आन्दोलन या जाग्रति का सीधा परिणाम नहीं है; बल्कि पाश्चात्य अर्थ-व्यवस्था और संस्कृति के सम्पर्क में आने के परिणाम-स्वरूप हमारे देश और समाज के बाहरी और भीतरी जीवन में जो प्रत्यक्ष और परोक्ष परिवर्तन हो रहे थे, उन्होंने जिस तरह सामूहिक व्यवहार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्रीय एकता की भावना जगाई और राष्ट्रीय संघर्ष को प्रेरणा दी, उसी तरह सांस्कृतिक क्षेत्र में उसने स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति को प्रेरणा दी। जिस तरह राष्ट्रीय जाग्रति और राष्ट्रीय आन्दोलन हमारे बाह्य कर्म-जीवन को समग्र-रूप से संचालित करने लगा, उसी तरह स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति हमारे अन्तरस्थ भावों और आकांक्षाओं को संचालित करने लगी। इस प्रकार राष्ट्रीय जाग्रति और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति दोनों ही ने आधुनिक युग की सामान्य परिस्थितियों से जन्म लिया। राष्ट्रीय जागरण और आन्दोलन की प्रेरणाएं सामयिक और बाह्यस्तर की होने के कारण अधिक बलवान होती हैं। उन पर समूचे देश का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास निर्भर करता है। इसलिए अधिक व्यापक और तलस्पर्शी होते हुए भी सांस्कृतिक भावना का रूप-विन्यास राष्ट्रीय जाग्रति से प्रभावित होता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि देश की प्राचीन संस्कृति और पाश्चात्य काव्य-साहित्य के प्रभावों को ग्रहण करती हुई छायावादी कविता राष्ट्रीय जागरण के क्रोड़ में पनपी और फली-फूली।

व्यक्तिवाद अपने आप में बुरी चीज़ नहीं है, न यह असामाजिक भावना ही है, किन्तु पाश्चात्य देशों के ह्रासोन्मुखी पूँजीवाद के युग में व्यक्तिवाद की परिणति बहुधा ऐसी अहंवादी, स्वार्थ-प्रेरित, आत्म-केन्द्रित, असामाजिक और असंतुलित मनोवृत्तियों के रूप में हुई है, कि किसी को 'व्यक्तिवादी' कहना दुर्वचन-सा बन गया है। वस्तुतः विकासोन्मुखी पूँजीवाद के युग में 'व्यक्तिवाद' मानव-चेतना के एक अभिनव विकास की सूचना देता है। मध्यकालीन सामंती समाज में व्यक्ति के मनोभावों और व्यक्ति के अधिकारों का प्रश्न ही नहीं उठता था। कर्तव्यों की एक अटूट शृंखला में व्यक्ति का अन्तर्बाह्य जीवन बंधा हुआ था। लेकिन पूंजीवादी व्यवस्था में समाज-सम्बन्ध इस इकतरफ़ा भित्ति पर नहीं खड़े रह सकते थे। व्यक्ति समाज की इकाई है। इन इकाइयों से मिलकर ही समाज बनता है, इसलिए समाज के प्रति व्यक्ति का कर्तव्य है तो व्यक्ति के प्रति भी समाज का कर्तव्य है, अन्यथा समानता का कोई अर्थ ही नहीं रहता। व्यक्तिवाद इस प्रकार एक सामाजिक आवश्यकता की चेतना का रूप लेकर ही पैदा हुआ। आगे चलकर पूंजीवादी समाज ने नये अप्रत्यक्ष पूंजी-सम्बन्ध स्थापित करके व्यक्ति के आध्यात्मिक और भौतिक विकास के मार्ग वर्ग-सीमित कर दिये और युग की स्वच्छन्दतावादी भावना प्रतिक्रिया-स्वरूप पूंजीवाद से द्रोह न करके सारे समाज और सामाजिकता से ही द्रोह कर बैठी। यह पूंजीवादी व्यवस्था की आन्तरिक असंगतियों और ह्रास की कहानी है। किन्तु इससे व्यक्तित्व या व्यक्ति की सत्ता की स्वीकृति का प्रश्न अपनी संगति नहीं खो बैठता।

हमारे देश में जिस समय व्यक्ति-भावना का जन्म हुआ उस समय राष्ट्रीय-चेतना का भी उदय हुआ। इसलिए व्यक्ति-भावना का प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय आज़ादी की भावना से गठबन्धन हो गया, और नई छायावादी कविता का व्यक्तिवाद असामाजिक पथों पर न भटक कर राष्ट्रीय नवजीवन की उदात्त आकांक्षा का गम्भीर मर्म-वेदन लेकर मुखरित हुआ। रवीन्द्रनाथ ठाकुर हिन्दी से पहले ही बंगला-काव्य में स्वच्छन्दतावाद की धारा प्रवाहित कर चुके थे, जिसने एक नई काव्य-भूमि के विस्तृत सीमान्त खोल दिये थे। उनका व्यक्तिवाद स्वयं अपने पार्थिव जीवन के सुख-दुःख से ऊपर उठकर जाति, वर्ण, देश और समाज की सीमाओं को पार करता हुआ विश्व-बन्धुत्व और मानवी-सीमाओं में असीम भौतिक और आध्यात्मिक विकास की सम्भावनाओं का दर्शन कर रहा था। उनकी गोचर में अगोचर की खोज और पार्थिव में दिव्य का अवतरण और प्राण-प्रतिष्ठा करने की साधना मानव-जीवन की अनन्त सम्भावनाओं का सत्यान्वेषण करने का ही नैतिक प्रयास था। इन उदात्त भावनाओं और दार्शनिक चिन्तन ने व्यक्तिगत अनुभूति का रूप धारण करके प्रगीतात्मक अभिव्यक्ति पायी, क्योंकि कवि का संवेदनशील व्यक्ति-हृदय उस समय 'मानवता का स्वच्छ मुकुर' बन गया था, जिसमें हमारे देश की ही नहीं, मानव-मात्र की आशाओं-आकांक्षाओं, सुख-दुःख और राग-विराग का सम्पूर्ण वेदन प्रतिबिम्बित हो रहा था। कवि बाह्य-जीवन में से प्रतिनिधि-चरित्रों का निर्माण किये बिना ही प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्भावों को छू सकता था, उन्हें अपनी संवेदना और अनुभूति का अंग बनाकर मार्मिक चित्रों की भाषा में अभिव्यक्ति दे सकता था। व्यक्ति-हृदय या व्यक्ति-चेतना समाज-हृदय और समाज-चेतना से भी एकात्म थी। इसलिए प्रारम्भिक छायावादी कविता का रुदन-क्रन्दन, व्यक्तिगत रुदन-क्रन्दन, के साथ-साथ रूढ़ि-बद्ध, पराधीन और संघर्षशील भारतीय समाज का ही रुदन-क्रन्दन था। कवि का 'मैं' प्रत्येक प्रबुद्ध भारतवासी का 'मैं' था, इस कारण कवि की विषयगत दृष्टि ने अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए जो लाक्षणिक भाषा और अप्रस्तुत योजना-शैली अपनायी, उसके संकेत और प्रतीक हर व्यक्ति

के लिए सहज प्रेषणीय बन सके। छायावादी कवियों की भावनाएँ यदि उनके विशिष्ट वैयक्तिक दुखों के रोने-धोने तक ही सीमित रहतीं; उनके भाव यदि केवल आत्म-केन्द्रित ही होते तो उनमें इतनी व्यापक प्रेषणीयता कदापि न आ पाती। 'निराला' ने लिखा:—

"मैंने" "मैं" शैली अपनाई
देखा एक दुखी निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में
झट उमड़ वेदना आई।"

इससे स्पष्ट है कि व्यक्तिगत सुख-दुखों की अपेक्षा अपने से 'अन्य' के सुख-दुखों की अनुभूति ने ही नये कवियों के भाव-प्रवण और कल्पनाशील हृदयों को स्वच्छन्दता की ओर प्रवृत्त किया।

प्रारम्भ में हिन्दी के प्रमुख आलोचक छायावादी कविता के इस युगीन रूप को न पहचान सके, यद्यपि हिन्दी के पाठकों में ये कविताए लोक-प्रिय होती जा रही थीं। बाबू मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय और पंडित बदरीनाथ भट्ट ने छायावादी-युग से पहले कुछ गीतात्मक रचनाएँ की थीं और उनमें कहीं-कहीं रहस्य-भावना की पुट भी दी थी। लेकिन इन रचनाओं के भाव-संस्कार पुराने और धार्मिक ही थे। यहाँ तक तो उस युग के आलोचकों को सह्य था, लेकिन हिन्दी-काव्य परम्परा-विहित मार्ग को छोड़कर नितान्त नयी भाषा, पद्धति और अर्थ-भूमि की सृष्टि करने लगे, यह उनके शास्त्र-ज्ञान और पूर्व-ग्रहों को तीव्र चुनौती थी, जिसके लिए वे तैयार न थे। सन् १९१३ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को नोबल-पुरस्कार प्राप्त हुआ था, तब से, कम-से-कम उन पर सीधे आक्रमण करने का साहस आलोचकों को नहीं रहा था, यद्यपि उनकी कविता को वे किसी पूर्व-परिचित, शास्त्रोक्त परिपाटी के अन्दर रखकर समझ सकने में असमर्थ थे। हिन्दी-आलोचकों ने इस कारण रवींद्रनाथ और उनकी कविता के प्रति एक आक्रोशपूर्ण उदासीनता का भाव अपना रखा था। वे नहीं चाहते थे कि बँगला-काव्य को रवि बाबू जिन अनजाने पथों पर घसीटे लिए जा रहे थे उन पर हिन्दी के उदीयमान कवि भी भटक जायें। इसीलिए जब निराला और पन्त की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगीं तो हिन्दी-आलोचकों ने उनका जमकर विरोध किया। स्वयं आचार्य द्विवेदी ने इस विरोध की शुरूआत की और बाद में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस नई धारा के विरुद्ध पर्याप्त लिखा। केवल अपने अन्तिम दिनों में ही उन्होंने स्वीकार किया कि "छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें सन्देह नहीं। इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध-चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संगठित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।" छायावादी कविता के विरोध में रवीन्द्रनाथ और पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी कवियों के अनुकरण का आरोप तो लगाया ही जाता था, किन्तु द्विवेदी जी का मुख्य आरोप यह था कि इस कविता में प्रासादिकता नहीं है। वे प्रासादिकता या प्रेषणीयता को काव्य का प्रधान गुण मानते थे। आचार्य शुक्ल का विरोध इन बातों के अतिरिक्त, इस बात को लेकर भी था कि छायावादी कवि काव्य-वस्तु को संकीर्ण बनाकर केवल अप्रस्तुतों की योजना करने और लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और विचित्रता लाने की ओर प्रवृत्त हैं और प्रेम-क्षेत्र के भीतर ही प्रकांड वेदना, औत्सुक्य, उन्माद आदि की व्यंजना करते हैं, जो रीति-कालीन शृंगारी कविता का ही, कुछ अदल-बदलकर, प्रत्यावर्तन है। प्रासादिकता या प्रेषणीयता के सम्बन्ध में हम कह चुके हैं कि छायावादी कविताएँ धीरे-धीरे लोक-प्रिय होती जा रही थीं क्योंकि युग-चेतना

का प्रवाह उनके अनुकूल था। रही प्रेम-क्षेत्र के भीतर ही अधिकतर छायावादी-काव्य के सीमित रहने की बात, तो इस सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि आदि-काल से स्त्री और पुरुष का प्रेम-सम्बन्ध काव्य, कला और साहित्य की विषय-वस्तु बनता आया है, इसलिए नहीं कि महान् कवि और कलाकार विलासी और शृंगारी मनोवृत्ति के व्यक्ति थे, बल्कि इसलिए कि मानव-सम्बन्धों में प्रेम का सम्बन्ध न केवल सर्वोच्च है, बल्कि मनुष्य की उच्चतम नैतिक भावना, परदुख-कातरता, सौहार्द्र और सहृदयता की सबसे बड़ी कसौटी भी है। नर-नारी के प्रेम-सम्बन्धों को काव्य-कला में रूपायित करने का अर्थ है, मनुष्य की उच्चतम उदात्त भावनाओं, आशाओं, आकांक्षाओं और तत्कालीन सामाजिक जीवन को रूपायित करना। यह सामाजिक जीवन या तत्कालीन समाज-सम्बन्ध व्यक्ति और उसके माध्यम से मानव-समाज की प्रगति में सहायक या बाधक हैं, इसका मार्मिक प्रतिबिम्ब उस समाज के नर-नारी के प्रेम-सम्बन्धों और नैतिक धारणाओं, रूढ़ियों और सामाजिक आचरण में मिलता है। इसलिए अधिकतर प्रेम-गीत लिखने के कारण ही छायावादी कवियों पर 'शृंगारी' होने या "नाना अर्थ-भूमियों पर काव्य का प्रसार" रोक देने का लांछन लगाना असंगत था। छायावादी कविता के तथा-कथित 'प्रेम-गीत', वस्तुतः सामन्त-कालीन, रूढ़ि-जर्जर व्यवस्था, नैतिकता और मानव-सम्बन्धों के विरुद्ध असन्तोष और विद्रोह के गीत हैं और मानव-सम्बन्धों को अधिक व्यापक मानवीय आधार पर संगठित करने की युगीन आकांक्षा के प्रति-लिपि हैं।

हिन्दी-आलोचकों के इस विरोध का एक शुभ परिणाम भी निकला। वर्ड्सवर्थ और शैली की तरह छायावादी कवि भी स्वयं अपनी कविता के प्रवक्ता बने। अपने कविता-संग्रहों की भूमिकाओं में उन्होंने कविता के सम्बन्ध में जिन नये व्याख्या-सूत्रों की उद्भावना की, वे परम्परागत शास्त्रीय व्याख्याओं से भिन्न थे। यद्यपि इन व्याख्याओं का मूलभूत दार्शनिक आधार 'आदर्शवाद' था, भौतिकवाद नहीं, जिसके कारण उन्होंने सामान्यतः काव्य को मनुष्य के शेष कार्य-व्यापारों से भिन्न एक असाधारण, लोकोत्तर एवं आध्यात्मिक सर्जन-क्रिया के रूप में देखा, किन्तु फिर भी उन्होंने जीवन और यथार्थ से उसका अविच्छेद सम्बन्ध भी स्वीकार किया। किसी देश या जाति का मुक्ति-प्रयास, उसकी सत्य और सौन्दर्य-निष्ठा उसके काव्य में प्रतिबिम्बित होती है; अनुभूति और अभिव्यंजना दो पृथक् क्रियाएँ नहीं हैं, बल्कि "व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है;" मन के संकल्प और विकल्प इन दोनों रूपों में से यदि विज्ञान विकल्प (विश्लेषण, तर्क, प्रयोग-परीक्षा) द्वारा वस्तु-सत्य को जानने की चेष्टा करता है तो कविता मन की संकल्पात्मक अनुभूति द्वारा वस्तु-सत्य को जानने की चेष्टा करती है; जड़ से चेतन का, बाह्य-जगत से अन्तर्जगत का सम्बन्ध कराती है और इस प्रकार मनुष्य की समष्टिगत चेतना और सौन्दर्यानुभूति को जाग-रुक करके व्यापक और गहरा बनाती है; सत्य, शिव और सुन्दर केवल वैयक्तिक आदर्श नहीं हैं, बल्कि कविता के सामाजिक श्रेय और प्रेय का व्यापक जीवन-सत्य से ग्रन्थि-बन्धन कराके आदर्श और यथार्थ, बुद्धि और भाव, व्यक्ति और समाज के समन्वित और सामंजस विकास के आदर्श हैं—इन और इतर ऐसी ही अनेक मार्मिक तथा दार्शनिक स्थापनाओं द्वारा छायावादी कवियों ने एक नये काव्यादर्श, नये सौन्दर्य और जीवन-मूल्यों का प्रतिपादन किया और साहित्य के नये प्रतिमान स्थिर किये।

पुराने काव्यानुशासनों से मुक्ति दिलाने के लिए उन्होंने काव्य-भाषा, छन्द, अलंकार, वस्तु-विन्यास, मूर्त्त-विधान और अभिव्यंजना-शैली में शतशः प्रयोग किये, तुकान्त, अतुकान्त, मुक्त-

छन्द, विषम-चरण-बन्ध आदि सभी का नियोजन किया और सीधी-सादी भाव-संवलित भाषा से लेकर लाक्षणिक और अप्रस्तुत-विधानों से युक्त चित्रमयी भाषा तक का प्रयोग भी किया। प्रगीत, खंड-काव्य और प्रबन्ध-काव्य भी लिखे और वीर-गीति, संबोध-गीति, शोक-गीति, व्यंग्य-गीति, आदि काव्य के अन्य रूप-विधानों का भी प्रयोग किया। छायावादी कवियों का भाषा और छन्द-प्रयोग केवल बुद्धि-विलास, वचन-भंगिमा, कौशल या कौतुक-वृत्ति से प्रेरित नहीं रहा; बल्कि उनकी कविता में भाषा भावों का अनुसरण करते दीखती है और अभिव्यंजना अनुभूति का। यह ठीक है कि छायावादी कविता विषयि-प्रधान (सब्जेक्टिव) है और बहिर्जगत् और जीवन की समस्याएँ कवि-विशेष की व्यक्तिगत अनुभूतियों के रंग में रंगी हुई प्रतिबिम्बित हुई हैं, किन्तु इसका यह परिणाम भी हुआ है कि छायावादी कविता में बाह्य वस्तु, इतिवृत्तात्मक चित्र, प्रकृत, यथातथ्य दृश्य और वर्णन घुसकर विक्षेप नहीं उपस्थित करते, और प्रत्येक कविता एक सुशृंखलित और अखंडित भाव-इकाई की रूप-सृष्टि करती है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि छायावादी कविता एक ही प्रकार की भाव-संवेदना या दृष्टिकोण की कविता है। समग्र रूप से छायावादी कविता में विविध भाव-संवेदनाओं और दृष्टिकोणों की अभिव्यंजना हुई है। एक ही कवि की भिन्न-भिन्न कविताओं में उल्लास, उत्साह, निराशा और अवसाद से पूर्ण वैयक्तिक अनुभूतियों की विवृत्ति देखने को मिलती है। प्राचीन वेदान्त-दर्शन, बौद्ध-दर्शन, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, महात्मा गांधी, मार्क्स और अरविन्द के दार्शनिक विचारों और सिद्धान्तों का उनके आत्म-चिन्तन पर प्रभाव पड़ा है। बहिर्जगत् और जीवन की समस्याओं की कवियों के मानस में जब जैसी प्रतिक्रिया हुई है, अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों के माध्यम से ही उन्होंने बाह्यजगत् और जीवन के व्यापारों को प्रतिबिम्बित किया है। इसलिए यद्यपि उनकी वाणी में मनुष्य की महिमा का उद्घोष है, रूढ़ि-ग्रस्त समाज के बन्धनों और मनुष्य के शोषण-उत्पीड़न के विरुद्ध एक नैतिक और न्यायपरक भावना का मार्मिक प्रतिवाद है और समाज के अधिकार-वंचित प्राणियों के प्रति सहज करुणा और सहानुभूति की उदात्त भावना है, तो भी कहीं-कहीं घोर नैराश्य-भरा और आत्मपीड़क चीत्कार भी है, जो अपने निविड़-आवेग में उनके आधारभूत मानववाद को समाजद्रोही भावनाओं से तिमिराच्छन्न कर लेता है। किन्तु ऐसी ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ सन्' ३५ के बाद ही अधिक मुखर हुई और कुछ विशेष कवियों में ही, नहीं तो प्रसाद, निराला, पंत जैसे अग्रणी कवियों की सहज-प्रवृत्ति सामान्यतः अपने व्यक्तिगत सुख-दुखों को वाणी न देकर उनसे ऊपर उठने की ओर ही रही है।

हमने प्रथम महायुद्ध की समाप्ति से दूसरे महायुद्ध के आरम्भ काल तक छायावाद युग की व्याप्ति मानी है, किन्तु इस तरह के निश्चित काल-निर्णय केवल सुविधा की दृष्टि से ही संगत समझने चाहिए। साहित्य की किसी प्रवृत्ति का आदि और अन्त किसी निश्चित तारीख से बाँध देना अत्यन्त कठिन काम है। इसलिए यह न समझ लेना चाहिए कि युद्ध समाप्ति पर सन्' १८ में सहसा छायावादी काव्य-धारा फूट पड़ी और दूसरा महायुद्ध शुरू होते ही सन् १९३९ में हठात् विलीन हो गई। छायावादी कविताएँ सन् १९१८ से शुरू हो गई थीं और सन् १९३९ के बाद भी होती रहीं; सच तो यह है कि अब भी रची जा रही हैं। इसलिए इस निश्चित काल-अवधि का तात्पर्य केवल इतना है कि उस बीच छायावाद ही हिन्दी-कविता की मुख्य-धारा थी, तटवर्ती या पार्श्ववर्ती धारा नहीं, बल्कि मध्य की मुख्य-धारा। छायावाद के आरंभिक उत्थान में तीन युगावतारी प्रतिभा के कवि सामने आये—प्रसाद, निराला और पंत।

जयशंकर प्रसाद—(सन् १८८९-१९३७ ई०) को हिन्दी में छायावादी कविता का प्रवर्तक

कहा जाता है। सन् १९१३ से पहले 'प्रसाद' जी ब्रजभाषा में ही कविताएँ लिखा करते थे और उनकी ब्रज-कविताओं का संग्रह 'चित्राधार' के नाम से प्रकाशित हुआ था। फिर खड़ी बोली में 'कानन-कुसुम', 'महाराणा का महत्त्व', 'करुणालय' (गीति-नाट्य) और 'प्रेम-पथिक' प्रकाशित हुए। इन कविताओं में गीति-काव्य और बँगला कविताओं के ढंग की अतुकान्त पदावली की ओर उनकी प्रवृत्ति का आभास तो मिलता है, लेकिन इनमें अभी छायावाद का रूप नहीं झलका था, न विशेष नवीनता ही थी। भारतेन्दु-कालीन पंडित अम्बिकादत्त व्यास और बाद में श्रीधर पाठक इस तर्ज की अतुकान्त रचनाएँ पहले ही कर चुके थे। साथ ही, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट और मुकुटधर पाण्डे की इस काल की गीतात्मक रचनाएँ अपेक्षया अधिक नई पद्धति की थीं। उनमें चित्रमयी भाषा का प्रयोग भी था और भावना भी स्वच्छन्दतावाद के अधिक निकट थी। प्रसाद जी ने भी पीछे नयी पद्धति अपनायी, और सन्' १९१८ में उनकी २४ कविताओं का संग्रह 'झरना' के नाम से प्रकाशित हुआ। 'झरना' की कविताओं को छायावाद की दिशा में उनका पहला प्रयास ही समझना चाहिए। उनमें न प्रौढ़ता थी, न कोई विशिष्ट नया स्वर ही, जो उस समय की प्रचलित कविताओं से उन्हें अन्यतम बना देता। इसीलिए, सम्भवतः सन् १९२७ में 'झरना' का दूसरा संस्करण निकला जिसमें ३१ नई कविताएँ जोड़ी गईं, जिनमें छायावादी काव्य-वस्तु और शैली की विशेषताएँ थीं। स्मरण रहे कि इसके पूर्व ही पंतजी की 'वीणा', 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' प्रकाशित हो चुके थे और निरालाजी की स्फुट कविताएँ भी पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी थीं, और छायावादी कविता अपने पूर्ण उन्मेष को प्राप्त करके हिन्दी-जगत् में एक युगान्तर उपस्थित कर चुकी थी। प्रसाद जी की पहली प्रौढ़ रचना 'आँसू' है जो सन् १९३१ में प्रकाशित हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक महान् छायावादी कवि के रूप में प्रसाद जी का विकास पंत और निराला की अपेक्षा धीरे-धीरे, लगभग १५ वर्ष की साधना लेकर हुआ। छायावादी कविता के प्रारम्भिक इतिहास में जिस तरह पंत का 'पल्लव' और निराला के 'परिमल' का विशिष्ट स्थान है, उसी तरह उसके विकास और अन्ततः ह्रास के इतिहास में 'आँसू' का भी विशिष्ट स्थान है। 'आँसू' की रचना उन दिनों हुई थी, जब देश में राष्ट्रीय आन्दोलन का जोर था, किन्तु पूँजीवादी संसार एक भयंकर आर्थिक-संकट में फँसा हुआ था और उस संकट से बाहर निकलने का शस्त्रीकरण और युद्ध का मार्ग अपनाये बगैर, उसे और कोई मार्ग न सूझता था। इस आर्थिक-संकट ने भारतीय जनता और भारतीय उद्योग-धन्धों को भी अपनी लपेट में लेकर एक निराशा, अनिश्चितता और क्षोभ का वातावरण पैदा कर दिया था। सन्' ३०-३२ का राष्ट्रीय-आन्दोलन इस क्षोभ का परिणाम था, किन्तु प्रसाद के 'आँसू' ने निराशा और अनिश्चितता को अत्यन्त मार्मिकता के साथ प्रतिबिम्बित किया। निराशावाद और नियतिवाद का गहरा अवसाद इसमें व्यक्त हुआ, जिसने महादेवी जी के चिरन्तन पीड़ावाद, बच्चन के हालावाद और अंचल के भोगवाद की आत्मकेन्द्रित और अहंवादी प्रवृत्तियों को प्रेरित किया। 'आँसू' में प्रसाद जी ने 'प्रेम-वेदना' को दिव्यता से मण्डित कर दिया है, जिसकी गोद में सुख-दुख दोनों पलते हैं। सामाजिक चेतना और सामाजिक उद्योग का तिरस्कार इस कविता में दीखता है, क्योंकि विस्मृति या चेतना-शून्यता की महारात्रि में ही वास्तविक मिलन-सुख और 'कल्याण-वर्षा' की संभावना कल्पित की गई है।

> *"चेतना-लहर न उठेगी जीवन-समुद्र थिर होगा।*
> *संध्या हो सर्ग प्रलय की विच्छेद मिलन फिर होगा।"*

अपने अगले कविता-संग्रह 'लहर' में प्रसाद जी ने विविध अर्थ-भूमियों पर अपनी कल्पना

को दौड़ाया। इसकी कविताओं में कहीं आनन्दवाद की झलक मिलती है, तो कहीं अज्ञात प्रियतम से रहस्यमय अभिसार के चित्र हैं, कहीं सजीले स्वप्नों से अतृप्ति को मिटाने का प्रयास है तो कहीं ब्राह्मवेला का *'बीती विभावरी, जाग री'* का आह्वान है, और कहीं *'अब जागो जीवन के प्रभात'* की कामना है। किन्तु समग्र रूप से अधीरता, वेदना और निराशा का स्वर इन कविताओं में भी प्रधान है।

'लहर' के बाद सन् १९३५ में 'कामायनी' प्रकाशित हुई। यह छायावाद-युग का महाकाव्य है, क्योंकि इसमें एक उदात्त आदर्शवादी स्तर पर व्यक्तिवाद की अन्तिम परिणति देखने को मिलती है। 'कामायानी' की कथा एक पौराणिक-वृत्त पर आधारित है, किन्तु यह वृत्त तो एक रूपक है जिसके माध्यम से प्रसाद जी ने मनुष्य के बौद्धिक और भावनात्मक विकास और आधुनिक जीवन के आन्तरिक वैषम्य की वास्तविकता को ही चित्रमयी भाषा में प्रतिविम्बित करने का विराट् आयोजन किया है। काव्य के मुख्य पात्र मनु, इड़ा और श्रद्धा पौराणिक से अधिक प्रतीकात्मक व्यक्ति हैं। मनु आज के आत्म-चेतन व्यक्तिवादी व्यक्ति के प्रतीक हैं। इड़ा आधुनिक पूंजीवादी समाज के वर्ग-भेद और शोषण की मान्यताओं पर आधारित बुद्धि-तत्त्व की प्रतीक है और श्रद्धा मनुष्य की सहज मानवीय भावनाओं, नैतिक-मूल्यों और सौहार्द्रता से युक्त मानव-हृदय के आस्थाशील श्रद्धा-तत्त्व की प्रतीक है। इन तीन पात्रों के माध्यम से प्रसाद जी ने आधुनिक पूंजीवाद-प्रणीत सभ्यता और उसके समस्त अन्तर्विरोधों और असंगतियों का ऊहापोह विवेचन किया है। प्रसाद जी ने जिस समय 'कामायनी' की रचना की उस समय गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन ने देश के हर वर्ग में स्वतन्त्रता और भावी राष्ट्र-निर्माण के स्वप्न जगा दिये थे, लेकिन प्रसाद जी ने इस आदर्शवादी उमंग की लहर से अप्रभावित रहकर उस समाज की आधार-भूत मान्यताओं को जांचने-परखने का साहसपूर्ण प्रयास किया जिसका निर्माण करने के लिए ये सपने जगे थे। भारतीय विचार-धारा में बुद्धि और हृदय-पक्ष के परस्पर विरोध और द्वैत की धारणा प्राचीन और रूढ़ थी। बुद्धि यदि ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता-निर्माण में योग देती है, तो मनुष्य में वर्ग-भेद, मानव-शोषण, निरंकुशता, सत्ता-मद और अहंकार भी पैदा करती है, और इस प्रकार मनुष्य को मानवीयता से दूर खींच ले जाती है। बुद्धि-प्रणीत सभ्यता योग्यतम की विजय की क्रूर स्वार्थपरता के अमानवीय सिद्धान्त पर टिकी है। इसी लिए इस द्वैत की धारणा में श्रद्धा या मनुष्य की हार्दिकता, सहानुभूतिशीलता के प्रति भारतीय मानस और तत्त्व-चिन्तन का विशेष आग्रह और अनुराग रहा है। साधारणतया मनुष्य तत्सामयिक स्थिति को ही चिरन्तन समझ लेता है, कम से कम उस समय तक जब तक कि उस स्थिति में मौलिक परिवर्तन की संभावनाओं का ज्ञान उसे नहीं हो जाता। इसलिए प्रसाद जी को इड़ानिर्मित आधुनिक पूंजीवादी सभ्यता नये विकास की संभावनाओं के अभाव में चिरन्तन ही दिखाई दी और उनका संवेदनशील हृदय उससे विद्रोह कर बैठा। इस विद्रोह का सहज-प्राप्य अस्त्र बनी श्रद्धा। बुद्धि का तिरस्कार और श्रद्धा का गृहण ही उन्हें आधुनिक पूंजीवादी समाजके अभिशापों से मुक्ति का एकनात्र मार्ग समझ में आया। यह प्रत्यावर्तन और पलायन का मार्ग भी है और वर्ग-समाज में व्यक्तिवाद की अ-सामाजिक परिणति का भी। मनु ने श्रद्धा का त्याग करके इड़ा की सहायता से जिस सभ्यता का निर्माण किया वह अपनी समस्त श्री-सम्पन्नता के बावजूद ह्रास-ग्रस्त हो गई, क्योंकि उसमें वर्ग-भेद, आतंक-दमन, सत्तावाद, शोषण-दारिद्र्य, कृत्रिमता और अहंवाद का बोलबाला हो गया। इस सभ्यता का ध्वंस होने पर मनु का हृदय पुनः श्रद्धा की ओर प्रवृत्त हुआ। श्रद्धा उन्हें इस धरती के जन-रव, वैषम्य, वर्ग-भेद और अहंमन्यता के दूषित

वातावरण से दूर कैलाश पर्वत के समरस और सामंजस्यपूर्ण आनन्द-लोक में ले जाती है। इस प्रकार अन्ततः बुद्धि का तिरस्कार और श्रद्धा का स्वीकार प्रसाद जी की, वैचारिक स्तर पर, उस द्वैत-धारणा का ही परिणाम है, जिसका हमने उल्लेख किया है। व्यक्तिवाद की इस समाज-द्रोही परिणति के बावजूद, 'कामायनी' का विराट् रूपक वर्तमान पूंजीवादी समाज की वास्तविकता और अन्तर्विरोधों को इतनी सजीव मूर्तता और गहराई से प्रतिबिम्बित करता है कि वह इस युग का प्रतिनिधि महाकाव्य बन गया। पूंजीवाद की शापग्रस्त सभ्यता से मुक्ति पाने का वे कोई सामाजिक आदर्श उपस्थित नहीं कर पाये, लेकिन यह सभ्यता शाप, ग्रस्त है और इसका ह्रास अनिवार्य है, एक अन्तर्दृष्टा की तरह, इसका मार्मिक चित्रांकन करने में वे सफल हुए।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (सन् १८९६) छायावाद-युग के सबसे अधिक सशक्त और प्रौढ़ प्रतिभा के कवि हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'निराला' जी के प्रशंसक नहीं थे, और उनके समय तक हिन्दी-आलोचकों की ओर से 'निराला' का विरोध भी बदस्तूर चल ही रहा था, किन्तु फिर भी शुक्ल जी ने यह दिखाते हुए कि "संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने का सबसे अधिक प्रयास निराला जी ने किया है," यह भी स्वीकार किया कि "बहु-वस्तु-स्पर्शिनी प्रतिभा निराला जी में है।" स्मरण रहे कि 'छायावाद' के प्रति शुक्ल जी का यही आक्षेप था कि इस प्रवृत्ति के कारण "नाना अर्थभूमियों पर काव्य का प्रसार रुक-सा गया" है। अतः निराला के सम्बन्ध में अपनी ही मान्यता का खंडन करके शुक्ल जी ने एक वस्तून्मुखी आलोचक-दृष्टि का परिचय दिया। किन्तु इससे निराला जी की काव्य-प्रतिभा की महानता ही अधिक प्रमाणित होती है। 'निराला' इस बीच हिन्दी के उपेक्षित कवि नहीं रहे, सब ने एक स्वर से उन्हें महाकवि मान लिया है। लेकिन सन्, ३५-३६ तक जिस तरह बिना समझे-बूझे निराला जी पर चतुर्दिक से प्रहार किये जाते थे, उसी तरह बिना समझे-बूझे अब उन्हें 'महाप्राण', 'महामानव' और 'महाकवि' घोषित करके अंध-भक्ति और अंध-स्तुति से जैसे उस पूर्व-अपराध का प्रायश्चित किया जाता है। हिन्दी के आलोचक 'निराला' की कविता का ठीक-ठीक मूल्यांकन न तब करते थे, न अब करते हैं। जीवन में इतने विकट (और हिन्दी के लिए लज्जास्पद) संघर्ष के बाद 'निराला' जी को स्वीकृति, यश और मान चाहे अब मिल रहा हो, लेकिन दुर्भाग्य से उनके समूचे काव्य का पूर्वग्रह-रहित निष्पक्ष और वस्तुपरक मूल्यांकन होना अभी बाक़ी है। डा० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'निराला' में, तथा पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी और दो-एक आलोचकों ने अपने निबंधों में निराला जी की कविता को समझने-समझाने का प्रयत्न किया है, लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है। सबसे पहले उनकी कविता का मूल्यांकन महाकवि पंत ने अपनी कविता 'अनामिका के कवि श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी के प्रति' में किया था, जो मेरी दृष्टि में आज भी अन्य सभी विवेचनों से अधिक वस्तुपरक और गंभीर है और 'निराला' जी की कविता के वास्तविक सौन्दर्य, अर्थ-गौरव और महिमा का सही उद्घाटन करता है।

"छंद-बंध ध्रुव तोड़, फोड़कर पर्वत कारा
अचल रूढ़ियों की, कवि, तेरी कविता धारा
मुक्त, अबाध, अमंद, रजत निर्झर सी निःसृत,—
गलित ललित आलोक राशि, चिर अकलुष अविजित!
स्फटिक शिलाओं से तूने वाणी का मन्दिर
शिल्पि, बनाया,—ज्योति-कलश निज यश का धर चिर।

शिलीभूत सौन्दर्य, ज्ञान, आनन्द अनश्वर
शब्द-शब्द में तेरे उज्ज्वल जड़ित हिम शिखर।
शुभ्र कल्पना की उड़ान, भव भास्वर कलरव,
हंस, अंश वाणी के, तेरी प्रतिभा नित नव,
जीवन के कर्दम से अमलिन मानस सरसिज
शोभित तेरा, वरद शारदा का आसन निज।
अमृत-पुत्र कवि, यशः काय तव जरा मरणजित,
स्वयं भारती से तेरी हृत्तंत्री झंकृति।"

(पंत : युगवाणी)

पंत जी की कविता में निराला जी की कविता के उन सभी विशिष्ट तत्त्वों की ओर संकेत मिल जाता है, जिनका सम्यक् उद्घाटन उनकी 'बहु-वस्तुस्पर्शिनी' कविताओं की अपेक्षा में रखकर विशद्-रूप में होना अभी शेष है। इस संक्षिप्त विवरण में यह कार्य सम्भव नहीं है। यहाँ केवल निराला की कविता के विकास की रूप-रेखा ही अंकित की जा सकती है।

'जूही की कली' निराला जी की प्रारम्भिक कविताओं में से है। सन् १९१६ में (जब निराला जी केवल २० वर्ष के थे) इस कविता की रचना हुई, किन्तु यह प्रथम बार प्रकाशित हुई-सन् १९२३ में 'मतवाला' के अठारहवें अंक में। मतवाला-काल की उनकी कुछ कविताएँ कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले संग्रह 'अनामिका' में आ गई थीं, लेकिन ठीक से उनकी रचनाओं का प्रकाशन सन् १९२९ से ही शुरू हुआ, जब उनका 'परिमल' प्रकाश में आया। पंत के 'पल्लव' की तरह 'परिमल' की कविताएँ भी छायावाद के उत्कर्ष-काल की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं।

अचल रूढ़ियों की पर्वत-कारा फोड़कर मुक्त, अबाध निर्भर-सी बहने वाली निराला की कविता-धारा का महत्त्व क्षण-स्थायी ही होता यदि यह विद्रोह असंयत और उच्छृंखल होकर केवल विचित्र काव्य-प्रयोगों, उक्ति-चमत्कारों और छिछले व्यंग और वचन-भंगिमा के आत्म-प्रदर्शन में लग जाता, जैसा कि रूढ़ि तोड़ने का उपक्रम करने वाले वर्तमान प्रयोगवादी कवियों की बचकानी तुकबन्दियों से प्रमाणित है। प्रत्युत छायावादी कवियों के विद्रोह ने सामान्यतः, और निराला के विद्रोह ने विशेषतः, एक उच्चतर नैतिकता और काव्यादर्श की स्थापना में अपने को प्रकट किया। 'परिमल' की कविताओं में व्यक्त कवि का संयम, उसका उदात्त अन्तःस्वर, करुणा से सहज द्रवित हृदय की विशालता, अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध उसका मानवोचित दर्प एक शक्तिशाली व्यक्तित्व का सूचक है। भावों के सूक्ष्म-सौंदर्य, दार्शनिक गहराई, अर्थ की गम्भीरता, अभिव्यंजना की प्रौढ़ता और वस्तु की विविधता के नाते 'परिमल' की कविताएँ उस समय तक के छायावादी काव्य-साहित्य में बेजोड़ थीं। 'जूही की कली', 'पंचवटी' और 'जाग्रति में मुक्ति' आदि प्रेम और सौंदर्य के सरस कल्पना-चित्र अपनी सौन्दर्य-दृप्त आवेगमयी भाषा और सूक्ष्मवत्ता के लिए प्रसिद्ध हैं। 'परिमल' में निराला के छै बादल-गीत हैं, जिनमें बादल की अलग-अलग कल्पनाएँ हैं। 'विधवा' में '*इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी*', '*काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा*' और '*व्यथा की भूली हुई कथा*'-सी भारतीय विधवा का करुण चित्र है। आगे 'भिक्षुक' का कारुणिक चित्र '*कलेजे के दो टूक*' करने में समर्थ है। इनके अतिरिक्त और अनेक कविताएँ हैं जिनमें प्रतीक-व्यंजना द्वारा निराला ने अत्याचार पीड़ित, दलित जनों के प्रति अपने हृदय की करुणा उँडेली है। उनका प्रसिद्ध भक्ति-गीत 'भर देते हो' अपने आराध्य या प्रेमी की स्नेहमयी करुणा के प्रति एक सरल हृदय की

निर्व्याज आस्था से परिपूर्ण है, और हृदय में एक सघन कृतज्ञता का भाव जगाता है। इनके अतिरिक्त परिमल की कुछ कविताएं शुद्ध छायावाद की हैं, जिनमें अज्ञात से मिलने की कामना व्यक्त हुई है। कुछ पर स्वामी विवेकानन्द के रहस्यवाद का प्रभाव है। कुछ कविताओं में अतीत इतिहास की स्मृति दिलाने वाले चित्र हैं, तो कुछ में प्रलयंकर शिव के ताण्डव नृत्य का गायन कर शृंगार से विरक्ति और सामाजिक वैषम्य को मिटाने वाली ध्वंसलीला के प्रति आग्रह प्रकट किया गया है। कुछ में हिन्दू पुनर्जागरण की भावना को उद्‌बुद्ध किया गया है और कुछ में पौराणिक जीवन के चित्र अंकित किए गये हैं। कुल मिलाकर 'परिमल' में छायावाद की अनेक-मुखी प्रवृत्तियों की उदात्त झलक मिलती है। राष्ट्रीय चेतना की सूक्ष्म-अनुभूतिमयी व्यंजना जितने गम्भीर और प्रौढ़ स्वरों में 'परिमल' में हुई उतनी उस समय तक छायावाद के किसी अन्य कवि की वाणी में नहीं हो पायी। 'परिमल' की कविताओं से सचमुच 'समूची जाति के मुक्ति-प्रयास' का पता चलता है।

'परिमल' के बाद 'गीतिका' आई और 'गीतिका' के बाद 'अनामिका'। 'गीतिका' के छोटे-छोटे गीतों में भी 'परिमल' का-सा ही वैविध्य है, एक ही भाव की, विविध स्थितियों में रख कर आवृत्ति नहीं है। भावों की ऐसी सुसम्बद्धता और कमनीयता, मानवीय भावनाओं की उदात्त अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। किन्तु गीतिका के गीत उतने लोक-प्रिय न हो सके, इसलिए नहीं कि उनमें प्रेषणीयता का अभाव है, बल्कि इसलिए कि 'निराला' ने इन गीतों के रूप में एक-एक बूंद में सागर भरना चाहा है। भाव-सरणि सरल और एकसूत्रीय भी नहीं है, बल्कि उनमें अक्सर एक नाटकीय ढंग से विपरीत और विषम भावों की संश्लिष्ट समन्विति की गई है। उनका नाद-सौन्दर्य भी नवीन है जो शास्त्रीय या लोक-संगीत में पूरी तरह नहीं समाता। एक-एक गीत को बार-बार पढ़ने या गाने से ही उसके भाव और अर्थ के शतदल एक-एक कर खुलते हैं। किन्तु 'अनामिका' (सन् १९३७) के गीतों और कविताओं में निराला की प्रगल्भ कल्पना को पुनः मुक्त उड़ने का अवकाश मिला। 'अनामिका' उनका प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ है, जिसमें उनकी कविता का प्रौढ़तम विकास दिखाई देता है।

छायावादी कवियों ने स्त्री और पुरुष के प्रेम की जो कल्पना की है वह रीतिकालीन शृंगारी कवियों की काम-क्रीड़ा की वस्तु और इधर के भोगवादियों और प्रयोगवादियों की जैविक स्तर पर उतर कर स्त्री को मात्र शारीरिक वासना-पूर्ति का साधन समझने वाली असामाजिक कल्पनाओं से भिन्न है। साथ ही भक्त और अध्यात्मवादी कवियों की तरह छायावादी कवियों ने नारी को न 'सहज अपावन' माना और न प्रगतिवादियों की तरह क्रान्ति-पथ में बाधक समझ कर उसे सन्देह की दृष्टि से ही देखा। छायावादियों ने (निराला, पन्त, प्रसाद, महादेवी आदि ने) नारी-पुरुष प्रेम को इन सभी रूढ़ियों या एकांगी दृष्टियों से मुक्त करके एक सहज मानवीय आधार पर स्थापित करना चाहा, जिस में एक-दूसरे का आकर्षण, एक-दूसरे के प्रति उत्सर्ग और समर्पित होने की सच्ची हार्दिक भावना ही उनके मुक्त-प्रेम की कसौटी हो, न कि रूढ़ि-बन्धन, समाज के अर्थ-सम्बन्ध या मात्र शारीरिक वासना। प्रेम की इस उदात्त और संस्कृत कल्पना को, जिसमें नारी के व्यक्तित्व के पूरे गौरव को समान भाव से स्वीकार किया गया था, कुछ लोगों ने वायवी प्रेम या अशरीरी वासना का नाम दिया, किसी ने इसे कल्पित और क्षयी रोमान्स कहा। इसके नव-संस्कृति-विधायक रूप को कम लोगों ने ही पहचाना, यद्यपि इस युग के नये समाज-सम्बन्धों में छायावादी कविता द्वारा निर्मित नये और उच्चतर मानव-मूल्यों की स्वीकृति स्वयं विकास-तर्क से होने लगी थी। बाद में प्रगतिवादियों ने या प्रयोगवादियों ने नारी-समस्या के प्रति जो एकांगी

दृष्टिकोण अपनाये, वे आज की सुसंस्कृत आधुनिक नारी को मान्य नहीं हैं। न वह जीवन के संघर्ष में बाधक समझी जाना पसन्द करती है और न जैविक आधार पर, भावनारहित शारीरिक वासना की पूर्ति का मात्र साधन हो जाना चाहती है। वह जीवन के हर क्षेत्र में पुरुष की समकक्षिनी बनने की आकांक्षी है, किसी की वासना-तृप्ति का साधन न बनकर मुक्त-हृदय से अपने हृदय का प्रेम देना और पाना चाहती है। यह प्रेम ही नारी-पुरुष-सम्बन्ध की उच्चतर नैतिक मर्यादा है, युगल-प्रेमियों के संयम और सामाजिक दायित्व और स्वामित्व की कसौटी है। दलित वर्ग के प्रति सहज करुणा के भाव की तरह ही नारी के प्रति छायावादी कवियों का यह समानता का भाव भी प्रगतिशील और नई सांस्कृतिक चेतना का द्योतक है।

'निराला' जी की कविता में और विशेषकर 'अनामिका' में इस सांस्कृतिक चेतना का भव्य रूप देखने को मिलता है। 'अनामिका' की पहली कविता 'प्रेयसी' में ही यह प्रगट है। इसलिए 'सम्राट् एडवर्ड अष्टम के प्रति' में उन्होंने प्रेम के लिए इतने बड़े साम्राज्य को त्याग देने वाले एडवर्ड अष्टम को बधाई दी है; क्योंकि "*आलिंगित तुम से हुई सभ्यता यह नूतन !*" और अनेक कविताओं में निराला जी ने नारी पुरुष प्रेम को उदात्त अभिव्यक्ति दी है। इनके अतिरिक्त 'अनामिका' में 'तोड़ती पत्थर', 'वे किसान की नई बहू की आँखें', 'बादल गरजो' 'तोड़ो-तोड़ो, तोड़ो कारा' आदि कविताएँ एक नई प्रगतिशील चेतना की सूचना देती हैं। 'सरोज-स्मृति' एक लम्बा 'शोक-गीत' (एलेजी) है, जो उन्होंने अपनी पुत्री सरोज की स्मृति में लिखा है। कुछ आलोचकों का मत है कि विश्व-साहित्य में इतनी गहन-वेदना और तीखे व्यंग से युक्त शोकगीत की अभी तक रचना नहीं हुई। अपने व्यक्तिगत दुख से ऊपर उठने की चेष्टा 'सरोज-स्मृति' में हृदय को विदीर्ण करने वाला मार्मिक उद्गार बनकर फूट पड़ी है—'*दुख ही जीवन की कथा रही, क्या कहूँ, आज जो नहीं कही।*' 'निराला जी की काव्य साधना वस्तुतः इस व्यक्तीकरण की महत् चेष्टा की आदि से अन्त तक प्रमाण है। घोर निराशा और अवसाद की अनुभूतियाँ बरबस दबाने पर भी यद्यपि कहीं-कहीं फूट पड़ती हैं, जैसे, '*जीवन चिरकालिक रुदन*', या '*मैं अकेला : देखता हूँ, आ रही मेरे दिवस की सांध्य वेला*' या '*देख चुका जो-जो आये थे सब चले गये, मेरे प्रिय सब भले गये*', आदि कविताओं में; लेकिन हताश अवस्था में भी उनकी पुरुष तेजस्विता अपना आत्म-गौरव नहीं खो देती, और इस प्रकार वे पाठक में जीवन-संघर्षों के प्रति स्वाभिमान का भाव ही जगाते हैं। 'अनामिका' और अगले संग्रहों के ऐसे गीतों को व्यक्तिवाद का असामाजिक रूप नहीं कह सकते, क्योंकि पीड़ा बिना झेले ही, संघर्ष में बिना टूटे ही पीड़ा और संघर्ष से पलायन करने वाली प्रवृत्ति उनमें नहीं है, बल्कि एक ऐसे तेजःपुंज व्यक्ति की सहज अनुभूति का गम्भीर, कचोटनेवाला वेदन है जो इतना कुछ झेल कर भी नतशिर नहीं है। 'अनामिका' में ही निराला जी की प्रबन्ध-कविता 'राम की शक्ति-पूजा' छपी है। इतने छोटे आकार-प्रकार का महाकाव्य निराला जी की प्रतिभा ही रच सकती थी। 'राम की शक्ति-पूजा' बीज रूप में एक महाकाव्य ही है, क्योंकि इतने संक्षेप में, और राम-कथा के एक प्रसंग को लेकर ही, उन्होंने मानव-हृदय की विविध स्थितियों और भावनाओं का सम्पूर्ण चित्रण-सा कर दिया है। 'अनामिका' के बाद 'तुलसीदास' में प्रबन्ध-काव्य रचने की इस असाधारण सामर्थ्य का और भी विकास हुआ है। 'तुलसीदास' की रचना के बाद निराला जी ने नया मोड़ लिया। 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'बेला', 'नये पत्ते' और 'अर्चना' में निराला जी ने प्रगतिशील विचारधारा के नये वस्तून्मुखी प्रभाव ग्रहण किये, छायावादी काव्याभरण उतार कर अधिक सरल और मुहावरेदार भाषा का प्रयोग किया। "*ज़मींदार की बनी, महाजन धनी हुए हैं; जग*

के मूर्त पिशाच-धूर्तगण गनी हुए हैं !" जैसी पंक्तियों में समाज के वर्ग-संघर्ष की खुली झांकी है। इस बीच निराला जी का मानसिक स्वास्थ्य गिरता गया, सम्भवतः बाह्य प्रभावों की चेतना और आत्म-वेदना के गरल को स्वयं पीकर केवल अमृत-दान करने के आन्तरिक संघर्ष ने ही उन्हें अस्वस्थ बनाया है, क्योंकि निराला जी की प्रत्येक कविता से लगता है, जैसे भीतर अभिव्यक्ति पाने के लिए भावों और अनुभूतियों का पारावार उमड़ रहा है, जिसे बाँध तोड़ कर प्लावन करने से कवि को बरबस थामना पड़ रहा है। अपनी कल्पना को कुरेद-कुरेद कर निरर्थक, फालतू या अलंकारी शब्दों से उनकी कविता का भवन निर्मित नहीं हुआ, बल्कि लगता है जैसे किसी विपुल-राशि में से उन्हें अपनी आवश्यकतानुसार केवल एक स्वल्प-राशि को ही चुनने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है—संयम और चयन का यह प्रयास उनकी शैली से भी प्रकट है। इसीलिए उनकी कविताओं में ध्वनित अर्थ कोरे अभिधार्थ से कहीं अधिक गम्भीर और मर्मभेदी हैं। उनकी आत्म-निष्ठ और समाज-निष्ठ, रहस्यात्मक और समाजोन्मुखी प्रवृत्तियां मानवताबोधिनी एक ही समंजस अनुभूति का प्रकाश हैं। 'अनामिका' के पश्चात् की कविताओं में उनका समाज-चिन्तन अधिक मुखर रहा है। यह उनकी कविता के उतार का काल है। उनमें पहले जैसा काव्य का उत्कर्ष नहीं रहा। निराला जी ने शास्त्रोक्त आधार पर कोई महाकाव्य नहीं रचा, किन्तु समग्र रूप से उनका काव्य इस युग की प्रवृत्तियों का एक महाकाव्य ही है, जिसमें राष्ट्रीय चेतना और हमारे सांस्कृतिक जीवन और चिन्तन की भी धाराएं अभिव्यक्ति पा गई हैं। उनके अलग-अलग गीत इस महाकाव्य के अलग-अलग सर्ग हैं।

सुमित्रानन्दन पंत (सन् १६०१—)—छायावादी-युग के तीसरे महाकवि हैं। पंत जी महाकवि निराला की तरह संघर्ष-प्रिय, पौरुष-भावना के कवि नहीं हैं, बल्कि "*मेरा मधुकर का-सा जीवन; कठिन कर्म है, कोमल है मन !*" वाले प्रकृति और मनुष्य के सुन्दर रूप के कवि हैं। उनकी कविता में इस सौन्दर्य-प्रियता और स्निग्ध कोमलता का ही रस प्रवाहित है। प्रकृति के उग्र रूप या मनुष्य-स्वभाव की क्षुद्रताओं या सामाजिक जीवन की कुरूपताओं की ओर उनका मन सहज आकर्षित नहीं होता, यद्यपि प्रकृति, मनुष्य और समाज के ऐसे चित्र भी उन्होंने अंकित किए हैं। प्रकृति को पंत जी ने अनेक रूपों में चित्रित किया है। प्रकृति के रूप-चित्रण के साथ-साथ, उन्होंने उसे अपनी भावनाओं के सौन्दर्य में रंग कर ऐन्द्रिकता भी प्रदान की है। कभी प्रकृति को नारी रूप में देखा है और अपनी किशोरावस्था में प्रकृति से पूर्ण तादात्म्य का अनुभव कर स्वयं अपने को भी नारी-रूप में अंकित किया है। उनकी इस भावना को 'स्त्रैण' और 'अस्वाभाविक' कह कर कुछ आलोचकों ने पंत जी पर भद्दे आरोप भी किए, मानो पुरुष में नारी-सुलभ कोमल भावना कोई अपराध हो।

पंत जी का रचनाकाल सन् १६१८ ई० से शुरू होता है, जब वे केवल सोलह-सत्रह वर्ष के थे। उनकी प्रारम्भिक रचनाएं 'वीणा' में संग्रहीत हैं। पंत जी की अप्रस्तुत रूपों का मूर्त्त-विधान करने वाली लाक्षणिक शैली का निखार इन प्रारंभिक रचनाओं में भी स्पष्ट है। साथ ही, अभी विश्व-चिन्तन का आग्रह नहीं है, प्रकृति और मानव-जीवन के प्रति एक कैशोर जिज्ञासा और रहस्य-भावना की ही प्रधानता है, यद्यपि स्वामी विवेकानन्द, राम-तीर्थ और रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से '*विश्व-प्रेम का रुचिर राग*' उनके सहज मानववादी हृदय को आकर्षित करने लगा था। "*कौन-कौन तुम परिहत-वसना, म्लान मना, भू-पतिता-सी ? धूल धूसरित, मुक्त-कुन्तला, किसके चरणों की दासी ?*" और "*प्रथम रश्मि का आना रंगिणि ! तूने कैसे पहचाना ? कहाँ, कहाँ,*

हे बाल-विहंगिन ! पाया तूने ये गाना ?'' आदि जिज्ञासु-हृदय की कोमल-कल्पनाएँ 'वीणा'-काल की ही हैं। 'वीणा' की कविताओं में प्रकृति-प्रेम का उल्लास इतना प्रबल है कि कवि किसी बाल-जाल में अपने लोचन उलझा देने के लिए तैयार नहीं है। लेकिन 'ग्रन्थि' में पंत जी का यह किशोर उल्लास असफल प्रेम की सघन वेदना में परिणत हो गया। 'ग्रन्थि' एक खंड-काव्य है, यद्यपि उसमें कहानी का विशेष महत्त्व नहीं है। झील में नाव उलटने पर एक युवक डूब कर बेहोश हो जाता है, मूर्छा टूटने पर देखता है कि अपनी जांघ पर उसका सिर रखे एक युवती उसकी परिचर्या कर रही है। दोनों में प्रेम हो जाता है। समाज इस स्वेच्छाचार को रोकने के लिए उस युवती का किसी और से विवाह कर देता है। युवक का हृदय इस आघात से तिलमिला कर विषाद से भर जाता है। नारी-पुरुष के सहज और पुनीत प्रेम को समाज कितनी निर्ममता से कुचल देता है, इस खंड-रूपक की यही कहानी है। 'ग्रन्थि' में कैशोर-सुलभ भावना का प्रवेग अवश्य है, लेकिन भाषा और भावों की अभिव्यक्ति में पर्याप्त प्रौढ़ता है, जो उनकी अगली रचना 'पल्लव' (सन् १९२७) में अपनी पूर्णता को पहुँची। 'पल्लव' की भूमिका का भी हिन्दी-काव्य के विकास में एक आत्यन्तिक स्थान है। इसमें पहली बार पंत जी ने नये काव्यादर्श के प्रतिमान स्थिर किये और काव्य-रूढ़ियों और प्राचीन मान्यताओं पर आक्रमण किया। 'पल्लव' की कविताओं में दृश्य-जगत् के नाना सुन्दर रूपों का मूर्त्त और मांसल चित्रण है और विविध भावों की अभिव्यंजना है। 'पल्लव' में पंत जी की 'वीणा'-कालीन प्राकृतिक अनुराग की भावना सौंदर्य-प्रधान हो गई है—'वीचि', 'विलास' 'बादल', 'नक्षत्र', 'मौन-निमंत्रण', 'आंसू', 'विश्व-वेणु', 'उच्छ्वास' आदि इस सौंदर्यमयी कल्पना की श्रेष्ठ कविताएँ हैं। उनकी प्रसिद्ध कविता 'परिवर्तन' भी 'पल्लव' में संग्रहीत है। 'परिवर्तन' में पंत जी की एक नई उपलब्धि के दर्शन हुए। लगता है जैसे उनका सौंदर्य-स्वप्न टूट गया है और जगत् और जीवन के चिर परिवर्तनशील रूप ने उनकी समस्त आशाओं-आकांक्षाओं को झकझोर दिया है। परिवर्तन, प्रकृति और जीवन का शाश्वत नियम है, लेकिन इस नियम को समझने की दार्शनिक दृष्टियां परस्पर विरोधी भी हो सकती हैं—एक दृष्टि से परिवर्तन निष्क्रियता और निरुपायता और घोर भाग्यवादी नैराश्य-भावना को जन्म दे सकता है, दूसरी दृष्टि से परिवर्तन के नियम की चेतना रूढ़-रीतियों से ग्रस्त मानव-समाज को बदल कर नये निर्माण की प्रेरणा दे सकती है। आध्यात्मिक दर्शन पहली भावना को जन्म देता है तो वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टि संसार को बदलने की प्रेरणा देती है। पंत जी ने जिस समय 'परिवर्तन' की रचना की उस समय उन पर आध्यात्मिक दर्शन, विशेषकर उपनिषदों का प्रभाव था, इसलिए उन्होंने 'निष्ठुर' और 'दुर्जेय विश्वजित्' परिवर्तन को एक ऐसे उग्र और विराट् रूप में देखा, जिसके आगे मनुष्य की इच्छा-अनिच्छा, सुख-दुख, जीवन-मरण का कोई मूल्य नहीं है। 'परिवर्तन' की यह कल्पना किसी अन्य कवि में नियतिवाद और निराशावाद के अभावात्मक (नैगेटिव) दृष्टिकोण को उभारती, लेकिन पंत का सौंदर्यानुरागी संवेदनशील मन मानव-प्रेम से द्रवित हो उठा। 'गुंजन' की कविताओं में उनकी कल्पना आत्म-चिन्तन और लोक-कल्याण की भूमियों पर विचरण करती हुई सुख-दुःख में समत्व स्थापित करने की ओर उन्मुख हुई। आध्यात्मिक दर्शन का प्रभाव यहाँ भी प्रबल है, जिसके कारण सुख-दुःख की नित्यता को स्वीकार करके उनमें सामंजस्य स्थापित करने की आदर्शवादी कामना है। लेकिन जीवन के हर्ष-विमर्षों और उच्चादर्शों के प्रेमी कवि का मन इस निष्क्रियतावादी समन्वय से सन्तुष्ट नहीं हुआ—*'लगता अपूर्ण मानव-जीवन, मैं इच्छा से उन्मन-उन्मन !'* पंत जी स्वभावतः संघर्ष-प्रिय या निराशावादी व्यक्ति नहीं, जैसा कि उन्होंने स्वयं अपनी कविता

के विकास को समझाते हुए 'आधुनिक कवि', भाग २ की भूमिका में कहा है। इसीलिए 'गुंजन' के गीतों में ही उनके मानवता-प्रेमी दृष्टिकोण का वह रूप गोचर होने लगता है जिस में वे 'वर्तमान समाज की कुरूपताओं से कट कर भावी समाज की कल्पना' और कामना करते दीखते हैं। गुंजन के बाद की कविताओं में मानव-जीवन की संभावनाओं के प्रति आस्थाशील कवि की कामनाएँ विविध रूप-चित्रों के द्वारा व्यक्त हुई हैं। अपने व्यक्तिगत सुख-दुख को वाणी न देकर प्रगतिशील मानवता की आकांक्षाओं को उन्होंने बार-बार प्रार्थना के रूप में मुखरित किया है।

"नव छवि, नवरंग, नव मधु से
मुकुलित पुलकित हो जीवन"

निश्चय ही संघर्ष-प्रिय निराला या निराशावादी महादेवी या बच्चन जैसी हार्दिकता पंत के काव्य में नहीं मिलती। 'पल्लव' के बाद उनका जग-चिन्तन उन्हें व्यापक कल्याण की भावना में ही सत्य और सौन्दर्य की खोज करने को प्रेरित करता रहा है, जिससे उनके विचारों की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि चाहे उपनिषदों का अद्वैतवाद हो या मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या गांधी और अरविन्द का दर्शन, उनकी सहानुभूतियाँ बौद्धिक धरातल की ही अधिक रही हैं। 'गुंजन' में उन्होंने यह आग्रह प्रकट भी किया था—'*सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे यह सुखमय जीवन*।' हिन्दी के अनेक विद्वान् और भाव-प्रवण आलोचकों को पंत जी की कविता का यह नया मोड़, जो 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में और अधिक सुस्पष्ट होता गया, रुचिकर नहीं लगा। उन्हें 'पल्लव' की कविताओं की अलंकार-सज्जित, ऐन्द्रिक रूप-चित्रों का निर्माण करने वाली सौन्दर्य-कल्पना के मुक़ाबले में लोक-मंगल की भावना से प्रेरित, दलित-शोषित मानवता के प्रति बौद्धिक सहानुभूति व्यक्त करने वाली कविताएँ नीरस लगीं। पंत जी ने अपनी सफ़ाई में कहा कि "बौद्धिकता भी हार्दिकता का ही एक रूप है, वह हृदय की कृपणता से नहीं आती।" और 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कविताएँ सचमुच हिन्दी-काव्य के लिए एक नए पथ का निर्देश करती हैं, जिनमें यद्यपि 'पल्लव' जैसी मांसलता नहीं, लेकिन जीवन के मूर्त्त-चित्रों की भी कमी नहीं है। किन्तु लगता है कि पंत जी के आलोचकों का भय ही ठीक निकला, क्योंकि 'ग्राम्या' के बाद की कविताओं में मनुष्य के भावी विकास की आदर्श-कल्पनाएँ, जीवन के व्यापक सत्य की उद्भावनाएँ और बाह्य और अन्तर्जीवन के समन्वय की दार्शनिक विचारणाएँ बौद्धिक चिन्तन के अतिशय आरोप के कारण निरी अमूर्त्त (एब्सट्रैक्ट) हो गयी हैं। 'ग्राम्या' के बाद का पंत-काव्य छायावादी कविता-शैली में रचा पंत-दर्शन बनता गया है। स्वर की उदात्तता, भावनाओं की मानवीयता और भाषा की सुकुमारता के कारण इन रचनाओं को कविता चाहे कहलें, किन्तु वास्तव में वे दार्शनिक रचनाएँ हैं। कल्पना और काव्याभरण तो पंत के दार्शनिक चिन्तन को अभिव्यक्ति देने के उपकरण मात्र हैं। इसीलिए अब आलोचक 'ग्राम्या' से बाद की रचनाओं के काव्यगत सौन्दर्य की विवेचना में न पड़कर पंत के समन्वयवादी दृष्टिकोण या दर्शन का ही समर्थन या विरोध करने में प्रवृत्त होते हैं। 'युगवाणी' के गीत-गद्य के बाद 'ग्राम्या' में नए जीवन-बोध से प्रेरित कवि ने ग्रामीण-जीवन के अनेक मूर्त्त चित्र दिये थे और आशा बँधी थी कि उनके बौद्धिक चिन्तन और आत्म-मन्थन में लोक-मंगल की भावना में पूर्णतः पर्यवसान करके युग-सत्य की उपलब्धि करती है, और पंत में पुनः भावना की समग्रता पैदा होगी और वे नए सत्य को काव्य की मूर्त्त भाषा में व्यक्त करेंगे। लेकिन भावना की समग्रता पुनः न पैदा हो सकी, क्योंकि जीवन की कुरूपता और विषमता के सामने पड़कर सामान्य मनुष्य की प्रतिक्रिया उससे संघर्ष करने की या उससे भागकर निराशा के गर्त में डूबने

की होती है। पंत जी अपने साधु और उदात्त चिन्तनशील स्वभाव के कारण इन दोनों प्रकार की प्रतिक्रियाओं से निस्संग रहकर लोक-मंगल और केवल बौद्धिक भावना-प्रक्रिया के तल पर नयी मानववादी संस्कृति के निर्माण-स्वप्न कल्पना में गूंथते रहे, और कवि से एक मनीषी चिन्तक बन गये। अपने स्वभाव की इस विशिष्टता का उन्होंने बार-बार उल्लेख किया है।

दोनों महायुद्धों के बीच की पाश्चात्य कविता में भी बौद्धिकता का ही प्राधान्य है, किन्तु यह बौद्धिकता अतिवैयक्तिकता, अनास्था, निराशा और मानवद्रोह के रूप में मुख्यतः व्यक्त हुई है। एक भयंकर और रुग्ण स्नायविक विक्षोभ की प्रतिध्वनियों ने पाश्चात्य कविता के अंतरंग जीवन-बोध, भाव और अनुभूति के ताने-बाने को विशृंखल कर दिया था। पंत की सामाजिक बौद्धिकता इसके विपरीत है, वह एक नए जीवनादर्श के प्रकाश से आलोकित है, किन्तु फिर भी इधर की कविता देखकर लगता है कि वे कविता में दार्शनिक गाम्भीर्य नहीं भर रहे, बल्कि दर्शन को काव्य-रूप देकर तरल बना रहे हैं। काव्य की दृष्टि से दोनों में अन्तर है। 'युगवाणी' में पंत जी ने घोषणा की थी :

"बन गये कलात्मक
जगत के रूप नाम
जीवन संघर्ष देता सुख
लगता ललाम।"

इससे एक स्वाभाविक आशा पैदा हुई थी कि आयास वहने वाली 'युगवाणी' में युग का सम्पूर्ण वेदन प्रतिध्वनित होगा, क्योंकि कवि जीवन-संघर्ष में सुख का अनुभव करने लगा है। *"आज मनुज को खोज निकालो"*, *"मुक्त करो नारी को मानव"*, *"सत्य नहीं वह, जनता से जो नहीं प्राण सम्बन्धित"* आदि से लगा कि कवि सत्य, शिव, सुन्दर को वर्गों की सीमा में से निकाल कर ऊर्ध्वमूल संस्कृति को अधोमूल बनाने के लिए अपने कोमल मन के बावजूद शोषित मानवता के कठोर कर्ममय जीवन की वेदना और नये जीवन और नयी मानवीय संस्कृति के निर्माण की संघर्ष चेष्टाओं का मूर्त्त, भावपूर्ण, चित्रों की भाषा में अंकन करेगा। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की 'जीवप्रसू', 'चींटी', 'नारी', 'दो लड़के', 'निश्चय', 'खोज', 'लेनदेन', 'झंझा में नीम', 'ग्राम युवती', 'ग्रामश्री', 'वे आँखें', 'धोबियों का नृत्य', 'स्वीट पी के प्रति', 'भारत माता', 'वह बुड्ढा', 'गंगा', 'चमारों का नाच', 'संध्या के बाद', 'रेखाचित्र', 'पतझर' आदि प्रकृति और जीवन के मांसल चित्र अंकित करने वाली ऐसी कविताएँ हैं, जिन्होंने छायावादी कविता को एक नया प्रगतिशील काव्यादर्श और जीवन-बोध दिया। सन् १९३८ और १९४५ के बीच इन कविताओं ने प्रगतिशील धारा को अपना नया रूप-संस्कार करने की प्रेरणा दी। लेकिन 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' में भी अमूर्त्त दार्शनिक विचारों को उदात्त उद्गारों के रूप में व्यक्त करने वाली कविताओं की पर्याप्त संख्या है, और आग की कविताओं में तो यह प्रवृत्ति ही प्रधान हो उठी, और 'ग्राम्या' ने जिस आशा को अंकुरित किया था, वह पल्लवित न हो सकी।

इस विवेचन के बावजूद, पंत-काव्य को यदि समग्र रूप से देखें तो उनकी सूक्ष्म सौंदर्य-दृष्टि और सुकुमार उदात्त कल्पना हिन्दी काव्य-साहित्य में अनन्य है। लोक-मंगल की साधना करने वाले इस महाकवि जैसी युग-जीवन की व्यापक आर्थिक सांस्कृतिक, समस्याओं की चेतना भी अन्यत्र दुर्लभ है। जिस 'परिवर्तन' को पहले उन्होंने एक भाग्यवादी की दृष्टि से देखा था, आज लोक-मंगल के लिए वे उसी की आवश्यकता का अनुभव करते हैं।

"यह सच है, जिस अर्थ-भित्ति पर
विश्व-सभ्यता आज खड़ी है
बाधक है वह जन-विकास की—
उसमें आज अपेक्षित है व्यापक परिवर्तन
भू-मंगल हित।
धनिक-श्रमिक के बीच भयंकर
जो शोषित-पंकिल खाई है
वर्ग-भेद की
उसे पाटना है इस युग को
आत्म-त्याग से,
सहिष्णुता, शिक्षा-समत्व से
और नहीं तो,
सत्याग्रह के शत-शत निर्भय बलिदानों से!
जिससे भू का रक्त-क्षीण शोणित विषण्ण-मुख
फिर प्रसन्न जीवन मांसल हो, युग शोभन हो!
उत्तर शती अवश्य यंत्र-युग के विप्लव में
सामञ्जस्य नया लायेगी जनमन वांछित
जिससे
शिक्षा, संस्कृति, सामूहिक विकास का
पथ प्रशस्त हो पायेगा
युग मानव के हित!"
(उत्तर-शती रूपक से)

छायावाद-युग के इन तीन महाकवियों के अतिरिक्त इस धारा के अन्य महत्त्वपूर्ण कवियों में महादेवी वर्मा, 'बच्चन', 'दिनकर', भगवतीचरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', उदयशंकर भट्ट, रामकुमार वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, 'अंचल' के साथ-साथ जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', हरिकृष्ण 'प्रेमी', मोहनलाल महतो 'वियोगी', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', गोपालसिंह नेपाली, जानकीवल्लभ शास्त्री, सुमित्राकुमारी सिन्हा, विद्यावती कोकिल, हंसकुमार तिवारी आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। हम पहले कह चुके हैं कि छायावादी कविता में अनेक प्रवृत्तियां और अनेक दृष्टिकोणों की संश्लिष्ट अभिव्यंजना हुई है। जिन तीन महाकवियों का हमने ऊपर विवेचन किया है उनकी कविता का अन्तःस्वर यद्यपि सर्वत्र उदात्त है और उनकी चेष्टा सदा अपने व्यक्तिगत सुख-दुख से ऊपर उठकर समूची जाति के सुख-दुख को अभिव्यक्ति देने की ओर रही है, फिर भी उनके काव्य में एक-रसता नहीं है, यद्यपि उल्लास भी है, मर्मान्तिक वेदना भी है, बहिर्मुख भाव-चित्रण भी। साथ ही, ये तीनों महाकवि सामन्ती मूल्यों के विरुद्ध युगानुकूल जीवन के व्यापक मान-मूल्य निर्धारित करने की ओर भी सतत् प्रयत्नशील रहे हैं। किन्तु सन् १९३० के बाद ही छायावादी-काव्य में और अनेक नयी प्रतिभाएं मुखर हो उठीं, जिनमें भावों की गहराई और आवेग चाहे अधिक हो, किन्तु दृष्टि उतनी व्यापक नहीं थी। अपने व्यक्तिगत स्वभाव, जीवनानुभव और रुचि के अनुसार ये कवि छायावाद की प्रधानतः एक-एक प्रवृत्ति के गीतकार बनकर आगे बढ़े, जिससे उनकी कविता में जहां एको-

न्मुखी और एक-सूत्रीय सघनता अधिक है तो एक ही भाव की विभिन्न अवस्थाओं और परिस्थितियों की आवृत्ति भी बहुत है और समग्र-रूप मे उनकी काव्य-भूमि का दायरा संकीर्ण हो गया है। इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद की परिणति वैयक्तिकता में होने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है, काव्य का उदात्त अन्तःस्वर मन्द पड़ने लगता है और जीवन-मूल्यों का विघटन शुरू हो जाता है। यह ह्रास की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को समग्र रूप में ही समझना चाहिए, अन्यथा, प्रत्येक कवि ने अंश रूप में हिन्दी-काव्य को नई देन दी है और उस सीमा तक उसका विकास किया है।

महादेवी वर्मा (१९०७—) की कविता में वैयक्तिक अनुभूति के तल पर सामन्ती समाज के बन्धनों में ग्रस्त भारतीय नारी-जीवन की निबिड़ वेदना, पीड़ा और कहीं-कहीं मुक्ति-आकांक्षा व्यक्त हुई है। इसी कारण अनेक आलोचकों ने महादेवी जी को निराशावाद या पीड़ावाद की कवियित्री कहा है। स्वयं महादेवी जी ने लिखा है—"दुख मेरे निकट-जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक-सूत्र में बांध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुंचा सकें, किन्तु हमारा एक बूंद भी जीवन को अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता।...विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।" इसी प्रसंग में उन्होंने पुनः कहा है—"मुझे दुख के दोनों ही रूप प्रिय हैं, एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बांध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।" महादेवी के गद्य में अपने संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देने वाले दुख (आत्मीयता, करुणा, सहानुभूति) का रूप व्यक्त हुआ है तो उनकी कविताओं में 'काल और सीमा के बन्धन में पड़ हुए असीम चेतन (नारी-जीवन के सामाजिक बन्धनों की चेतना) का क्रन्दन है।' आध्यात्मिक दर्शन और विशेषकर बुद्ध की करुणा ने उनकी वेदना की अनुभूति को लोक-दृष्टि और उदात्त आधार दिया है। कुछ आलोचक इस आध्यात्मिक दर्शन के कारण ही महादेवी की कविता को रहस्यवादी और लोकोत्तर सिद्ध करते आये हैं, किन्तु यदि महादेवी जी के वक्तव्य को ही ठीक से परखा जाय तो उनकी कविता में व्यक्त असीम और अज्ञात की चाह और पीड़ा-वेदना का मोह एक ओर वर्तमान समाज के रूढ़ि-बन्धनों में ग्रस्त नारी-हृदय का चीत्कार है, तो दूसरी ओर पाठक में दुख की गहरी अनुभूति जगा कर इस विषमावस्था के प्रति चेतना (पीड़ित के प्रति आत्मीयता, करुणा और सौहार्द्र भावना) उद्बुद्ध करने का सूक्ष्म सांस्कृतिक प्रयास है। जहां जिस समाज में वर्ग-भेद और असमानता हो, वहां अधिकार-वंचितों को उनका सामान्य दुख एकता के सूत्र में बांधता है, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। हमारे राष्ट्रीय जागरण की जिस साम्राज्य-विरोधी और सामान्तवाद-विरोधी पृष्ठभूमि में छायावादी कविता का विकास हुआ, उसमें व्यक्तिगत दुख और वेदना के गीतों में भी सामाजिक दुख और वेदना ही प्रतिध्वनित हुई है। इन गीतों के उपमान और प्रतीक वैयक्तिक नहीं हैं, बल्कि लोक-चेतना में सहज प्रेषणीय बाह्य-प्रकृति और जीवन से लिए गये हैं। महादेवी जी की विशेषता यह है कि छायावाद ने व्यक्ति और समाज की जिस व्यापक असन्तोष-भावना को अभिव्यक्ति दी उसमें उन्होंने भारतीय नारी के असन्तोष, निराशा और आकांक्षा के स्वर को भी जोड़ दिया। अपनी युग-युगान्तर से चली आने वाली निगूढ़ व्यथा में भारतीय नारी यदि चीत्कार कर उठती है, *'मैं नीर भरी दुख की बदली!'* तो उसे इसका भी ऐहसास है कि वह *'रात के उर में दिवस की चाह का शर'* है। महादेवी की कविताओं में पीड़ा और विरह

की स्थिति के प्रति एक निराशावादी की आसक्ति बार-बार व्यक्त हुई है, *'मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर मिलन हूँ'* या *'तुम को पीड़ा में ढूँढा, तुम में ढूँढूँगी पीड़ा।'* साथ ही उन्होंने जीवन और सौन्दर्य की आकांक्षा भी अनेकविधि में व्यक्त की है :—

"कण्टकों की सेज जिसकी आँसुओं का ताज
सुभग! हँस उठ, उस प्रफुल्ल गुलाब ही-सा आज
बीती रजनि, प्यारे जाग।"

महादेवी जी के गीत अपनी सुन्दर चित्रमय व्यंजना के कारण अनूठे हैं।

रामकुमार वर्मा—(सन् १६०५—) पर महादेवी वर्मा की तरह कबीर और दूसरे रहस्यवादी कवियों का प्रभाव है। उनकी रहस्य-चेतना में भी निराशा का स्वर तीव्र है। साथ ही अज्ञात के प्रति कौतूहल और जिज्ञासा की भावना में कहीं-कहीं एक बौद्धिक अविश्वास और सन्देह का भाव भी है, जो जीवन के प्रति उस अविश्वास की ही प्रतिध्वनि है जिसका पूरा विस्फोटक परवर्ती कवियों रचनाओं में मिलता है—

उषे, बतला यह सीखा हास कहाँ?
....
यदि तेरा जीवन जीवन है तो फिर है उच्छ्वास कहा?
अपने ही हँसने पर तुझ को क्षणभर है विश्वास कहाँ?

समाजोन्मुखता का परित्याग कर जब व्यक्तिवाद आत्म-निष्ठ हो जाता है, तब स्वयं अपने को सारे विश्व का केन्द्र मानकर चलने की प्रवृत्ति की अनुगूंज सुनाई पड़ने लगती है :—

एक दीपक—किरण कण हूँ
धूम्र जिसके क्रोड़ में है
उस अनल का हाथ हूँ मैं
नव प्रभा लेकर चला हूँ
पर जलन के साथ हूँ मैं।
सिद्धि पाकर भी तपस्या—
साधना का ज्वलित क्षण हूँ।

ऐसे ही अनेक सुन्दर गीतों में वर्मा जी ने अपनी रहस्य-चेतना को व्यक्तिवाद, निराशा और सन्देह की भावनाओं में रंग कर प्रकृति और जीवन के शब्द-चित्र अंकित किये हैं। उनकी कविता छायावादी शैली और काव्य-वस्तु से अपने को मुक्त करके नहीं चली, यद्यपि उसमें इस शैली के बन्धन कुछ ढीले पड़ते अवश्य दिखाई देते हैं। यह कार्य 'बच्चन' और 'दिनकर' ने अपने-अपने ढंग से किया, जिन्होंने अपने व्यक्तिगत उद्गारों या लौकिक भावनाओं को व्यक्त करने के लिए रहस्य-कल्पना तथा किसी चिर अज्ञात या सविशेष की उद्भावना या मध्यस्थता आवश्यक नहीं समझी।

हरिवंशराय 'बच्चन'—(सन् १६०७-) हिन्दी में मधु के गीत लेकर अवतीर्ण हुए। उनकी प्रारम्भिक कविताओं पर अंग्रेजी कविता और उमर खैयाम की रुबाइयों का प्रभाव स्पष्ट है। 'बच्चन' की कविता में स्वच्छन्दतावादी व्यक्तिवाद ने एक नयी दिशा पकड़ी। 'प्रसाद', पंत, 'निराला', महादेवी की कविता पर प्राचीन भारतीय आध्यात्म दर्शनों और रहस्यवाद का प्रभाव था, जिसके कारण उनकी कविता में व्यक्तिगत सुख-दुख और सामाजिक सुख-दुख में समत्व

स्थापित करते चलने की उदात्त-भावना निरन्तर क्रियाशील दीखती है। इससे उनकी कविता में एक ऐसी निस्संगता, निर्वैयक्तिकता, सात्विकता और मर्यादा है, जो जीवन के संघर्षों में फंसे लोगों को वायवी, अशरीरी और काल्पनिक लगी।

कीइस प्रतिक्रिया हुई और 'बच्चन' ने मधु और यौवन के गीत गाने शुरू किये। 'बच्चन' की प्रारम्भिक रचनाओं में प्रबल जीवनाकांक्षा का उन्माद आग्रह है, '*है आज भरा जीवन मुझ में, है आज भरी मेरी गागर!*' लेकिन उनका यह जीवनोल्लास और जग का ह्रास-रुदन भूलकर मधुमय हो जाने का आत्म-केन्द्रित व्यक्तिवाद रूढ़िवादी समाज को रुचिकर नहीं लगा। 'बच्चन' ने तब सामाजिक-विरोध के बीच, सामाजिक मान्यताओं को चुनौती देते हुए अपने मधु-गीतों की सृष्टि की। '*कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्‌गार मेरा!*' या '*हैं कुपथ पर पाँव मेरे आज दुनिया की नजर में*'—सामाजिक विरोध के प्रति कवि के उपालम्भ की सूचना देने वाली कविताएँ हैं। इनमें पुरानी सामाजिक मर्यादाओं, धर्म, लोकाचार और नैतिकता के विरुद्ध कवि का विद्रोह पूरे जोर से व्यक्त हुआ है। पुरानी मान्यताओं के प्रति यह प्रतिक्रिया अभावात्मक (नैगेटिव) या व्यक्तिवादी ही है, जिससे वह उनके स्थान पर, भोगवाद को छोड़कर, कोई नया जीवनादर्श स्थापित नहीं कर पाता। 'लहरों का निमन्त्रण' सुनकर वह सामने पड़े अम्बुधि में तैर कर उस पार जाने को तत्पर होता है क्योंकि '*कुछ विभा उस पार की इस पार लाना चाहता हूँ*', किन्तु अन्त में इस अभियान की कल्पना केवल व्यक्ति की एक उमंग, नई राह और पथ पर चलकर अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित करने की आकांक्षा में ही सीमित होकर रह जाती है। उसके किसी ज्ञात लक्ष्य या परिणाम से कवि सरोकार नहीं रखता। कुछ भी हो 'बच्चन' ने जिस दर्प और अहंभाव से समाज की मान्यताओं को चुनौती दी, वह सन् १९३५-४० के काल में देश के विषण्ण-मन युवकों को बहुत भायी। मर्यादाओं को तोड़ना मात्र भी कभी जीवन की चरम सिद्धि-सी दिखाई देने लगती है, विशेषकर उस समय जब मर्यादाएँ भावी-विकास में बाधक बन रही हों। लेकिन कोरी अभावात्मक प्रतिक्रिया मनुष्य के उदात्त अन्तःस्वर को ही अनुदात्त नहीं बना देती, उसमें घोर निराशा और विफलता का भाव भी उत्पन्न करती है। 'बच्चन' की कविताओं में वैयक्तिक अहंकार-दर्प के साथ-साथ निराशावाद के भाव भी प्रमुख हो उठे।

'मधुकलश' की कविताओं में भी निराशा का स्वर छिपा नहीं है, स्वयं कवि ने इसकी सफाई दी है :—

"पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा?
मुस्करा कठिनाइयों
आपत्तियों को दूर टाला,
धैर्य धर कर संकटों में
खूब अपने को सम्भाला,
किन्तु जब पर्वत पड़ा आ
शीश पर मैं सह न पाया
जब उठा हो भार जीवन
तब उठाया होठ प्याला

व्यर्थ कर दिन-रात निंदा
विश्व ने जिह्वा थकाई,
था बहाना एक मन—
बहलाव का मधुपान मेरा !'[1]

महादेवी के कविता-संग्रहों में जैसी एक-सूत्रीय योजना मिलती है, 'बच्चन' के संग्रहों में भी वैसी ही योजना है, अर्थात् एक-एक संग्रह के गीतों में एक ही जैसे भावों का उद्रेक करने वाले बाह्य और आन्तरिक-जीवन की स्थितियों और प्रसंगों को लेकर गीत-रचना की गई है। निशा-निमन्त्रण' में सायंकाल से लेकर प्रातःकाल तक के गीत हैं, जिसमें कवि ने एक कल्पित साथी को लक्ष्य करके अपने हृदय में छाये शोक को सौ गीतों की शृंखला में बाँधा है। 'एकान्त-संगीत' में यह कल्पित-साथी भी बिछुड़ गया है और कवि के हृदय की वेदना भी अधिक घनीभूत हो गई है। वह बाह्य-जगत् से अपने को अलग करके स्वयं अपने में ही डूब गया है। 'एकान्त-संगीत' के गीत स्वगत हैं।

'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त-संगीत' के गीत 'मधुशाला' और 'मधुकलश' की कविताओं की तरह ही लोक-प्रिय हुए। अपनी वेदनासिक्त भावनाओं में रंग कर उन्होंने सरल बोल-चाल की भाषा में प्रकृति-दृश्यों और अपनी मनोदशाओं के जो मूर्त्त शब्द-चित्र अंकित किये वे हिन्दी-कविता में एक नई चीज थे। '*क्या तुम तूफान समझ पाओगे?*', '*सन्ध्या-सिन्दूर लुटाती है*', '*यह पपीहे की रटन है*', '*अब मत मेरा निर्माण करो*', '*तब रोक न पाया मैं आँसू*', '*त्राहि-त्राहि कर उठता जीवन*', '*अब खंडहर भी टूट रहा है*' आदि अनेक गीत मूर्त्त चित्रांकन और गहरी हार्दिक वेदना के कारण अविस्मरणीय हैं। कुछ गीतों में वेदना इतनी घनीभूत है कि कवि ने जीवन का तिरस्कार और उपहास भी किया है, किन्तु कुछ गीतों में उसका व्यक्तिवाद तिलमिलाकर पूरे मानवोचित दर्प से गरज उठा है, जैसे '*विष का स्वाद बताना होगा !*' '*क्षतशीश मगर नतशीश नहीं*', '*प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर !*' या '*अग्नि-पथ ! अग्नि-पथ ! अग्नि-पथ !*'

यह महान् दृश्य है
चल रहा मनुष्य है
अश्रु-स्वेद-रक्त से
लथपथ ! लथपथ ! लथपथ !

किन्तु 'बच्चन' के 'आकुल अन्तर' तक के गीत '*मैंने गाकर दुख अपनाये*' की भावना के ही गीत हैं और उनमें जीवन के प्रति गहरा विक्षोभ, नैराश्य और अविश्वास व्यक्त हुआ है। '*चाँद सितारे मिलकर बोले*' में इस दृष्टि से सुख-दुख की सांसारिक उपलब्धियों की क्षणभंगुरता का मार्मिक अंकन है। किन्तु 'सतरंगिनी' और 'मिलन-यामिनी' की कविताओं में इस मर्मान्तिक निराशा का स्वर पुनः आशा और उल्लास में परिणत होते दीखा है, उनका गीत '*नीड़ का निर्माण फिर फिर !*' इस नये मोड़ का प्रतीक है।

'बच्चन' के गीतों ने हिन्दी-कविता का एक नया रूप-संस्कार किया। भाषा सरल, मुहावरेदार और व्यक्तिगत वेदना की अनुभूति से मूर्त्त और भाव-सिक्त हो उठी। काव्य-वस्तु का क्षेत्र यद्यपि सीमित हो गया लेकिन अभिव्यक्ति में अधिक मांसलता और हार्दिकता आ गई, जिसके कारण अनुभूतियों का प्रेषण अधिक सहज बन गया। इस ह्रास-प्रक्रिया के दौर में भी एक नया उठान-सा आया। जीवन के व्यापक प्रश्नों से हटकर नये कवियों की एक पीढ़ी की पीढ़ी निःस्वप्न

ग्रौर निर्भ्रान्त हो अपने व्यक्तिगत दुखों को गीत-बद्ध करने लगी। व्यक्तिवादी धारा का यह ऐसा स्फुरण था जिसके बाद काव्य-वस्तु, काव्य-भाषा, अनुभूति ग्रौर अभिव्यंजना सभी क्षेत्रों में एक भयंकर विघटन अनिवार्य हो गया। यह गीत इस बात के प्रमाण हैं कि कवि अपनी व्यक्तिगत वेदना को मूर्त्त चित्रों की भाषा में अभिव्यक्ति देकर सामाजिक बना रहा है, इसीलिए पाठकों ने उनमें अपने दुखों को ही प्रतिबिम्बित होते देखा। लेकिन जीवन का यह अत्यन्त सीमित ग्रौर एकांगी आकलन ही था, इसीलिए जब इन गीतों की आवृत्ति एक फ़ैशन-सी बन गयी, तब जो प्रतिक्रिया हुई उसने हिन्दी-कविता को अनेक छोटी-छोटी धाराग्रों में बिखर कर अग्रसर होने को विवश कर दिया।

इस प्रसंग में श्री भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा ग्रौर रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के नाम भी उल्लेखनीय हैं। भगवतीचरण वर्मा (सन् १९०३—) भी 'बच्चन' की तरह छायावाद की रहस्यात्मकता ग्रौर आध्यात्मिकता को चुनौती देते हुए मधु, उल्लास ग्रौर यौवन के गीत गाते आगे बढ़े। उन्होंने अपने यौवन ग्रौर प्रेम की आकांक्षाग्रों को किसी तात्विक चिन्तन या नैतिक अवगुंठन में छिपाकर उपस्थित करना उचित नहीं समझा। 'बच्चन' की तरह उनकी कविता में भी लाक्षणिक व्यंजना या अप्रस्तुतों की योजना का अभाव है। व्यंग ग्रौर अतिशयोक्ति की सहायता से उन्होंने भी अभिधा में अपने भावों को सरल, किन्तु आकर्षक ढंग से व्यक्त करना शुरू किया—

"हम दीवानों की क्या बस्ती आज यहाँ रहे कल वहाँ रहे,
मस्ती का आलम साथ चला हम धूल उड़ाते जहाँ चले।"

यह आत्म-केन्द्रित 'मस्ती का आलम' 'मधुकण' ग्रौर 'प्रेम-संगीत' की कविताग्रों तक ही रहा। 'मानव' में वर्मा जी की दृष्टि प्रगतिवाद से प्रभावित होकर संसार में फैले दुःख ग्रौर उत्पीड़न की ग्रोर गई। 'कवि का स्वप्न' में मधु से मतवाले मधुवन में मदन जैसे सुन्दर युवक ग्रौर रति जैसी सुन्दर युवती के मधुर-प्रणय की कहानी लिखने के लिए तत्पर कवि ने स्वप्न-भंग का चित्र खींचा है—

"कवि सहसा सिहरा, काँप उठा
सुन भूखे बच्चों का रोदन,
पत्नी की पथराई आंखों में
केन्द्रित था जग का क्रन्दन,
गन्दे-से टूटे कमरे में
होता अभाव का था नर्तन
कवि खड़ा हो गया पागल-सा
उसके उर में थी कौन जलन?"

उनके कविता-संग्रह 'मानव' में अभाव-पीड़ित मनुष्यों के प्रति सहानुभूति ग्रौर करुणा से द्रवित भावना के अनेक चित्र हैं। उनकी कविता '*जा रही चली भैंसगाड़ी, चूँ चररमरर, चूँ चरर-मरर*' हमारे ग्रामजीवन के सनातन पिछड़ेपन की प्रतीक है। इस प्रकार 'मस्ती का आलम' छोड़कर वर्माजी प्रगतिशील भावनाग्रों को अभिव्यक्ति देने लगे।

नरेन्द्र शर्मा (सन् १९१३—) की प्रारम्भिक कविताग्रों में मस्ती ग्रौर उल्लास की नहीं एक भावुक ग्रौर कल्पनाशील युवक की प्रेम-याचनाएं ग्रौर विरह-दग्ध हृदय की करुण स्मृतियाँ व्यक्त हुई हैं। नरेन्द्र शर्मा की कविताग्रों का स्वर ग्रौर उसकी भाषा अनासक्त भोक्ता का स्वर या

उसकी भाषा नहीं है : *"मुमुखि तुमको भूल जाना है असम्भव है असम्भव !"* बाद की कविताओं में प्रगतिवादी विचारधारा और आन्दोलन का प्रभाव भी काफ़ी स्पष्ट है, लेकिन उनकी भावुकता उन्हें प्रेम-गीत रचने के लिए बाध्य करती रहती है। नरेन्द्र शर्मा ही पहले कवि हैं, जिन्होंने अपने मन में बुद्धि और भावुकता के बीच चलने वाले अन्तर्द्वन्द्व को निस्संकोच स्वीकार किया। 'प्रवासी के गीत' की भूमिका में उन्होंने अपने हृदय की 'क्षयी रोमांस के प्रति आसक्ति' का पश्चात्ताप-भरे शब्दों में उल्लेख किया। आगे चलकर 'मिट्टी और फूल' की भूमिका में भी उन्होंने स्वीकार किया कि 'मैं मन की दुर्बलताओं का कवि हूं।' हिन्दी काव्य-साहित्य के इतिहास में कवि द्वारा अपनी दुर्बलताओं की ऐसी आत्म-स्वीकृति एक नई चीज़ थी। इसमें कवि के युगद्रष्टा या स्रष्टा रूप के गौरव की अस्वीकृति है। यहां तक कि स्वयं अपने ही 'व्यक्तित्व' की अस्वीकृति है। विचार और भावना के तल पर व्यक्तिवाद की परिणति 'व्यक्तित्व' के तिरोभाव में ही होती है। आगे चलकर प्रयोगवादी धारा में कवि के 'व्यक्तित्व' और गौरव का और भी विलोप हो गया। फरक़ सिर्फ़ इतना है कि जहां नरेन्द्र शर्मा और फिर 'अंचल' में अपने मन की दुर्बलताओं से लड़ने और मनुष्य की प्रगतिशील भावनाओं और आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देने की सजग चेष्टा दिखाई पड़ी, वहां प्रयोगवादियों में मन की दुर्बलताओं को ही निरपेक्ष सत्य मानकर उनका औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा प्रधान हो उठी। नरेन्द्र शर्मा की जिन कविताओं में उनके मन का अन्तर्द्वन्द्व व्यक्त हुआ है उनमें पर्याप्त मार्मिकता है : *'उजड़ रहीं अनगिनत बस्तियाँ मन मेरी ही बस्ती क्या ?'* किन्तु जिन कविताओं में उन्होंने अपने व्यक्तिगत सुख-दुख से ऊपर उठकर प्रकृति-दृश्यों के भावना-चित्र अंकित किये हैं, वे अत्यन्त मधुर और कोमल हैं। रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' (सन् १९१५—) में इसके विपरीत किसी गहरी अनुभूति या सूक्ष्म, कोमल भावना का प्रकाश नहीं है। उनकी कविता में पहले शारीरिक वासना और लालसा की स्थूल, आवेगमयी और अतिशयोक्ति-पूर्ण अभिव्यक्ति हुई। अब तक के छायावादी कवियों में नारी के प्रति एक मर्यादाशील समानता और आदर की भावनाएं ही व्यक्त हुई थीं। उन्होंने नारी को सदा मानवी और प्रेयसी के रूप में ही देखा था, लेकिन अंचल ने नारी को केवल उपभोग्या स्त्री योनि के रूप में ही देखा। उनकी वासनाजन्य तृष्णा, लालसा और प्यास की भावना बहुत ऊपरी तल की है—

> *"एक पल के ही दरस में जग उठी तृष्णा अधर में,*
> *जल रहा परितप्त अंगों में पिपासाकुल पुजारी।"*

उनके सारे वेदन-अन्तर्वेदन का पर्यवसान 'रति-सुख' में ही होता है। 'मधूलिका', 'अपराजिता' के गीतों में इसी वासना की आवृत्ति-विवृत्ति हुई है। बाद को 'अंचल' ने भी अपनी 'क्षयी रोमान्स के प्रति अवांछनीय आसक्ति' को धिक्कारा और प्रगतिशील विचारों और भावनाओं को अभिव्यक्ति देने लगे। 'किरण-वेला' 'लाल-चूनर' आदि में उनकी प्रगतिशील कविताएं संग्रहीत हैं, लेकिन यहां भी नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण उतना ही संकीर्ण है।

प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी ने व्यक्ति के सुख-दुख, उल्लास-निराशा की अनुभूति-प्रवण और विषय-प्रधान अभिव्यंजना करते हुए भी जिन नये मानव-मूल्यों की सृष्टि की थी, कविता का जिन नयी अर्थभूमियों पर प्रसार किया था और काव्य के अन्तःस्वर में मानववादी उदात्तता की जो गरिमा भर दी थी, अंचल तक आते-आते उन मानव-मूल्यों, अर्थ-भूमियों और अन्तःस्वर की उदात्तता का सम्पूर्ण विघटन हो गया और छायावादी कविता का दायरा संकीर्णतर होता गया। छायावादी काव्य के उत्कर्ष और ह्रास की यह प्रक्रिया हिन्दी-कविता के विकास-क्रम की एक कड़ी

है। इसी समय प्रगतिवादी विचारधारा राष्ट्रीय-चेतना का नया संस्कार करने लगी थी। पंत, निराला, नरेन्द्र शर्मा और स्वयं 'अंचल' इस नई विचारधारा से प्रभावित होकर नये विचारों और शोषित-पीड़ित जनता की आकांक्षाओं को अपनी कविता में वाणी देने की ओर उन्मुख हुए। एक नये जीवनादर्श और नये मानवमूल्यों की उद्भावना होने लगी। 'दिनकर' 'नवीन' और उदयशंकर भट्ट जैसे अन्य समर्थ कवियों में भी इस नई मानववादी विचारधारा की प्रतिध्वनियाँ सुनाई देने लगीं। अनेक तरुण कवि प्रगतिशील भावनाओं की अभिव्यंजना करने लगे। लेकिन 'अज्ञेय' और कुछ दूसरे कवि, जिनका व्यक्तिवादी और आत्मकेन्द्रित मानस सामाजिक आकांक्षाओं के प्रति संवेदनाशील होने में सर्वथा असमर्थ था, प्रयोगशीलता के नाम पर विघटन की इस प्रक्रिया को काव्य की भाषा और अभिव्यक्ति के प्रकार में भी घसीट लाये, जिससे प्रयोगवादी धारा की कविता अपनी प्रेषणीयता भी खो बैठी।

छायावाद-युग की समाप्ति के बाद उत्तर-छायावाद युग की प्रगतिशील और प्रयोगशील प्रवृत्तियों के विकास-क्रम का विवेचन करने से पहले उन तीन महत्त्वपूर्ण कवियों का उल्लेख कर देना भी जरूरी है, जो न सम्पूर्णतः छायावादी हैं, न प्रगतिवादी और न इतिवृत्तात्मक शैली के ही, परन्तु जो इनमें से दो या तीनों धाराओं के सीमान्त छूते हैं।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (सन् १८९७—) की कविता में जहां एक ओर राष्ट्रीय आन्दोलन और देशभक्ति से प्रभावित विविध सामाजिक भावनाएं हैं, वहां दूसरी ओर रोमान्टिक भावों को आध्यात्मिक जामा पहनाने का प्रयास भी है। छायावादी कला-चेतना से पृथक् मार्ग पर चलने की प्रारम्भिक प्रवृत्ति पूरी तरह विकास नहीं कर सकी, उस पर दार्शनिकता का गहरा रंग चढ़ गया। 'कुंकुम' में संग्रहीत राष्ट्रीय आन्दोलन, गांधीवाद और प्रगतिवाद से प्रभावित गीतों में उनका व्यक्तिवाद 'दिनकर' की तरह प्रगति की इतिहास-चेतना का विश्वास-भरा गर्व-स्फीत स्वर लेकर प्रकट हुआ—

"मैं हूँ भारत के भविष्य का
मूर्तिमान विश्वास महान्,
मैं हूँ अटल हिमांचल-सम थिर
मैं हूँ मूर्तिमान बलिदान।"

देश में तीव्र होते हुए वर्ग-संघर्ष, मज़दूर-आन्दोलन और प्रगतिवादी विचारधारा के प्रभाव में 'नवीन' जी का भाव-प्रवण कवि-हृदय फेंकी पत्तल से उठाकर जठन खाते हुए इन्सान की दुर्दशा से मर्माहत और कुपित हो उठा और उन्होंने भी अन्य प्रगतिशील कवियों की तरह अपने कवि से मांग की :

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल-पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये
एक हिलोर उधर से आये।"

लेकिन इस प्रवृत्ति को 'नवीन' जी आगे नहीं ले जा सके, उनके श्रोता ऐसी नई 'तान' सुनने के प्रतीक्षाकुल ही बने रहे। 'अपलक' और 'क्वासि' की कविताओं में प्रेम की भावभूमि का दार्शनिक शृंगार करने का प्रयास है। *'तुम न आना अतिथि बनकर'* या *'मेरा क्या कालकलन'* इस ढंग की प्रतिनिधि रचनाएं हैं।

उदयशंकर भट्ट (सन् १८९७—) देश के विभाजन से पहले तक हिन्दी-क्षेत्र से बाहर लाहौर में रहे, जिससे उनकी कविताओं की ओर आलोचकों का ध्यान कम गया। प्राचीन दर्शन और इतिहास के विद्वान् होने के कारण भट्टजी ने 'तक्षशिला के खंडहरों में प्राचीन भारतीय संस्कृति का स्वर सुनकर अपनी वाणी को प्रसारित किया।' फिर 'राका' और 'विसर्जन' में छायावाद से प्रभावित होकर उन्होंने वेदना, अभाव और निराशा के गीत भी गाये, यद्यपि निराशा का स्वर उनके सहज आस्थाशील और आत्म-विश्वासी हृदय के अनुकूल नहीं था। अतः जब प्रगतिवादी विचार-धारा-हिन्दी-काव्य को प्रभावित करने लगी, उस समय भट्टजी की कविता ने भी नयी दिशा पकड़ी और उन्होंने 'मानसी' में विश्व के यथार्थ-दर्शन की अनुभूतिमय विवेचना करते हुए अपने अन्तिम उद्बोधनात्मक गीत में माँग की :

"समय के सभी साथ जीवन बदलते
समय को बदलता हुआ तू चला चल"

इसके बाद एक आशावादी की दृष्टि से प्रकृति और जीवन के अनेक दृश्यों और मार्मिक प्रसंगों को उन्होंने अगली रचनाओं में सरस अभिव्यक्ति दी। भट्टजी की शैली छायावाद के सीमान्त छूती-भर है, छायावादी नहीं है, यद्यपि भावना कहीं-कहीं स्वच्छन्दतावादी है। अभिव्यक्ति अधिकतर गोचर दृश्यस्तर की है, किन्तु कहीं-कहीं अप्रस्तुतों की भी योजना है और उत्प्रेक्षा और विरोधाभास की मात्रा भी पर्याप्त है। आशा, उत्साह, कर्म और जाग्रति का सन्देश उनकी कविताओं में बार-बार व्यक्त हुआ है, जिसमें प्रगतिशील कविता की अतिशयोक्ति-पूर्ण व्यंजना के पूरे दर्शन मिलते हैं :

"जाग उठा हूँ, जाग उठा हूँ!
एक बार फिर मरण निगल कर,
सांस-सांस में—
धराकाश में, नये प्राण भर!
जाग उठा हूँ! जाग उठा हूँ!"

रामधारीसिंह 'दिनकर' (सन् १९०८—) सजग सामाजिक चेतना के भाव-प्रवण कवि हैं। उन्होंने जिस समय लिखना शुरू किया उस समय छायावादी कविता में ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ मुखर हो उठी थीं, उसकी व्यापक सार्वजनीन सांस्कृतिक चेतना में वैयक्तिक निराशा और वेदना का स्वर प्रधान होता जा रहा था और कविता का श्रेय और प्रेय केवल कलावादी सौन्दर्य-साधन में सीमित होता जा रहा था। इस समय एक ओर इस प्रकार की सौन्दर्य-साधना और वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का आकर्षण तो था ही किन्तु दूसरी ओर प्रगतिशील विचारों ने जिस नई सामाजिक चेतना को जन्म दिया था, उसका आकर्षण भी कम प्रबल न था! हृदय और बुद्धि को अपनी-अपनी ओर खींचने वाले इन दोनों आकर्षणों के परस्पर द्वन्द्व के बीच 'दिनकर' को अपनी कविता के लिए नया युगानुकूल मार्ग निकालना पड़ा। 'रसवन्ती' तक की कविताओं में उनके सौन्दर्योपासक, एकान्त-प्रिय, यौवन की उमंगों से तरंगित मन और उनके हृदय के अतल में बहने वाली न्याय, मुक्ति और मानव-प्रगति के लिए संघर्ष करने वाली सामाजिक भावना में निरन्तर चलने वाले द्वन्द्व की कलात्मक विवृत्ति मिलती है। उनका व्यक्तित्व प्रयोगवादियों की तरह अपनी मध्यवर्गीय विवशताओं के आगे नतशिर होकर अपने कवि-गौरव का हनन नहीं होने देता। 'दिनकर' के आत्म-मन्थन में उनकी सामाजिक-भावना ही विजयी होती आयी है, और इसने उनको अभि-

व्यक्ति में ऐसा प्रखर आवेग और प्रवाह पैदा किया है जो अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। जीवन की वर्तमान दैन्यता और कुरूपता के प्रति विद्रोह की भावना को तीव्र अभिव्यक्ति देने के लिए उन्होंने नये विराट् प्रतीकों, लाक्षणिकता-प्रधान वक्र-भंगिमा और भाषण-कला में प्रयुक्त होने वाली अतिशयोक्ति-पूर्ण भाषा का प्रयोग किया।

"फेंकता हूँ लो तोड़-मरोड़ अरी निष्ठुरे! बीन के तार,
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख फूँकता हूँ भैरव-हुंकार।
नहीं जीते-जी सकता देख विश्व में झुका तुम्हारा भाल,
वेदना-मधु का भी कर पान आज उगलूंगा गरल कराल।"

दीन बालकों का भूख और दूध के लिए चीत्कार सुनकर कवि दर्प से उठकर चल पड़ता है :—

"हटो व्योम के मेघ पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
दूध-दूध ओ वत्स, तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।"

इस प्रकार अपने मन की उमंगों और लालसाओं से संघर्ष करते और जन-कल्याण की कामना करते हुए 'दिनकर' ने हिन्दी की प्रगतिशील कविता को वर्तमान जीवन की कठोर यथार्थ-चेतना का आधार दिया। 'कुरुक्षेत्र' में 'दिनकर' की प्रतिभा का पूरा उन्मेष दिखाई दिया। महायुद्धों की विभीषिका से पीड़ित विश्व-जनता की व्यापक शान्ति-कामना इस महाकाव्य में प्रतिबिम्बित हुई है। 'दिनकर' ने एक युग-द्रष्टा कवि की तरह अतीत इतिहास से कुरुक्षेत्र का प्रसंग चुनकर इस युग की केन्द्रीय समस्या—युद्ध और शान्ति—का उद्‌घाटन किया है। महाभारत की समाप्ति पर विजेता धर्मराज युधिष्ठिर इतने भयंकर नरसंहार से क्षुब्ध होकर वाण-शैया पर लेटे पितामह भीष्म के पास अपने मन में उठने वाली शंकाओं का समाधान माँगने जाते हैं। महाभारत के 'शान्ति-पर्व' की भी यही कथा है, लेकिन 'दिनकर' ने उसे युगानुकुल अभिव्यक्ति देकर प्रगतिशील मानवता की शान्ति-भावना को और अधिक गहरा बनाया। 'कुरुक्षेत्र' केवल विचार-विनिमय का महाकाव्य है, उसमें दो व्यक्तियों के बीच मानव-समाज की विविध समस्याओं पर, विशेषकर युद्ध और शान्ति की समस्या पर, विचारों का आदान-प्रदान ही होता है, इसलिए वहाँ रूढ़ अर्थों में कार्य-व्यापार का विकास खोजना व्यर्थ है। विचारों का आदान-प्रदान भाषण-कला की उदात्त भाव-सम्बलित तर्क-पद्धति से नये प्रतीकों और चित्र-भाषा द्वारा मूर्त्त ढंग से होता है।

"रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष
उसकी शिराएँ तोड़ो, डालियाँ कतर दो।"

शान्ति-स्थापन की समस्या पर धर्मराज की शंकाओं का समाधान करते हुए भीष्म अन्त में कहते हैं :—

"आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से,
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से;
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से;
स्नेह-बलिदान होंगे पाप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।"

'दिनकर' कविता के इस मानववादी प्रगतिशील पथ पर आज भी पूरे उत्साह से अग्रसर हैं।[1]

उत्तर छायावाद-युग

छायावादी-कविता के पूर्ण उन्मेष के काल में ही देश की राष्ट्रीय चेतना में एक नया मानवतावादी संस्कार होने लगा था। देश की स्वतन्त्रता का लक्ष्य केवल अंग्रेज़ों की राजनीतिक पराधीनता से मुक्ति पाना भर है, या हर प्रकार के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण, भेदभाव और अन्यायपूर्ण वर्ग-सम्बन्धों का अन्त करके समानता, न्याय और जनतन्त्र के आधार पर एक नए शोषण-मुक्त समाज और एक नई मानवतावादी संस्कृति की स्थापना करना है—यह प्रश्न सभी लोक-चेता विचारकों को मथित करने लगा था। गांधी जी के सत्य, अहिंसा और राम-राज्य के सिद्धान्तों में स्वतन्त्र-भारत के भावी समाज की रूप-रेखा स्पष्ट नहीं हुई थी। मार्क्स प्रवर्तित द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन और सोवियत् रूस में पूंजीवाद का अन्त करके एक नये साम्यवादी समाज की स्थापना ने इन लोक-चेता विचारकों को मनुष्य की सामूहिक मुक्ति के एक नए मानववादी जीवनादर्श से प्रेरित करना शुरू किया। सन् १९३४ के लगभग ही भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (जो भारत सरकार द्वारा अवैध घोषित कर दिये जाने पर सन् १९४२ तक गुप्त रूप से कार्य करती रही) और कांग्रेस-समाजवादी दल की स्थापना हो गई थी। इन दलों ने अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की राजनीतिक-आर्थिक गुलामी से मुक्ति पाने के लक्ष्य के साथ-साथ भारतीय सामन्तवाद के अवशिष्ट चिह्नों से किसानों को और भारतीय पूंजीवाद से मज़दूरों को मुक्त करके एक शोषण-रहित समाजवादी जनतन्त्र की स्थापना का लक्ष्य भी भारतीय जनता के सामने रखा। इस तत्त्ववाद और सामाजिक लक्ष्य में व्यक्ति-मानव और समष्टि-मानव के पूंजीवादकालीन दुर्निवार अन्तर्विरोध का प्रशमन किसी एक के दमन द्वारा नहीं, बल्कि दोनों के हितों की परस्परिता और समन्विति द्वारा ही साध्य है। अर्थात् मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण खत्म करके एक वर्गहीन समाज सभी मनुष्यों की उन्नति और विकास के समान साधन जुटायेगा। व्यक्ति और समष्टि का अन्तर्विरोध मौलिक नहीं है, परिस्थितिजन्य या और स्पष्टता से कहें तो वर्ग-समाजजन्य है। इसलिए वर्गहीन समाज में अन्ततः व्यक्ति का हित समाज का हित होगा और समाज का हित व्यक्ति का हित होगा। ऐसे शोषण-मुक्त समाज की स्थापना आज सम्भव हो गई है: विश्व-पूंजीवाद ह्रासोन्मुखी और संकट-ग्रस्त है और अपनी आत्मरक्षा के लिए युद्ध की तैयारियां कर रहा है। ऐतिहासिक सत्य की इस चेतना ने भारतीय साहित्यकारों को भी नयी प्रेरणा दी। सन् १९३६ में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जोश इलाहाबादी जैसे अग्रणी लेखकों और कवियों ने इस आन्दोलन का स्वागत ही नहीं किया, उसमें आगे बढ़कर भाग भी लिया।

हम पहले कह चुके हैं कि सन् १९३५-४० के काल में छायावादी कविता में ह्रासोन्मुखी

१—इस विवेचन में हम हिन्दी की हास्य-व्यंग शैली के कवियों और उनकी कविता का अलग से उल्लेख नहीं कर सके हैं, यद्यपि बालमुकुन्द गुप्त, हरिशंकर शर्मा, बेढब बनारसी, कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच', बेधड़क बनारसी, गोपाल प्रसाद व्यास और अनेक पुराने और नये कवियों की हास्य-व्यंग-मयी कविताओं की हिन्दी में समर्थ परम्परा है। इन कवियों ने राष्ट्रीय दृष्टिकोण से समाज के जीवन में उठने वाले सामयिक प्रश्नों पर अपने व्यंगों की बौछार से जन-चेतना को उद्बुद्ध करने में जो योग दिया है वह स्वतन्त्र रूप से अध्ययन का विषय है।

प्रवृत्तियां मुखरित हो उठी थीं। नये कवियों में व्यक्तिवादी चेतना व्यापक लोक-मंगल की दृष्टि और आशा और उल्लास की भावना छोड़कर आत्म-निष्ठ और निराशावादी होती जा रही थी। हम यह भी देख चुके हैं कि 'पन्त', 'निराला', 'नवीन', 'दिनकर' आदि श्रेष्ठ कवियों में नये सामाजिक आदर्श से प्रेरित प्रगतिशील भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति भी होने लगी थी। प्रगतिशील आन्दोलन ने इस नये उत्थान की प्रक्रिया को नयी स्फूर्ति और गति प्रदान की। उत्तर-छायावादी-युग में अन्य अनेक तरुण-कवि प्रगतिवाद-प्रेरित नये जीवनादर्श और जन-मंगल के उत्साह भरे गीत गाते हुए सामने आये। इनमें नरेन्द्र शर्मा तो थे ही, शिवमंगलसिंह, 'सुमन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, नागार्जुन, रांगेय राघव और रामदयाल पाण्डेय प्रमुख थे। अनेक छायावादी ढर्रे के तरुण कवियों—शम्भूनाथसिंह 'रसिक' विद्यावती 'कोकिल' आदि—में प्रगतिशील विचारों की अनुगूंज सुनायी दी। गांधीवादी कवियों—सोहनलाल द्विवेदी, सुधीन्द्र आदि—आदि—ने भी नये विषयों पर कविताएं लिखीं। यहां तक कि व्यक्ति-चेतना से आक्रान्त अनेक प्रयोगवादी कवि—गिरजाकुमार माथुर, गजानन माधव 'मुक्तिबोध', नेमिचन्द जैन, भारतभूषण अग्रवाल, शमशेरबहादुर सिंह, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा आदि—भी प्रगतिशील धारा से अप्रभावित न रह सके, और उन्होंने नई पीढ़ी के तरुण प्रयोगशील कवियों को भी स्वस्थ और ठोस विचार-वस्तु देने की प्रेरणा दी—विशेषकर गिरिजाकुमार माथुर की रचनाओं में रूपगत प्रयोग नई और स्वस्थ विचार-वस्तु की अभिव्यंजना के साधन बने। दूसरे महायुद्ध के पांच-छै वर्षों के बीच हिन्दी में प्रगतिशील कविता का ही सर्वाधिक जोर रहा। उस समय ऐसा लगता था कि इन महान् सामाजिक आदर्शों की प्रेरणा हिन्दी-काव्य में एक ऐसा युगान्तर उपस्थितकर रही है जिसका पूर्ण उन्मेष छायावादयुग की तरह ही अनेक महान् प्रतिभाओं के प्रस्फुटन से महिमाशाली बनेगा। लेकिन तरुण प्रगतिशील कवि स्वतन्त्र रूप से किसी नए काव्यादर्श का अभी सम्यक् विकास भी न कर पाये थे कि उन्होंने राजनीतिक दलबन्दी की मतवादी और साम्प्रदायिक संकीर्णताओं में पड़कर अपनी काव्य-प्रतिभा को स्वयं ही कुंठित कर डाला। इस बीच, और विशेषकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद, राजनीतिक दलों की स्पर्धा और परस्पर विरोध ने राष्ट्रीय-जीवन की स्वाधीनता-संग्राम के दिनों वाली एकता को विच्छिन्न कर दिया था, जिससे विभिन्न राजनीतिक दलों में बँटे हुए इन सभी कवियों का राष्ट्रीय-जीवन से एक प्रकार से विच्छेद-सा हो गया। भावना की समग्रता पुनः विशृंखलित हो गई और कवि अपने दलगत विचारों की अनुभूतिहीन विवृत्ति करने लगे। इस बीच कोई ऐसी महान् प्रतिभा का नया कवि नहीं पैदा हुआ जो इन दलगत संकीर्णताओं के घेरे को तोड़कर समग्र-भाव से युग-जीवन की नई प्रगतिशील चेतना और सत्य को सार्वदेशिक और सार्वजनीन स्वर में कलात्मक अभिव्यक्ति देता। युग-सत्य नहीं बदला है, केवल उसका बोध तत्काल मलिन और खंडित हो गया है। इसके लिए विपरीत परिस्थितियों से अधिक इन तरुण प्रगतिशील कवियों की असामर्थ्य और असंवेदनशीलता ही उत्तरदायी है, जो उन्हें सत्य की उपलब्धि नहीं होने देती, और संकीर्ण पथों पर भटका देती है।

उत्तर-छायावाद-युग की दूसरी धारा हिन्दी की वह कविता है, जिसमें व्यक्तिवाद की परिणति घोर अहंवादी, स्वार्थप्रेरित, असामाजिक, उच्छृंखल और असन्तुलित मनोवृत्ति के रूप में हुई है। इस कविता का शायद अभी तक अन्तिम रूप से नामकरण नहीं हो पाया है, इसीलिए प्रयोगवादी, प्रतीकवादी, प्रपद्यवादी या नई कविता—इन अनेक नामों से इसे पुकारा जाता है। प्रथम-युद्धोत्तरकालीन पाश्चात्य कविता में जिस तरह का व्यक्तिवाद अनेक साहित्यकवादों और प्रवादों की दुहाई देता हुआ व्यक्त हुआ और उसने काव्यकी भाषा, वस्तु-विन्यास और व्यंजनामें जैसे विचित्र बौद्धिक प्रयोग किए, कुछ

उससे मिलती-जुलती या प्रभावित हिन्दी की तथाकथित प्रयोगवादी कविता भी है। इस कविता में रागात्मक मार्ग से नये अर्थ की सृष्टि करके मानव-भावना का संस्कार और चेतना का विस्तार करने का प्रयास नहीं है, बल्कि मनुष्य के जीवनबोध को ही खण्डित और विकृत बनाना इसका सहज उद्देश्य दीखता है। प्रयोगशीलता का आडम्बर तो केवल समाजद्रोही भावनाओं और जीवनके प्रति घोर अनास्था, कुंठा और विद्रूपात्मक उद्‌गारों को एक दुरूह संकेतात्मक भाषा, अस्वाभाविक अलंकार-योजना और अहंवादी और बहुधा ओछेतल की वचन-भंगिमा में छिपाने का उपक्रम मात्र है। 'अज्ञेय' और उनके समानधर्मा दूसरे मध्यवर्गी बुद्धिजीवी अपनी व्यक्ति-चेतना से इतने आक्रान्त रहे हैं कि वे सामाजिक-जीवन के साथ किसी प्रकार के सामंजस्य की कल्पना ही नहीं कर सकते। इस एकान्तिक अहंनिष्ठा ने इस वर्ग के कवियों को अत्यन्त 'सेल्फ़ कान्शस' और तुनुक मिज़ाज बना दिया है और चूँकि समाज के बीच रहकर ही वे जीवन-यापन करते हैं, इसलिए उनकी समाजद्रोही भावनाएँ और जान-बूझकर साहित्य और जीवन के मूल्यों का विघटन करने की चेष्टाएँ लोकचेता आलोचकों और सहृदय पाठकों की कड़ी निन्दा की भाजन बनती आई हैं। इन कवियों की कविताओं में बहुधा इन निन्दाओं और आलोचनाओं के संकेत रूप में उत्तर दिए जाते रहे हैं और अपनी असमर्थताओं और दुर्बलताओं का औचित्य सिद्ध किया जाता रहा है। 'अज्ञेय' की कविताओं में अपराधी मनोवृत्ति से की गई ऐसी आत्मरक्षात्मक अभिव्यक्तियों की बहुलता है। साधारणतया प्रयोगवादी कविताओं में एक दयनीय प्रकार की झुंझलाहट, खीझ, कुंठा, किशोर औद्धत्य और हीन भाव ही व्यक्त हुआ है, जो कवि के व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का नहीं, खण्डित करने का मार्ग है। महान् कविता का जन्म सारे संसार को, समाज को, जीवन के प्रगतिशील आदर्शों और नैतिक भावनाओं को एक उद्दण्ड और छिछोरे बालक की तरह मुँह बिचकाने से नहीं होता। सामाजिक बन्धनों के प्रति व्यक्तिवादी प्रतिवाद का यह तरीका स्वांग बनकर ही रह जाता है। आजकल बड़े संगठित रूप में प्रयोगवादी कविता को हिन्दी की नई और श्रेष्ठतर कविता सिद्ध करने का प्रयत्न चल रहा है। तर्क दिए जाते हैं कि उसके आलोचकों में या तो इस कविता को समझने की सामर्थ्य नहीं है या फिर वे अपने रूढ़िपन्थी दृष्टिकोण के कारण इस नये उत्थान का स्वागत नहीं कर पाते। छायावाद के आरम्भ में आचार्य शुक्ल भी ऐसा नहीं कर पाए थे। इतिहास की पुनरावृत्ति हो रही है। लेकिन इन कवियों की आत्म-प्रवंचना और उनके इतिहास-ज्ञान की शून्यता स्वतः सिद्ध है। 'परिमल' और 'पल्लव' की कविताओं की सांस्कृतिक चेतना और व्यापक सामाजिक दृष्टि में उच्चतर जीवन-मूल्यों के प्रति एक सहज आस्था थी। उसमें मनुष्य के प्रेम और सौन्दर्य की पुनीत भावनाओं की खिल्ली नहीं उड़ाई गई थी, न मनुष्य की पशुता को गौरवान्वित किया गया था, जिस तरह अज्ञेय ने अपनी कविता 'माहीवाल से' में किया है।

'क्रौंच बैठा हो कभी वल्मीक पर
तो मत समझ—
वह अनुष्टुप बाँचता है संगिनी के स्मरण के—
जान ले वह दीमकों की टोह में है।'

यह ठीक है कि प्रयोगवादी कविता में यत्र-तत्र अच्छे भाषा-प्रयोग भी मिलते हैं; लेकिन उसका अन्तरंग इतना खोखला है कि ऊपर की सारी चमक-दमक और पालिश पाठक के मन में भी व्यर्थता का भाव ही जगाती है।

हिन्दी कविता के समग्र इतिहास को दृष्टि में रखकर हम अनिवार्यतः इस परिणाम पर

पहुँचते हैं कि प्रयोगवादी कविता कोई नया उत्थान नहीं है; बल्कि छायावादी कविता के ह्रास का ही विकृति-रूप है, और हिन्दी की विशाल काव्य-धारा में प्रयोगवादी कवियों की देन अभी बूँद के समान ही है।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद अनेक नए कवि पुनः प्रगतिशील सामाजिक भावनाओं को अभिव्यक्ति देने की दिशा में आगे बढ़े हैं। ये सच्चे अर्थों में प्रयोगशील भी हैं; क्योंकि वे अपने नये जीवन-बोध की अनुभूति को मूर्त्त अभिव्यक्ति देने के लिए भाषा, शैली और छन्दों में नये प्रयोग भी कर रहे हैं इनमें भवानी प्रसाद मिश्र, नीरज, रंग, शील, वीरेन्द्र मिश्र, ठाकुर प्रसाद सिंह, गोपालकृष्ण कौल, शेष, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, चिरंजीत, नामवरसिंह, रमानाथ अवस्थी, देवराज 'दिनेश' और 'त्यागी' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी-काव्य के नये उत्थान और उसके द्वारा नये जीवन-मूल्यों के निर्माण की आशा, सामूहिक मुक्ति के विकास के आदर्श को एक व्यापक सार्वजनीन सांस्कृतिक चेतना के रूप में अपनी आत्मा का अनुभूत सत्य बनाकर वाणी देने पर ही निर्भर करती है। यह कार्य भविष्य का कोई युगद्रष्टा कवि ही कर सकेगा। किन्तु मनुष्य की सामूहिक प्रगति में विश्वास लेकर चलने वाले इन तरुण कवियों का प्रयास उस आगामी उत्थान की ही पीठिका तैयार कर रहा है।

डा० सत्येन्द्र

कवि और काव्य

काव्य के सम्बन्ध में कोई भी निश्चयात्मक अभिमत देना सरल नहीं। ब्रह्म की भाँति काव्य के सम्बन्ध में भी विविध मत हैं और वे परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। इस मतभेद के दो छोर हैं—एक छोर पर वे विद्वान् आचार्य हैं जो काव्य को ब्रह्म; उसके आनन्द को ब्रह्मानन्द अथवा ब्रह्मानन्द सहोदर मानते हैं। इनके लिए काव्य शाश्वत है; युग-युग में सत्तावान।

दूसरे छोर पर वे लोग हैं जो काव्य को कार्य-कारण की परम्परा का परिणाम मानते हैं, जो इसका केवल ऐतिहासिक महत्त्व स्वीकार करते हैं, ऐसे लोगों में एक सम्प्रदाय उन लोगों का भी है जो यह मानते हैं कि इस व्यवसाय-युग में गद्य की प्रधानता रहेगी और काव्य धीरे-धीरे समाप्त हो जायगा।

और इन दोनों छोरों के बीच में अनेकों प्राच्य और पाश्चात्य जाति के संप्रदाय हैं जिनमें—अलंकारवादी, वक्रोक्तिवादी, रीतिवादी, रसवादी, ध्वनिवादी, अभिव्यंजनावादी, कलावादी, छायावादी, प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, आदि हैं।

अलंकारवाद, वक्रोक्तिवाद, रीतिवाद, रसवाद, ध्वनिवाद प्राच्य सम्प्रदाय हैं। भारतीय आलोचक और विचारक इन्हें उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता। आधुनिक-युग में नयी आलोचना दृष्टि पाकर भी उसे इस प्राचीन परम्परा की ओर संकेत करना ही होता है। क्योंकि प्राच्य हो चाहे पाश्चात्य काव्य-रचना में अलंकार किसी न किसी रूप में आते ही हैं—वक्रोक्ति और रीति तथा ध्वनि और रस भी किसी न किसी भाँति कविता में स्थान पा ही जाते हैं।

शेष नये सम्प्रदाय पाश्चात्य प्रणाली और विचारधारा के सम्पर्क से प्राप्त हुए हैं। आज भी 'कविता' नाम से रचनाएँ होती हैं। आज भी कविता और काव्य पर आलोचनाएँ और विचार लिखे जाते हैं, यह सत्य है; और वेदों में भी काव्य है, ऐसा लोग मानते हैं। तब सबसे बड़ा आश्चर्य यहीं प्रस्तुत होता है। वेदों से लेकर आजतक काव्य की धारा प्रवाहित होती चली आयी है। वेद भी काव्य है, रामायण भी काव्य है, कालिदास का मेघदूत भी काव्य है, चन्द का पृथ्वीराज रासो, कबीर की साखियाँ, तुलसी का रामचरित, सूर के पद, बिहारी के दोहे, भूषण के कवित्त, गिरधर कविराय की कुंडलियाँ, प्रसाद जी की कामायनी, गुप्त जी का जयभारत, पन्त जी का पल्लव, निराला जी का कुकुरमुत्ता, गोपालप्रसाद व्यास का 'एजी कहूँ कि ओ जी कहूँ'–सभी काव्य संज्ञा से अभिहित होते हैं। आज मासिक पत्रों में साप्ताहिकों और दैनिकों में भी काव्य के दर्शन हमें होते हैं।

इस समस्त ऊहापोह से एक तो सत्य यह प्रकट होता है कि काव्य की एक परम्परा है—एक पुष्ट परम्परा है। परम्पराओं का जहाँ बोझ हमें ढोना होता है, वहाँ उनसे कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्व भी प्राप्त होते हैं। परम्परा के द्वारा हमें वे आधारभूत तत्त्व ज्ञात हो जाते हैं जिनसे काव्य का

स्वरूप निर्मित होता है। इस समस्त स्वरूप-निर्माण का एक फल तो निश्चय ही होना चाहिये कि उसके स्वरूप के साथ किसी भी युग में कोई खिलवाड़ नहीं की जा सकती।

काव्य-रचना प्रत्येक युग में हुई है, और प्रत्येक युग में एक नहीं अनेकों व्यक्ति हुए हैं, किन्तु उन सबमें से कुछेक को ही 'कवि' होने और काव्यकार होने का सम्मान मिल सका है। भवभूति ने काव्य की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में दो बातें लिखीं—

१—पृथ्वी बहुत लम्बी-चौड़ी है, यदि काव्य में कुछ काव्यत्व है तो एक स्थान पर नहीं तो दूसरे स्थान पर उस काव्य की प्रतिष्ठा हो सकती है।

२—समय अनन्त है, यदि आज नहीं तो कल प्रतिष्ठा मिल सकती है।

इन दो कारणों से भवभूति बहुत आश्वस्त था। उसे अपनी प्रतिभा में विश्वास था। किन्तु आजतक लिखे जाने वाले अगणित काव्य नामक ग्रंथों में से केवल कुछेक ही छंट कर ऊपर आ सके। इससे यह सिद्ध है कि पृथ्वी की विशालता और समय की अनन्तता भी प्रत्येक कवि के लिए सहायक नहीं होती, केवल प्रतिभाशाली ही वह सम्मान पा सकते हैं। अतः जहाँ तक युग-युग का प्रश्न है आज के आलोचक और विचारक को भयभीत होने की आवश्यकता नहीं क्योंकि जिन रचनाओं से आज वह क्षुब्ध है, वे सम्भवतः काल पर विजय नहीं पा सकेंगी, समय अपनी तराजू में उन्हें तोलकर थोथा समझ कर एक ओर फेंक देगा।

पर, आलोचक और विचारक अपने युग में भी रहता है, और युग के सृजन-कर्म से उसका और उसके दायित्व का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह युग को समझना चाहता है, अपने युग को सम्भला हुआ देखना चाहता है, और उसे सम्भालने की ओर भी प्रयत्नशील रहना चाहता है—फिर वह यह भी सोचता है कि वह ऐसे युग में ही जन्म लेने वाला सिद्ध हो जिसमें उच्च प्रतिभाएँ हुई हैं। क्यों न उसके अपने युग में ही कालिदास-शेक्सपीयर गेटे जैसी प्रतिभाएँ उत्पन्न हों जो काल-चक्र में पिस न सकें, काल के चंगुल से बची रहें। आलोचक तथा विचारक की ये सभी भावनाएँ महत् हैं, इसी लिए वह अपने युग का पर्यवेक्षण करता है। इस पर्यवेक्षण से उसे विदित होता है कि काव्य-क्षेत्र में कहीं कोई भारी भ्रम, अभाव या असमर्थता है।

प्रतीत होता है कि इस क्षेत्र में कुछ भ्रम अवश्य है। वर्तमान काल में इतने विवाद और वाद हैं कि भ्रम होना अस्वाभाविक नहीं।

सबसे मौलिक भ्रम काव्य के विषय में यह है कि वह 'रूप' (फौर्म) को महत्त्व दे या 'वस्तु' (मैटर) को ही या दोनों को समन्वित रखे। 'तथ्य' को महत्त्व दे या सत्य को, या दोनों को। पूर्व को महत्त्व दे या पश्चिम को, या दोनों को। परम्परा में चले, या स्वच्छन्दता को अपनाये, या दोनों को। बुद्धिवादी हो या हृदयवादी या दोनों का समन्वय करे, पदार्थवादी दृष्टिकोण से चले या अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से या दोनों का समन्वय ढूंढ़े, आदि-आदि!

आज का युग है ही संघर्ष का युग—तभी मैथिलीशरण गुप्त ने इसे 'द्वापर' की संज्ञा दी। किन्तु भ्रम आज के युग में ही हो ऐसा नहीं, प्रत्येक युग में भ्रम की स्थिति किसी-न-किसी रूप में अवश्य रही है। फलतः भय भ्रम का नहीं भ्रम से ग्रस्त होने का है। भ्रम-ग्रास से बचा जा सकता है—ज्ञान के प्रकाश से। किसी भी पहलू अथवा पक्ष को कवि अपना सकता है, किन्तु उसमें उसे बहुत ईमानदार रहने की आवश्यकता है, और उस पक्ष से ज्ञान के बलपर तादात्म्य स्थापित करने की आवश्यकता है। बिना विषय अथवा वस्तु से अर्थात् वर्ण्य से तादात्म्य हुए काव्य भ्रमरहित नहीं हो सकता। अंग्रेज़ी में कहा गया है। 'Knowing is Being' इसी को अपने यहाँ भी

बताया गया है—'जानत तुमहिं-तुमहि होइ जाई'—तत्त्वमसि' ज्ञान का ही परिणाम है। अतः विषय अथवा वस्तु का निर्भ्रम ज्ञान ही कवि को भ्रम-त्रास से बचा सकता है। हमें आधुनिक काव्य के अध्ययन-मनन से यही देखना होगा कि कितने ऐसे कवि हैं जो यथार्थ में विषय-वस्तु के ज्ञान से तादात्म्य प्राप्त करके लिख रहे हैं—केवल दादुरावृत्ति अथवा शृगाल-रोदन नहीं कर रहे। बिना तादात्म्य के निजी अनुभूति का अभाव रहेगा। अनुभूति-हीन काव्य भ्रम-ग्रस्त होगा, काव्य नहीं कहा जा सकेगा, और आनन्द के स्थान पर विषाद और विभ्रम पैदा करेगा। इस बौद्धिक युग में यह अत्यन्त आवश्यक है कि इस तादात्म्य-प्राप्ति के लिए उचित ईमानदारी अपने कवि-कर्म के विषय में हो। 'ईमानदारी' साधना मार्ग है, ज्ञान उसका ज्ञातव्य है और तादात्म्य प्राप्तव्य है। तादात्म्य प्राप्त होने पर कवि सिद्ध कवि हो जायगा। प्रत्येक सिद्ध कवि का अपने विषय के साथ निश्चित तादात्म्य मिलेगा। यह किसी भी काव्य की परीक्षा से देखा जा सकता है।

भ्रम ही नहीं अभाव भी दिखायी पड़ता है। अभाव है काव्य के रूपों के अभ्यास का। भ्रम की स्थिति का पता सहज ही नहीं लगता। किन्तु काव्य के रूपों के अभ्यास के अभाव का पता तुरन्त लग जाता है। प्रत्येक विषय या वस्तु जब काव्य का रूप ग्रहण करती है, तब वह अपना एक निजी रूप ग्रहण करती है। इतने प्रकार के छन्दों का निर्माण, इतने काव्य-रूपों का सृजन इसी आवश्यकता के कारण हुआ। आज भी जो नए काव्य-रूप खड़े हो रहे हैं उनमें भी यही मर्म व्याप्त है। हमारे अधिकांश आधुनिक कवि इस मर्म से अपरिचित हैं। फलतः न तो वर्ण्य-विषय-वस्तु से उनका तादात्म्य हुआ है, न रूप का ही अभ्यास। यदि वर्ण्य-विषय-वस्तु से तादात्म्य कवि का न हो, किन्तु उसे यह साधारण ज्ञान हो कि किस रूप में कैसा विषय समा सकता है और उस रूप का अभ्यास करके उसमें विषय को अभिव्यक्त करे तो भी वह कवि की संज्ञा का अधिकारी हो सकता है।

आज हमें देखने को यह मिलता है कि रूप का अभ्यास तो किञ्चित भी नहीं। प्रयोग प्रत्येक युग में होते हैं, प्रयोग प्रयोग के सिद्धान्त के आधार पर भी हो सकते हैं, किन्तु प्रत्येक प्रयोग के लिए कवि में एक ईमानदारी और निर्भ्रमता तो अनिवार्य है। क्योंकि विषय अथवा वस्तु के साथ प्रयोग का प्रश्न आ ही नहीं सकता। प्रयोग तो रूपों में ही हो सकता है। कारण स्पष्ट है कि विषय-वस्तु वह जैसी ही हो उद्घाटित हो सकती है, वह प्रयोग का विषय नहीं हो सकती। हाँ, उसके प्रेषण का माध्यम कवि की अपनी वस्तु है। उसमें वह प्रयोग कर सकता है। फलतः प्रयोगवादी के लिए 'रूप की सत्ता' ही प्रधान है। ऐसा प्रयोगवादी' 'अस्तित्ववादी' 'ऐग्जस्टेंशियलिज़्म' में विश्वास रखने वाले की तरह रूपसृष्टि को महत्त्व प्रदान कर सकता है, किन्तु उस दशा में उसे इस रूप-ज्ञान के विषय में भी निर्भ्रम होने की आवश्यकता होगी। रूप का सम्बन्ध अक्षर, अक्षर के वर्ण [ध्वनि के रूप, रंग, प्रभाव को वर्ण कहेंगे], वर्णों की व्यवस्था [संस्कृत-शास्त्र की रीति], वर्ण समुच्चयः शब्द की सत्ता, उनके अर्थ और अर्थों और शब्दों के अक्षर स्वरूप के प्राण-ध्वनि, उनमें विद्यमान अर्थ तथा ध्वनि की गति, शब्दों से निर्मित वाक्य, वाक्य की स्फोट-शक्ति—इन सबका जबतक ईमानदारी से सहज ही निर्भ्रम ज्ञान प्राप्त कर वह इनसे तादात्म्य प्राप्त नहीं कर लेता, वह रूप-सृष्टि कैसे कर सकता है? और कैसे वह प्रयोग का कर्ता माना जा सकता है। फलतः आज के कवि को यह सिद्ध करके दिखाने की आवश्यकता है कि वह कवियों की दीर्घ परम्परा में आगे की कड़ी है, यों ही कुछ विशृंखलित वस्तु नहीं।

काव्य एक सामाजिक सांस्कृतिक ऐतिहासिक परम्परा की देन है और प्रत्येक देश-काल में वह इसी अनुकूलता के साथ फलता-फूलता है और कल्याणकारी होता है। नयी उद्भावनाएँ, नये

उन्मेष, नूतन सृजन उधार लिए हुए और थेगरी के रूप के नहीं हो सकते, वे परम्परा के बीजों में होने वाली देश-काल की नयी रसायन के फल होते हैं। हमारी कोई भी अभिव्यक्ति मात्र व्यक्तिगत नहीं हो सकती, उसका एक घनिष्ठ सामाजिक मूल है क्योंकि व्यक्ति अत्यंत व्यक्तिगत हो जाने पर समाज के लिए मृत हो जाता है; मृत की अभिव्यक्ति कल्याण नहीं कर सकती, वस्तुतः तो व्यक्ति इतना व्यक्तिगत होते ही या तो आत्मघात कर लेगा या समाज से सम्बन्ध विच्छिन्न करने की स्थिति वाला व्यक्ति बन ही नहीं सकेगा। फलतः काव्य के किसी भी सृजन को 'व्यक्ति'—सत्ता के तर्क पर नहीं तोला जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी पृष्ठभूमि की भूमिका से पृथक् खड़ा होने की कल्पना कर ही नहीं सकता। फिर कोई भी 'रूपसृष्टि' परम्परा से आमूल विच्छिन्न कैसे हो सकती है। आज हमारे कवि को उस समस्त परम्परा को हृदयंगम करके ही काव्य का कोई शब्द उच्चारण करना चाहिए। किन्तु, यह सामर्थ्य सभी में न होती है, न हो सकती है। यही कारण है कि आज का कवि किसी एक क्षणिक भाव के उद्भास को ही बहुत अधिक महत्त्व प्रदान करके उसे नूतन सृष्टि कहने के लिए आगे बढ़ता है, या शब्द-योजना की किसी अद्भुत प्रणाली की परिकल्पना से मुदित होकर उसे एक देन के रूप में आग्रह से प्रस्तुत करने को व्यग्र हो उठता है। फलतः सृष्टा की शक्तियाँ बिखर जाती हैं।

हिन्दी के कवि का आज विशेष दायित्व है। उसे हिन्दी भाषा की सम्पत्ति को ही समृद्धि नहीं करना, भारतीय-भाव-सम्पत्ति को समृद्ध करना है और विश्व में उसकी चमक को अद्वितीय सिद्ध करना है ? यह केवल वाग्जाल या भ्रम में भटकने से नहीं हो सकता। इसके लिए कवि-कर्म के योग्य निष्ठा की आवश्यकता है, प्रतिभा उनमें है इसे माना जा सकता है।

डा० नगेन्द्र

काव्य की रागात्मकता और बौद्धिक प्रयोग

सबसे पहले भाव-तत्त्व और काव्यानुभूति के बुद्धिगत सम्बन्ध को लीजिए। काव्य के विषय में और चाहे कोई सिद्धान्त निश्चित न हो, परन्तु उसकी रागात्मकता असंदिग्ध है। इसे पौरस्त्य और पाश्चात्य दोनों ही काव्य-शास्त्र निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार करते हैं। कविता मानव-मन का शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है। यह एक विश्वजनीन सत्य है, और कविता की यही चरम सार्थकता है। समय-समय पर बुद्धि और राग में थोड़ी-बहुत प्रतियोगिता रही हो वह दूसरी बात है, परन्तु कभी भी बुद्धि को राग के स्थान पर काव्य का प्राणतत्त्व होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। जब कभी बुद्धि-तत्त्व राग-तत्त्व के ऊपर हावी हुआ है, काव्य-तत्त्व भी उसी अनुपात से क्षीण हो गया है। काव्य का यह मापदंड छोटे-बड़े सभी कवियों के विषय में लागू रहा है। दांते, तुलसी, मिल्टन, प्रसाद जिस किसी कवि ने भी बौद्धिक तत्त्व के प्रति पक्षपात दिखाते हुए राग की उपेक्षा की है, काव्य के पारखी ने तुरन्त ही उसके बुद्धि-वैभव की प्रशंसा करते हुए भी काव्य-गुण की क्षीणता का निर्णय दे दिया है। इसका निषेध करने का साहस टी० एस० इलियट में भी नहीं है। काव्य की सार्थकता इसी में है कि वह राग को संवेदनीय बनाये; बौद्धिक तत्त्व को संवेदनीय बनाना काव्य का काम नहीं है। शक्ति का साहित्य अथवा ललित साहित्य वस्तु के साहित्य से इसी बात में मूलतः भिन्न हैं। यह अन्तर, जब तक काव्य का अस्तित्व है तब तक बना रहेगा, इनका तिरोभाव होने से काव्य के अस्तित्व पर ही आघात होता है। प्रयोगवादी कवि ने नवीनता की झोंक में इसी मूल सिद्धान्त का तिरस्कार कर काव्य के मर्म पर चोट की है, और इसका परिणाम यह हुआ कि उसकी रचना प्रायः काव्य नहीं रह गई है, उसमें मन को स्पर्श अथवा चित्त को द्रवित करने की शक्ति नहीं रही। दूसरे शब्दों में उसमें रस का अभाव है। पहले तो उसका अर्थ ही हाथ नहीं पड़ता और यदि दिमाग़ को खुरच कर उसका अर्थ निकाल भी लिया जाय तो पाठक के मन का प्रसादन नहीं नहीं होता, और उसे एक प्रकार की खीझ-सी होती है।

प्रयोगवादी कवि का दूसरा आग्रह है उपचेतन की उलझी हुई संवेदनाओं का यथावत् चित्रण। यहाँ भी वह एक भयंकर मनोवैज्ञानिक त्रुटि करता है। अन्तर्चेतन की संवेदनाएँ प्रायः सभी उलझी होती हैं। कला या काव्य की सार्थकता ही यह है कि वह उस अरूप को रूप देता है, उलझे हुए संवेदनों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करता है। क्रोचे के सिद्धान्त में थोड़ा प्रतिवाद मानते हुए भी इस बात का विरोध नहीं किया जा सकता कि सहजानुभूति से पूर्व अनुभव का स्वरूप संवेदनाओं की गुत्थियों से भिन्न नहीं है। कवि में सहजानुभूति की शक्ति जन-साधारण की अपेक्षा अधिक होती है। अतएव जन-साधारण जिन उलझे हुए संवेदनों का अनुभव भर करके रह जाता

है, कवि उनकी सहजानुभूति कर उन्हें रूप दे सकता है। यही मौलिक कवि-कर्म है, और इसीलिए एक प्राकृतिक आवश्यकता के रूप में कविता का उद्भव हुआ। परन्तु प्रयोगवादी अपने मन की उलझी हुई संवेदनाओं को यथावत् अर्थात् उसी उलझे रूप में उपस्थित करने के लिए उलटे-सीधे प्रयत्न करता हुआ अभिव्यंजना के मूल सिद्धान्त का ही तिरस्कार करता है। वास्तव में उसके प्रयत्न की अनिवार्य असफलता ही उसके सिद्धान्त की असंगति का अकाट्य प्रमाण है।

साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियों के रुद्ध हो जाने की बात भी काफी विचित्र है। प्रयोगवादी की सफाई है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियाँ आज के जीवन की अतिशय उत्तेजना को वहन करने में असमर्थ है। नई प्रणालियों की उद्भावना अभी नहीं हुई, इसलिए कवि अपने अर्थात् व्यक्ति के अनुभूत को सहृदय समाज का अनुभूत बनाने में असमर्थ रहता है। परन्तु यह बात नहीं है। कवि नवीन प्रयोगों की धुन में साधारणीकरण के मूल सिद्धान्तों का ही निषेध रहता है। वास्तव में साधारणीकरण शैली का प्रयोग न होकर एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसका मूल आधार है—मानव-सुलभ सह-अनुभूति। इसमें सन्देह नहीं कि आज का जीवन विगत जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक उलझा और पेचीदा हो गया है और मानव-मन की प्रवृत्तियाँ भी उसी अनुपात से निविड़ एवं जटिल हो गई हैं। फिर भी साधारणीकरण के सिद्धान्त में इससे कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि कवि मन की निविड़ता के साथ सहृदय के मन की निविड़ता भी तो उसी अनुपात से बढ़ गई है। जिन परिस्थितियों ने कवि के मन को प्रभावित किया है उन्होंने सहृदय के मन पर भी प्रभाव डाला है। अतएव कवि और सहृदय के मानसिक धरातल में एक-सा परिवर्त्तन होने के कारण साधारणीकरण की स्थिति वैसी ही रहती है; परन्तु वास्तविकता यह है कि कवि साधारणीकरण का प्रयत्न ही नहीं करता। वह विशेष को साधारण रूप में प्रस्तुत करने के बजाय विशेष रूप में ही प्रस्तुत करने का बेतुका प्रयत्न करता है। आखिर उसके और सहृदय के बीच मानसिक सम्पर्क स्थापित करने का माध्यम तो वही हो सकता है जो दोनों के लिए साधारण हो। परन्तु वह इस साधारण को पुराना समझकर नये माध्यम की खोज में न जाने क्या-क्या चमत्कार दिखाता है। लेकिन वास्तव में यह-सब कुछ नहीं है। यह कवि की सहजानुभूति की विफलता मात्र है। उसने उलझन को एक प्रयोगवादी सिद्धान्त के रूप में ऐसे आग्रह के साथ स्वीकार कर लिया है कि वह उसमें एक प्रकार के गौरव का अनुभव करता है। एक तो उसकी संवेदनाएँ ही इतनी उलझी हुई हैं कि उनकी सहजानुभूति अर्थात् उन्हें बिम्ब-रूप में प्रस्तुत करना अपेक्षाकृत कठिन है, दूसरे वह उलझन को ही संवेदनीय मान बैठा है। परिणाम यह होता है कि उसकी अभिव्यक्ति सर्वथा विफल रहती है। इसके अतिरिक्त अनेक स्थितियों में इस विफलता का कारण कवि में सहजानुभूति की अक्षमता भी होती है। कवि की अनुभूति में ही इतनी शक्ति नहीं होती कि वह संवेद्य को बिम्बरूप में ग्रहण और प्रस्तुत कर सके। सहजानुभूति को क्रोचे ने कल्पना का गुण माना है। परन्तु यह कल्पना भी सर्वथा अनुभूति ही पर आश्रित है। अतः सहजानुभूति के लिए अनुभूति-क्षमता सर्वथा अपेक्षणीय है। जब तक अनुभूति में शक्ति नहीं है कवि के मन में संवेदनों का बिम्ब बनना सम्भव नहीं है। प्रयोगवादी कवि बुद्धिव्यवसायी है, अपनी अनुभूति पर उसे विश्वास नहीं है। परिणामतः वह सहजानुभूति में असमर्थ रहता है, अर्थात् अपने संवेद्य को बिम्ब रूप में न तो वह ग्रहण कर सकता है और न प्रस्तुत ही कर सकता है और इसके बिना काव्य-रचना सम्भव नहीं है।

अब रह जाता है भाषा का एकान्त वैयक्तिक प्रयोग, जिसके अन्तर्गत शब्दों का अनर्गल

उपयोग, असाधारण प्रतीक-विधान आदि आते हैं। यह वास्तव में साधारणीकरण-विरोधी प्रवृत्ति का ही स्थूल रूप है और उसी की भाँति असंगत भी। भाषा एक सामाजिक साधन है। उसकी सार्थकता ही यह है कि वह व्यक्ति के मन्तव्य को समाज पर प्रकाशित कर सके। अतएव उसका प्रयोग सामाजिक ही हो सकता है, वैयक्तिक नहीं। शैली की वैयक्तिकता दूसरी बात है। शैली में शब्द-संयोजना, वाक्य-रचना, लक्षणा, व्यंजना आदि का उपयोग निश्चय ही व्यक्तिगत होता है, परन्तु शब्द का कोई अनर्गल अर्थ देना, अथवा शब्दों की अस्त-व्यस्त संयोजनाओं द्वारा किसी सर्वथा असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति करना, यह अप्रचलित प्रतीकों द्वारा किसी अर्थव्यक्त अनुभव-खण्ड को अनूदित करना तो भाषा के मूल सिद्धान्त के ही प्रतिकूल है। साधारणतः तो पाठक आपके अभिप्राय को समझेगा नहीं, किन्तु यदि आपकी टिप्पणियों की सहायता से समझ भी जाय तो उसे गोरखधन्धे को खोलने का आनन्द मिल सकता है, काव्य का आनन्द नहीं मिल सकता। साधारण दुरुहता भी रस-प्रतीति में बाधक होती है, लेकिन जहाँ प्रयत्नपूर्वक दुरुहता के सभी साधन एकत्र किए गए हों, वहाँ रस प्रतीति कैसी ?

सारांश यह है कि जीवन की भाँति काव्य में भी नवीनता और प्रयोग का बड़ा महत्त्व है, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि मूल्यों का सन्तुलन बना रहे। जीवन के मूल तत्त्वों पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए उन्हीं के पोषण और समृद्धि-विकास के निमित्त प्रयोग करना, उनको रूढ़ि और स्थविरता से बचाने के लिए नवीन गति-विधि का अन्वेषण करना सार्थक और स्तुत्य है। परन्तु यदि एतादृशत्व मात्र से वैर हो जाय और नवीनता की खोज अथवा नये प्रयोग साधन न रहकर साध्य बन जायें, उनको यदि जीवन के मूल तत्त्वों से अधिक महत्त्व दिया जाने लगे, तो वे अपनी सार्थकता खो बैठते हैं और प्रायः बाधक बन जाते हैं। काव्य के विषय में भी ठीक यही बात है। काव्य के मूलतत्त्व रस-प्रतीति पर दृष्टि केन्द्रित रखकर, काव्य को गतिरोध और रूढ़ि-जाल से मुक्त करने के लिए नये प्रयोग स्तुत्य हैं; वे काव्य के साधक हैं। परन्तु क्रम को उलट कर काव्य की आत्मा का तिरस्कार करते हुए प्रयोगों को स्वतन्त्र महत्त्व देना, उन्हें ही साध्य मान लेना हलकी साहसिकता मात्र है काव्य-गत मूल्यों का अनुचित तथा अनावश्यक क्रम-विपर्यय है।

रामधारीसिंह 'दिनकर'

नई पीढ़ी

हिन्दी-कविता में जो नवीनतम क्षितिज झलकने लगा है, उसे लेकर संभ्रान्त आलोचकों में काफी मतभेद है। किन्तु, मैं बड़े उत्साह में हूँ। छटी सदी में भामह ने यह प्रश्न उठाया था कि कविता की आत्मा क्या है। कविता की आत्मा उन्होंने अलंकार को माना। किन्तु, आगे चलकर वामन को यह बात ठीक नहीं जँची। कारण, अलंकार का रमणी के लिए जितना महत्त्व है, कविता के लिए उससे अधिक नहीं हो सकता। अतएव, वामन भामह की अपेक्षा कुछ अधिक गहराई में गये और उन्होंने कहा, कविता की आत्मा रीति हो सकती है। रीति क्या है? कवि बराबर अपने लिए एक ऐसी राह बनाता है, जो पहले नहीं थी; यह रीति है। संसार में मनुष्य रोज पैदा होते हैं, किन्तु, दो मनुष्य एक समान नहीं होते; यह रीति है। प्रत्येक कवि प्रत्येक दूसरे कवि से भिन्न होता है; यह रीति प्रमाण है। रीति बड़ी ही गहराई का अनुसन्धान थी, किन्तु, खोज वहीं तक नहीं रुकी। भामह से वामन तक जो प्रगति हुई थी, उसका लाभ आनन्दवर्धन ने उठाया, और उन्होंने घोषणा की कि कविता की आत्मा ध्वनि है। अर्थात् कविता वह नहीं है, जो कहा जाता है, बल्कि वह जिसकी ओर संकेत किया जाता है। मेरा विचार है, सारे संसार की आलोचनाओं को निचोड़ डालें, तब भी उससे अधिक गहरी बात का पता नहीं चलेगा, जिसका पता ध्वनिकार को चला था।

कुछ वैसा ही प्रश्न हमारे समय में भी उठने लगा है, यद्यपि, इस बार यह समस्या आलोचकों के आगे नहीं, कवियों के सामने है। नये कवि, व्याजान्तर से, इसी बात का प्रयोग कर रहे हैं कि कितने ऐसे उपकरण हैं, जिन्हें छोड़कर भी कविता कविता रह जायगी। सिद्ध है कि कविता केवल कोमल शब्दों के जोड़ में नहीं है; इसलिए, कोमलता की परम्परा टूट रही है। सिद्ध है कि कविता के विषय निर्धारित नहीं किये जा सकते; इसलिए, अपरिचित, अप्रत्याशित और अनपेक्षित विषय कविता में भरते जा रहे हैं। रवि बाबू ने कहा था कि यदि किसी को स्वस्थ, सुविकच और सुनवीन पुष्पों के बदले घुन लगे हुए अन्धे-काने फूल ही पसन्द आते हों, तो उन से प्रेम करने का उसे पूरा अधिकार है। इस उक्ति में जो व्यंग्य था, वह तो कपूर के समान उड़ गया; जो बाकी बचा, उसका उपयोग आज कवि के जन्म-सिद्ध अधिकार के रूप में किया जा रहा है।

हिन्दी में जो कुछ हो रहा है, उसे इलियट आदि अंग्रेजी कवियों का अन्धानुकरण नहीं कहना चाहिए। अनुकरण का काम दो-चार या दस आदमी कर सकते हैं। पूरी-की-पूरी पीढ़ी अनुकरण के रोग से ग्रसित हो, ऐसा मानने का कोई ठोस आधार नहीं है। मेरा अनुमान है कि जिन अवस्थाओं ने इंग्लैण्ड में नये कवियों को उत्पन्न किया, उनसे मिलती-जुलती अवस्थाएँ अपने यहाँ के बुद्धिजीवियों को भी अनुभूत होने लगी हैं। इसलिए, उनमें और यूरोपीय कवियों में थोड़ा-बहुत

साम्य दिखलाई दे रहा है। कोलाहल तो बड़े जोर का है और लगता भी ऐसा ही है कि लड़के अपने पुरखों के कलात्मक असबाबों को तोड़-फोड़ कर ही दम लेंगे। किन्तु, यह नवागम का भी शोर हो सकता है। संभव है, बाढ़ में बह कर बहुत-से ऐसे लोग भी आ गये हों, जो कवि नहीं हैं। किन्तु भविष्य पर जिनके पंजों की छाप पड़ने वाली है, वे कवि-पुंगव भी इसी झुण्ड में छिपे हुए हैं। नई आलोचना का धर्म है कि वह उन्हें भीड़ से ऊपर लाये, उनके योग्य आसन और पीढ़े की व्यवस्था करे।

विश्वम्भर 'मानव'

कविता और आलोचक

कविता किसी देश की संस्कृति का अनिवार्य अंग है। उसकी उपेक्षा करना उस देश की आत्मा की उपेक्षा करना है। ऐसी दशा में यह संभव ही नहीं है कि हमारे आलोचक, जिन्हें दूसरे शब्दों में संस्कृति के प्रहरी कहा जा सकता है, कविता की गति-विधि से उदासीन हो जायें।

जैसे प्रत्येक व्यक्ति कवि नहीं हो सकता, वैसे ही प्रत्येक प्राणी कवि को ठीक से समझ भी नहीं सकता। यही कारण है कि काव्य के वास्तविक मर्म को ग्रहण करने के लिए आलोचक की अपेक्षा होती है।

एक ही कृति की समीक्षा कई दृष्टिकोणों से हो सकती है। यह बहुत संभव है कि ये दृष्टिकोण विभिन्न आलोचकों द्वारा प्रस्तुत किए गए हों; अतः जहां तक कोई विशेष बात उठाने का प्रश्न है, वहां ये सभी समीक्षाएँ महत्त्वपूर्ण मानी जानी चाहिए। ऐसी समीक्षाओं से यदि वे द्वेष के कारण नहीं लिखी गईं तो हानि के स्थान पर लाभ ही होता है। हिन्दी में कई ऐसे काव्य-ग्रंथ हैं, उदाहरण के लिए हम रामचरित मानस, कामायनी और दीपशिखा को ले सकते हैं, जिनकी आलोचना बार-बार होनी चाहिए। ऊँचे किसी महापुरुष के व्यक्तित्व के सभी अंगों से किसी एक ही व्यक्ति को पूरी जानकारी नहीं होती, वैसे ही यह बहुत संभव है कि किसी महान् कृति की शक्ति और सौन्दर्य का पूर्ण पारखी कोई एक आलोचक न हो। सर्वांगपूर्ण समीक्षा तो कोई बहुत ही समर्थ और अंतर्दृष्टि-सम्पन्न आलोचक ही कर सकता है।

इसके अतिरिक्त युग-धर्म के साथ ही काव्य-ग्रंथों की आलोचना का रूप बदलता रहता है। महान ग्रंथों की विशेषता यह होती है कि वे सभी युगों में किसी न किसी रूप में अपना प्रभाव बनाए रखते हैं। उनमें शब्दों और शब्दों के अर्थों से परे ध्वनित और व्यंजित होने वाला कुछ ऐसा अनिर्वचनीय सौन्दर्य निश्चत रहता है जो आलोचना की पूरी पकड़ में कभी ठीक से आ ही नहीं सकता। अतः यह आवश्यक है कि महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की आलोचना न केवल भिन्न-रुचि रखने वाले व्यक्तियों द्वारा हो, वरन थोड़े-थोड़े काल के पश्चात् भी होती रहे जिससे पाठकों को यह पता चलता रहे कि आज भी उसमें कितना और कौन-सा अंश सारवान है।

बीसवीं शताब्दी इस बात में विलक्षण अवश्य मानी जा सकती है कि इसमें साहित्य की सभी विधाओं—कविता, उपन्यास, आलोचना, कहानी, नाटक, निबंध—का अभूतपूर्व विकास हुआ है। आलोचना का विकास तो यहां तक हुआ कि कवियों तक की प्रकृति आलोचनात्मक हो गई और वे व्यवस्थित ढंग के आलोचकों (Propessional critics) की भाँति आलोचनात्मक निर्णय देने लगे। यह प्रकृति काव्य के उचित मूल्यांकन में कहीं-कहीं बाधा बनकर खड़ी हो गई है।

अच्छा यह हो कि हमारे आलोचक की अपनी कुछ मान्यताएँ हों, जो उसे और उसके पाठकों

को स्पष्ट रहें। ये मान्यताएँ परम्परागत आलोचना के सिद्धान्तों से भी ग्रहण की जा सकती हैं, कृति विशेष पर भी आधारित हो सकती हैं, और मौलिक चिंतन का परिणाम भी हो सकती हैं। तात्पर्य यह कि जीवन और कला के प्रति अपना कोई दृष्टिकोण न होने से एक स्वस्थ और संतुलित दृष्टिकोण का होना कहीं अधिक अच्छा है। इस दृष्टिकोण के प्रति आलोचक की आस्था होनी चाहिए और अपनी बात को बलपूर्वक कहने का उसमें साहस होना चाहिए। आज की कविता की डाँवाडोल स्थिति के बहुत-से कारणों में से एक कारण यह भी है कि आलोचकों का अपना कोई दृष्टिकोण नहीं है और पथ-निर्देश की क्षमता तो संभवतः आज किसी में है ही नहीं।

विनयमोहन शर्मा

कविता का सत्य और उसकी लयमयता

यह सच है कि आज की कविता पाठक में प्रेषणीयता नहीं पैदा कर पाती। उसके मन में उद्वेलन, भावनाओं में सिहरन और चिन्तन में विशिष्ट रूपाकृति नहीं दरसा पाती। इसीसे वह कह उठता है "कविता का युग बीत गया।" तो क्या सचमुच कविता का युग अब नहीं रहा ? क्या आज हमारा कवि भावना-शून्य हो गया ? क्या उसके मन में उसके सामाजिक जीवन से उद्भूत सुख-दुख की कोई हिलोर नहीं उठती ? क्या वह कभी प्रकृति के दृश्यों के साथ आत्मसात नहीं होता ? क्या उसमें अपने को अभिव्यक्त करने की क्षमता क्षीण हो गई है ? अथवा पाठक की रसग्रहण-शीलता ही सो गई है ? वह आज की कविता में क्या देखना चाहता है ? आदि प्रश्न हैं जिन पर हमें विचार करने की आवश्यकता है। किसी भी साहित्य-प्रकार (विधा) का मूल्यांकन उसके "रूप" पर अवलम्बित है। और उसकी उत्कृष्टता की कसौटी उसकी ईमानदारी में निहित है। यदि "साहित्य" जीवन से उद्भूत नहीं है और जीवन के लिए नहीं है तो उसका क्या उपयोग है ? वह "हविष्य" किस देवता के लिए है ?

मैं कविता के मूल्यांकन में "भाव अनूठे चाहिए भाषा कैसी भी हो" वाले सिद्धान्त को नहीं मानता। मैं 'भाव' के साथ उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार को भी आवश्यक समझता हूँ, भाव और शैली के बीच की भेदक रेखा मुझे मान्य नहीं है। भाव और शैली की एकरूपता में ही काव्य का सौन्दर्य निखरता है। यदि भाव-व्यंजक शब्दों की योजना नाद-माधुर्य की दृष्टि से न की गई तो बिखरे हुए भाव-प्रतीक (शब्द) हमारे मन में कैसे ठहर सकेंगे ? कविता को पाठक के मन में संचरित करने के लिए हमें उसके रूप-विधान पर भी ज़ोर देना होगा। आज कई तथाकथित प्रयोगवादी रचनाओं की असफलता का एक कारण यह भी है कि उसमें रूप-विधान पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया जाता। काव्य में जीवन का 'सत्य' जब लयमय भाषा के माध्यम से उपस्थित होता है तब वह हमारे संवेदनशील मन में बहुत समय तक गुंजरित होता रहता है। विद्यापति और मीरा के पदों को अमुद्रित अवस्था में भी वर्षों तक कैसे जीवन प्राप्त होता रहा ? 'जगनिक' की 'आल्हा' को किन उपकरणों ने प्राण-दान दिया ? यदि उनमें गेय रूप-विधान का अभाव होता तो हम बहुत से जनप्रिय कवियों को कभी का विस्मृत कर चुके होते।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

छायावाद के बाद

वर्तमान हिन्दी-कविता का सर्वोच्च विकास छायावाद में हुआ—भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से छायावाद के बाद खड़ी बोली की कविता का क्रमशः पतन होने लगा। 'निराला', पंत महादेवी ने काव्य में जो आत्म-निर्माण किया था साधना की उस ऊँचाई तक फिर कोई कवि नहीं उठ सका। 'बच्चन' इत्यादि ने उर्दू-शायरी के प्रभाव से और 'दिनकर' इत्यादि ने राष्ट्रीय-काव्य के प्रभाव से कला की व्यंजकता बनाए रखने का प्रयत्न किया। किन्तु हमारे जीवन की ही तरह जब हमारा साहित्य भी अपनी ही परम्परा और अपने ही देश की सीमाओं में आत्मस्थ नहीं रह सका तब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की तरह साहित्य में अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा का भी प्रभाव पड़ने लगा। वर्तमान वातावरण में प्रगतिवाद अपेक्षाकृत अधिक जीवन और सामाजिक संवेदन बनकर साहित्य में आ गया। यद्यपि प्रगतिवाद के कारण काव्य के लालित्य में श्रीवृद्धि नहीं हो सकी और सच तो यह कि जब जीवन ही लालित्य-शून्य होता जा रहा है तब साहित्य में उसकी आशा कहाँ तक की जा सकती है।

प्रगतिवाद ने साहित्य को काव्य से गद्य की ओर मोड़ दिया। इसके बाद प्रयोगवाद ने छायावाद की संश्लिष्टता और प्रगतिवाद की वास्तविकता के संमिश्रण से साहित्य में नवीन काव्य-प्रयास प्रारम्भ किया। यहाँ तक तो अनेक मतभेदों के होते हुए भी रचना-शिल्प की दृष्टि से फिर भी एक साहित्य-साधना बनी हुई थी; किन्तु इसके बाद मुक्तछन्द के रूप में कविता की जो दुर्दशा हो रही है वह असह्य और अक्षम्य है।

हमारी आशा उन नवांकुरित तरुण कवियों की ओर है जो अब भी काव्य को प्रकृति के सान्निध्य में रसात्मक बना हुए हैं। ऐसी कविताएं पत्र-पत्रिकाओं में कभी-कभी अपनी मनोरम झलक दे जाती हैं। इस मरुस्थल की तरह रूखे-सूखे युग में ऐसी कविताओं से हृदय को ओसयिस की तरह सुख-शान्ति मिलती है।

परमाणु-युग के कारण कविता ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि का भविष्य अन्धकारमय हो गया है। मैंने अपनी नई पुस्तक-'दिगम्बर' (औपन्यासिक रेखांकन) के अंतिम परिच्छेद में यह प्रश्न उपस्थित किया है कि अणुबम क्या चाँदनी का सुख-शान्तिमय साम्राज्य भी समाप्त कर देगा।

परमाणु-युग के कारण यदि प्रकृति नहीं मिट जाती तो उसकी अजस्रता जीवन और कविता में चिरन्तन अमृत-प्रवाह बनकर बहती रहेगी।

एवमस्तु !

डा० रामकुमार वर्मा

मेरा दृष्टिकोण

कविता को जीवन की एक पवित्र अनुभूति मानता हूँ, इसीलिए कविता में हृदय की उन समस्त प्रेरणाओं का आकलन रहता है जो जीवन के नैतिक धरातल को अधिक से अधिक ऊँचा उठा सकती हैं। यह परिस्थिति किस भाँति हृदय में उपस्थित होती है यह तो मैं नहीं जानता किन्तु जैसे ही कविता लिखने बैठता हूँ वैसे ही समस्त भावनाएँ ऐसे केन्द्रबिन्दु में सिमट जाती हैं, जिसमें कण्ठ का स्वर गूंजता है, जीवन की स्वस्थ संवेदना की परिधि स्वयमेव निर्मित होती है और तब उसका लक्ष्य चाहे आध्यात्मवाद की ओर हो चाहे लौकिक जीवन के पवित्र सौन्दर्य की ओर हो। सौन्दर्य की पवित्रता अन्ततः आध्यात्मवाद की ओर ले जाती है, ऐसा मेरा अनुभव है। यही कारण है कि मेरी रचनाएँ जहां भावपक्ष में किसी पवित्रतम अनुभूति का बीजवपन करती हैं वहाँ कलापक्ष में वे स्वयंमेव ललित शब्दों की सृष्टि को। मैं भी यह नहीं मानता कि भावपक्ष में मेरी रचनाएँ जीवन की अचिंत्य गहराइयों का अवगाहन करती हैं, पर यह मैं भली भाँति जानता हूँ कि जो बात भी मेरे हृदय से निकलना चाहती है वह स्पष्ट और पूर्णिमा की ज्योत्स्ना की भाँति निर्मल होती है। यह कोई अहंवाद नहीं है क्योंकि आलोचना के क्षेत्र में कुछ अनुभव रखने के कारण मैं स्वयं अपनी रचनाओं को उनके निर्मित हो जाने के बाद आलोचना की तीखी कसौटी पर कस लिया करता हूँ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीवन के क्रम में घटित होने वाली घटनाओं से मेरा लगाव नहीं के बराबर है। इस दृष्टि से लोग मुझे पलायनवादी भी कह सकते हैं किन्तु मैं यह अनुभव किया करता हूँ कि प्रतिदिन घटित होने वाली घटनाएँ किसी समाचार-पत्र की सामग्री बन सकती हैं, मेरी कविता की सामग्री नहीं। सम्भवतः इसका कारण यह हो कि मैं उस स्थूल में इतना विश्वास नहीं करता जितना सूक्ष्म में। यद्यपि स्थूल मेरे प्रतीकों का आधार अवश्य बन जाता है। मैं कुछ ऐसा समझता हूँ कि जिस तरह एक सुवासित पुष्पमयी लता भूमि से उत्पन्न होती है और बिना भूमि के लता की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, किन्तु भूमि ही लता नहीं है। उसी प्रकार स्थूल वस्तु-जगत से काव्य की सुवासित प्रेरणायें उत्पन्न होती हैं किन्तु वे प्रेरणायें स्थूल नहीं हैं यद्यपि उन्हें स्थूल का आश्रय है।

मेरा जीवन कुछ ऐसी स्थितियों से गुजरा है जिसमें घटनाएं नहीं के बरबर रही हैं और यदि रही हैं तो उन्होंने मुझ पर विशेष प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं की। संभवतः जीवन के संघर्ष मेरे सामने नहीं आये; सम्पन्न घर में पोषित हुआ, एम. ए पास हुआ, तुरन्त नौकरी मिल गई इच्छा-नुसार कार्य करने का अवसर मिला, मित्रों से सहृदयता प्राप्त की, जीवन में उत्साह और उमंग का मैं कुबेर बना रहा। दैनिक समस्याओं से जूझने का अवसर मुझे नहीं मिला और इसी करण यह

घटनाएँ मेरे सामने चित्रपट के कौतूहल की भाँति आयीं और चली गयीं। शैशव से ही मैंने देखा कि मेरा परिवार भक्तिप्रवण है, उसमें सांस्कृतिक आचार-विचार के लिए अधिक सुविधा है, तुलसी और कबीर की भक्ति ने मेरे मन और अन्तःकरण का निर्माण किया है। ऐसी स्थिति में रहस्य-वाद के प्रति अनुरक्ति होना मेरा स्वभाव-सिद्ध अधिकार-सा रहा है। उसमें किसी प्रकार के प्रयास के लिए स्थान ही नहीं था। परिणामस्वरूप काव्य-जीवन के कुछ समृद्ध होते ही मेरी रुचि निसर्गतः रहस्यवाद की ओर आकृष्ट हुई और तब से अब तक जो रचनाएँ मैंने लिखी हैं, जो कविताएँ मैंने लिखी हैं उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता मैंने अनुभव नहीं की। हिन्दी-काव्य के विकास में अनेक युग आये और चले गये। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के भी अनेक आक्रमण मुझ पर हुए, मैंने सबको सहानुभूति की दृष्टि से देखा। विविध काव्यगत दृष्टिकोणों ने मुझे लोकप्रियता का लालच भी दिया, किन्तु मैं अपनी भाव-भूमि पर स्थिर रहा और जो अनुभूति प्राणों में समा गई थी वह न निकल सकी और न मैंने निकालने का प्रयास ही किया। यही कारण है कि आज भी जब मैं कविता लिखने बैठता हूँ तो अपनी परिस्थितियों को भूल जाता हूँ और स्थूल में निहित जो जीवन की रूप-राशि है; कण-कण में बिखरी हुई पड़ी है उसकी रेखायें सँवारने लगता हूँ। मैं अपनी चार कवितायें आपके सामने रख रहा हूँ। पहली रचना है 'साधना के स्वर'। मैंने कविता को साधना के रूप में ही समझा है और जीवन का अनन्त सौन्दर्य जिसका संगीत प्राण में अनवरत गति से हो रहा है वह क्षण-क्षण में मधुरतर होता जा रहा है। संयोग में सुख है लेकिन संयोग की चेष्टा में आनन्द है, क्योंकि इस चेष्टा में सुख की प्रत्येक किरण कण-कण में समाकर प्रगतिशील होती हुई दृष्टिगत होती है। संभवतः इसी चेष्टा का नाम विरह है और विरह जो मिलन का प्रयत्न है वह मिलन से प्रियतर है, इसमें कोई सन्देह नहीं। जीवन के अनुभव में किसी क्षण में उत्पन्न हुई पहि-चान प्राणों के लिए एक सुखद जीवन का निर्माण करती है, जो मिलन-बिन्दु विरह की रेखाओं के मिलने पर स्थित है वह कितनी सुखद स्मृतियों का कम्पन लिए हुए है! उसी में उमँगती हुई उर्मियों की ध्वनि कानों तक पहुँच जाती है। प्रेम की यह चरन-साधना जिसमें प्रिय की कथा जाग उठती है जीवन को ऐसी दिशा में खींच ले जाती है, जिसमें आनन्द की अनुभूतियाँ निवास करती हैं। यह अनुभूतियाँ अनेक प्रकार के रूपक ग्रहण करती हैं, ये चाहे शतदल के मधुर रंग हों, चाहे वंशिका के स्वर-सिन्धु हों, चाहे वीणा के गूंजते हुए तार हों, यह सब प्राण की प्रभाती का ही स्वर ग्रहण करते हैं।

दूसरी कविता 'आत्म-परिचय' है। अनेक वर्ष पहिले मैंने 'किरण-कण' शीर्षक कविता लिखी थी जो सम्पूर्ण रूप से आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रेरित हुई थी जिसमें आत्मा को परमात्मा रूपी दीपक का एक किरण-कण कहा गया था। उस कविता में चिन्तन-पक्ष प्रधान था। पिछले वर्षों की मानसिक प्रगति इस दृष्टिकोण को अनुभूति के क्षेत्र तक तो आई ऐसा ज्ञात होता है और उसी भावभूमि पर प्रस्तुत कविता का निर्माण हुआ। इस कविता में वही दृष्टि-बिन्दु रेखाओं का रूप लेकर एक चित्र के रूप में स्पष्ट हुआ ज्ञात होता है। प्रेम की परिपूर्णता में आत्मसमर्पण की स्थिति है और जब क्षितिज-रेखा के हट जाने से दो संसार एक हो जाते हैं तो दोनों में जो एक-रूपता होती है वही अनेक-अनेक प्रतीकों से इस कविता में स्पष्ट हुई है। किन्तु कठिनाई यह है कि आग की उष्णता प्राप्त कर कोयला आग का रूप तो बन जाता है पर अन्ततः वह कोयला ही तो रहता है जो क्षण-क्षण में भस्म होता रहता है। उसी भाँति यह जीवन अध्यात्म-किरणों से आलोकित होते हुए भी अन्ततः जीवन ही तो है जो क्षण-क्षण में ऐन्द्रिकता के प्रभाव से मुक्त होना चाहता है। तभी

तो हृदय-वीणा का तार घटनाओं की चोट से टूट तो जाता है। किन्तु उसकी संगीत-लहरी गूंजती रहती है; हृदय का पुष्प सूख तो जाता है परन्तु उसकी सुगन्धि दिशाओं को परिव्याप्त किये रहती है; जीवन मृत्यु की गहराई में डूब तो जाता है; किन्तु उसकी प्रेरणायें मृत्यु पर भी विजय प्राप्त करती हैं। इस जीवन के क्षण बीतते चले जा रहे हैं, किन्तु उनके बीतने की अवधि जैसे-जैसे कम होती जाती है वैसे-वैसे उसकी मादकता और भी बढ़ती है। यह जीवन किस ग्रन्थि से बंधा हुआ है यह अज्ञात है तभी तो चाहते न चाहते हुए यह साँसे जाने किस संकेत से रात-दिन चलती रहती हैं और जीवन की यह दीप्ति सौ-बार कठिनाइयों के शलभों से झकझोर दी जाती है, किन्तु बुझती नहीं है, जलती चली जा रही। जीवन की यही प्रेरणा संसार को वैभव सम्पन्न करती है और इसीलिए अध्यात्म-क्षेत्र की निराशा जीते रहने का सबसे बड़ा आशावाद है।

तीसरी कविता असफलता की लकीरें हैं। यह कविता आत्म-विश्लेषण की संवेदना लिए हुए है। जब जीवन गन्तव्य पर पहुँचने की अनवरत चेष्टा करता हुआ भी इन्द्रियों के द्वार पर रुक जाता है और गत साधना पर दृष्टिपात करता है तो उसे चारों ओर अपूर्णता ही अपूर्णता दिखाई देती है। उस समय भविष्य के क्रोड़ में अनंग की भाँति छिपा हुआ भाग्य जीवन का परिहास करता है और जीवन के शिवत्व पर अपने शक्तिशाली बाण का प्रयोग करता है। करुण-पथ पर चलता हुआ हृदय का रथ बार-बार विपत्तियों की खाइयों में धंस जाता है और विवेक का संचालन सूत्र ढीला पड़ जाता है। किन्तु न जाने प्रकृति ने जीवन में कितनी प्रेरणाएँ भर दी हैं, यह छोटा-सा अंकुर भू-गर्भ के अन्धकार में कौन-सी जीवन की ज्योति छिपाये हुए है जो मिट्टी और पत्थरों से लड़ता हुआ अपने प्राणों की सुगन्धि छोटे से पुष्पों में बटोरकर पृथ्वी पर निकल आता है और सूर्य की किरणों का अभिनन्दन स्वीकार करता है। उसी प्रकार यह साँसें बारबार बाहर निकलती हैं, किन्तु अन्ततः उनकी जड़ कितनी गहरी है कि वे अपनी शक्ति संसार में बिखराकर भी बारबार निकलने के लिये आतुर रहती हैं और कभी शीतल और कभी ऊष्ण बनकर संसार में सुख-दुख का सन्देश बाँटती रहती हैं। इनकी शक्ति पर मुझे विश्वास है, इसीलिए यह असफलता की लकीरें आगे चलकर जिस चित्र का निर्माण करती हैं वह चित्र जीवन के वैभव का है। मस्तिष्क के छोटे से कोष में स्मृतियों के अथाह सागर लहराते हैं और जीवन की क्षीण किरण भविष्य की सम्पूर्ण कला बनना चाहती है। इसीलिए तो मैं जीवन को नहीं मृत्यु को क्षणभंगुर मानता हूँ; और जीवन एक शाश्वत विधान है जो मृत्यु के पहिले भी है और बाद में भी। भले ही इस विस्तृत पथ में मेरी गति अचल-चरण की भाँति एक क्षण भर को स्थिर रहे, किन्तु पैर आगे बढ़ाने के लिये भी तो चरण को स्थिर होना पड़ता है, इस स्थिरता में भी तो गति है और प्रगतिशील होने का अमोघ मन्त्र।

चौथी कविता है 'जागरण-गीत'। मैं प्रकृति को आशावाद का सबसे बड़ा केन्द्र मानता हूं। कीट्स ने भी 'ओ टु नाइटेंगेल' में कहा है—"दाऊ आस्ट नाट बार्न फार डेथ, ओ इमार्टल बर्ड नो हंगरी जेनेरेशन्स, ट्रेड दी डाउन"।

उसी तरह प्रकृति का प्रत्येक पुष्प अमर है; व्यष्टि-रूप से वह भले ही मुरझा जाय, परन्तु समष्टि-रूप से वह अमर है, उसकी परम्परा अमर है। इसलिए यदि मनुष्य अमरत्व चाहता है तो वह प्रकृति के समानान्तर बन जाय। यदि विज्ञान की दृष्टि से भी देखा जाय तो मनुष्य भी तो उसी गणित से प्रशासित है जो गणित प्रकृति अपने क्रोड़ में छिपाये हुए है। नाटक के बीज, बिन्दु, पताका, प्रकृति, कार्य की भाँति प्रकृति का प्रत्येक अवयव सम्पूर्ण होता है और उसी भाँति मनुष्य की इस प्रकृति के प्रत्येक कण में एक स्वर है, एक तरंग है, मनुष्य अपने अहंभाव से अनुशासित

होकर इस प्रकृति से दूर होना चाहता है और वह जैसे ही प्रकृति के नियमों से अलग होता है वैसे ही उसके विकास की गति रुक जाती है। अतः विकासोन्मुखी जीवन के लिए प्रकृति का स्वभाव-ग्रहण करना मानव के लिए अनिवार्य है। जागरण-गीत में इसी प्रकृति के प्रतिबिम्ब में मानव को साकार होने की आवश्यकता है। इसलिए कि मनुष्य प्रकृति का सबसे सुन्दर चित्र है, न जाने कितने परिश्रम से प्रकृति ने मनुष्य का निर्माण किया होगा, कितने पुष्पों की सुगन्धि, सुषमा और जीवन-शक्ति को मिलाकर मनुष्य का निर्माण सम्भव हुआ होगा और मनुष्य इसका अनुभव नहीं करता; इसी जागरण में मनुष्य प्रकृति का अधिनायक है; मानवी सत्य सर्वोपरि है उसी में वह अनन्त शक्तियों का साधक बन सकता है और वह स्वयं पृथ्वी पर निर्माण का सूत्रपात कर सकता है।

मेरे मन में तो बहुत सी बातें हैं, किन्तु वह कही नहीं जा सकतीं। कहना भी चाहूं तो शायद नहीं कह सकूंगा। भाषा तो भावना की अभिव्यक्ति के लिय बहुत ओछा साधन है। इसीलिए अनेक बार अनेक रूपकों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है और अनेक प्रतीक उस भावना की अभि-व्यक्ति में सहायता पहुंचाते हैं, किन्तु वह भावना अपूर्ण ही रहती है। यह मैं सदैव मानता हूं कि काव्य में अनेकानेक प्रयोग होने चाहिये, किन्तु सबका लक्ष्य यही हो कि जीवन में शिवत्व और सुरुचि की अभिवृद्धि कविता के माध्यम से हो। जीवन की अनुपम और अचिन्त्य सम्भावनाओं के लिये काव्य से बढ़कर दूसरा साधन नहीं है, किन्तु इसके प्रयोग के लिए कवि को लक्ष्य-सिद्ध एकलव्य होने की आवश्यकता है।

गोपालकृष्ण कौल

नई पीढ़ी : नई कविता : दायित्व का प्रश्न

नई उम्र के कवियों को नई पीढ़ी में मान लेना जितना सरल है उतना ही कठिन भी है, क्योंकि साहित्य में कमसिन लेखकों की जमात को केवल उनकी कम उम्र की वजह से नई पीढ़ी नहीं कहा जा सकता। बुजुर्ग लेखक भी साहित्य की परम्परा में नई पीढ़ी के अगुआ बन सकते हैं और बने भी हैं। न ही अतीत में पैदा होने से हर लेखक क्लासिक हो जाता है और न ही वर्तमान में जन्म लेने से हर लेखक नया बन सकता है। लेखक की अपनी उम्र साहित्य की परम्परा में नई-पुरानी पीढ़ी के चलने या बदलने, जन्म लेने या समाप्त होने का प्रमाण नहीं है। साहित्य में पीढ़ियाँ कृतित्व की उम्र के हिसाब से बनती और मिटती है। लेखक की उम्र से ज्यादा उसके कृतित्व की उम्र महत्त्वपूर्ण होती है। कृतित्व के अनुसार जब साहित्य में एक परम्परा अपनी पर्याप्तता असिद्ध कर देती है तब उसके स्थान पर दूसरी परम्परा आ खड़ी होती है। नई परम्परा के बीज पुरानी परम्परा की अपर्याप्तता में ही पनपते हैं। परम्पराओं के सूत्र इसी रूप में कहीं न कहीं आपस में जुड़ जाते हैं। साहित्य में परम्पराओं के आन्तरिक और बाह्य परिवर्तन नई-पीढ़ी को पैदा करते हैं। ये परिवर्तन केवल ऐतिहासिक परिस्थितियों के बदलने का प्रतिबिम्ब मात्र नहीं होते; बल्कि जीवन और जगत के विविध संश्लिष्ट सम्बन्धों की गतिशील पारस्परिक प्रतिक्रियाओं और गहरे प्रभावों के परिणाम-स्वरूप प्रतिफलित होते हैं।

इसलिए नई उम्र के सभी कवि कविता में नई पीढ़ी की परम्परा में अपना स्थान नहीं बना पाते हैं क्योंकि केवल नई उम्र न तो नई चेतना का प्रमाण है और न ही कला और जीवन की जटिल परिस्थितियों की नई माँग को समझ पाने की शर्त। हिन्दी में नई उम्र के अनेक कवि कविता के रूढ़ रूप-विधान को शाश्वत मान कर विवेक-हीन और जीवन-बोध से शून्य भावुकता के मायाजाल से अभी तक अपने को मुक्त नहीं कर पाए हैं। उनकी कोरी भावुकता उनकी कविता को 'बाक्स आफिस हिट' के आम बाजारू फिल्मों या फिल्मी गीतों की तरह सरल और सस्ते मनोंरंजन की वस्तु बना देती है। और वे इस प्रकार की लोकप्रियता को सफलता मान कर अपने कला-विकास की तमाम सम्भावनाओं को कुंठित कर लेते हैं। कोरी भावुकता उस परिवर्तित जीवन सत्य को अनुभव और अभिव्यक्त नहीं कर सकती, जिसकी अदम्य आवश्यकता ने कला की पिछली पीढ़ी की क्षमता को अपर्याप्त सिद्ध कर दिया है। गीत नामक रचना में कुछ गिने-चुने रोमाञ्चक भावों में से किसी एक को कई अलंकार-चित्रों में उपस्थित करने का आवृत्ति-परक ढंग नई उम्र के कवियों में सरलता से प्रचलित हो गया है। वे इस सीमित परिधि में ही चक्कर काटने में ही अपनी सार्थकता समझते हैं। उनके गीतों का मीटर लाइट म्यूजिक की धुनों पर खड़ा होता है।

ताकि वे उसको किसी-न-किसी तरन्नुम में गा सकें और यह सिद्ध कर सकें कि उनका गीत गेय है। लेकिन क्या भावुक तुकान्त पद्य 'लाइट म्यूज़िक' की गेयता पाकर गीत-काव्य बन सकता है ? क्या आवृत्ति-परक ढंग एक गीत को एक कविता बनाने की क्षमता रखता है ? क्या इन गीतों का संगीत अपने स्वर-संकेतों से भाव-संकेत भी पैदा करता है ? क्या ये गीत 'निराला' के काव्य-संगीत की परम्परा के उत्तराधिकारी हैं ? इस विषय में 'निराला' के गीत बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और उनके लिए शिक्षाप्रद हैं, जो भावुक तुकान्त पद्य के आवृत्ति-परक प्रकार को गीत समझ बैठे हैं।

दूसरी ओर काव्य-संगीत विशेषतः संगीत को अधिक महत्त्व देने वाले कवि हिन्दी-भाषा में ही संगीतात्मक क्षमता का अभाव मानकर बंगाली की ओर देखने लगे हैं। हिन्दी का व्याकरण ही उन्हें संगीत-विरोधी लगता है और इसलिए वे जनपदीय बोलियों और अन्य प्रान्तीय भाषाओं की संगीत-परक विशेषताओं को लाने के लिए अपनी भाषा को ही विकृत करने को तैयार हैं। वे यह नहीं देखते कि क्या बात है कि समान-कारक चिन्ह होते हुए भी उर्दू-काव्य में संगीतात्मकता क्यों पैदा हुई, जब कि उर्दू और हिन्दी एक-ही खड़ी बोली का विकसित रूप हैं ? प्रत्येक भाषा का शब्द-संगीत अलग होता है; यह संगीत भाषा में व्यवहार-परम्परा के माध्यम से लोक-मानस के भावों की स्वर-अर्थमयी सतत पड़ने वाली प्रतिछवियों से पैदा होता रहता है, काव्य में भाषा-संगीत के इस निचोड़ को प्रतिष्ठित करके ही गीत-काव्य को नए जीवन-सत्य का वाहक बनाया जा सकता है। गीतकारों को गीत को कोरी भावुकता से मुक्त करने के लिए एक ओर शब्दों के स्वर-अर्थमय संगीत को भाषा के संगीत से ग्रहण करना होगा और दूसरी ओर नए-जीवन-सत्य को मुखरित करने की उसकी अपर्याप्तता को भी समझना पड़ेगा।

इस तरह के गीतों की अपर्याप्तता का भाव मुक्त-छन्द के आग्रह का एक प्रबल कारण बन गया। मुक्त-छन्द का आधार भाव का वेग ही है। प्रजातन्त्र के मुक्तभाव ने वाल्ट ह्विटमैन को ओजस्वी निर्भीक विचारों के लिए मुक्त-छन्द के पथ पर डाला था। दूसरी ओर मुक्त-छन्द को अस्वस्थ मानसिकता के जटिल उदगारों की छाया में प्रतीकवादी और अतियथार्थवादी कवि-कलाकारों ने अराजक रूप से विकसित करने का प्रयत्न किया। भविष्यवादी मायकोवस्की की मुक्त-भावना की व्यंगोक्तियों को मुक्त-छन्द के माध्यम से ही प्रभावशाली अभिव्यक्ति मिली। बंगाली में रवीन्द्रनाथ ने और हिन्दी में 'निराला' ने मुक्त-छन्द की रचना की परम्परा को आगे बढ़ाया। 'निराला' ने अपनी छन्द-रचना के आधार वैदिक छन्दों तक में खोज निकाले थे। निराला ने स्वर-संकेतों से मुक्त-छन्द में आरोह-अवरोह और प्रवाह पैदा करने का साहसिक सफल प्रयास किया। आज हिन्दी में अनेक दूसरे नये कवि भी मुक्त-छन्द के प्रयोग से नये जीवन सत्यों को काव्य-रचना में मुखरित करने का प्रयास कर रहे हैं। मुक्त-छन्द-रचना से सबसे बड़ी बात यह हुई कि भाषा की संगीतात्मक विशेषता को नजदीक से समझा गया और गद्य को भी काव्य के अनुकूल बल्कि अभिव्यक्ति के लिए अधिक उपयोगी और कलात्मक बना दिया गया। मुक्त-छन्द अपनी अराजकता की अवस्था को पार कर चुका है और अब वह स्वयं एक सन्तुलित लय और संगठित प्रवाह के अन्तर्गत विकसित हो रहा है और आज मुक्त-छन्द-रचना का अर्थ छन्दहीन रचना कदापि नहीं है; बल्कि नये छन्दों के निर्माण के लिए मुक्त-छन्द ने कवियों का पथ प्रशस्त कर दिया है। इसके विपरीत, मुक्त होने के कारण मुक्त-छन्द की सीमाओं को समझना कठिन भी है; और विशेषतः पुराने छन्दों से इस छन्द का लय-संतुलन ज्यादा जटिल है। परिणाम

यह है कि जो नये कवि इसे सरल समझ कर कोरा गद्य लिख देते हैं वे मुक्त-छन्द को बदनाम करते हैं। असंबद्ध भाव-चित्रों को छोटे-बड़े वाक्यों के टुकड़ों में संकलित कर देने मात्र से मुक्त छन्द नहीं बन जाता है। मुक्त-छन्द केवल एक प्रकार नहीं है। गहरी अनुभूति, सजग दृष्टिकोण और तीव्र जीवन-बोध जिस भावोद्गार के वेग को बौद्धिक संतुलन के साथ जो एक मुक्त लय-मय रूप प्रदान करते हैं वह मुक्तच्छन्द का सहज रूप है। अभिव्यक्ति-प्रकार के अराजकरूप को, जो मुक्त-छन्द या किसी भी छन्द-विधान में प्रश्रय देते हैं, उन पर दुरुहता और कृत्रिमता का आरोप लगाया जाना स्वाभाविक है।

इन प्रकार-भेदों से ऊपर प्रमुख समस्या आज के कवि के सामने यह है कि उसकी अनुभूति की सीमा में जीवन-जगत की जटिल परिस्थितियों का वह यथार्थ कैसे समाए; जो उसकी कला-वाणी में ध्वनित होकर लोक-मानस को झनझनाने में सहज समर्थ हो? वह कैसे असाधारण अनुभूति को साधारण अर्थात प्रेषणीय कलात्मक बना सके? विशेषतः हिन्दी के नये कवियों के सामने यह एक चेतावनी-भरा प्रश्न है। क्योंकि छायावादी कविता का युग समाप्त हो गया है, स्वयं छायावादी कवियों की शैली एक सीमा पर आकर अपना चमत्कार खो बैठी है। और यह भी सत्य है कि छायावादी कविता हिन्दी की श्रेष्ठ कविता रही है और आधुनिक हिन्दी-कविता के अग्रदूत छायावादी ही हैं; फिर भी यह स्पष्ट है कि छायावादी काव्य-शैली अब नया चमत्कार दिखाने में असमर्थ है। इस शैली की भाषा ने ही स्वयं उसको आगे बढ़ने से अब रोक दिया है और नये कवियों की भाषा एक नया रूप अख्तियार कर रही है, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों, समास-पूर्ण पदों, अन्वय से समझ में आने वाली वाक्यावलियों की अधिकता को उतना स्थान नहीं रह गया है जितना छायावादी कविता में था। स्वयं 'निराला' जैसे छायावादी कवि ने नये भावों की अभिव्यक्ति के लिए 'नये पत्ते' की रचनाओं में छायावादी भाषा के मोह को तोड़ दिया है, इसी तरह पन्त के 'पल्लव' और 'ग्राम्या' की भाषा में अन्तर है।

छायावाद के इस ह्रास के बाद महत्त्वपूर्ण काव्य-रचना का दूसरा नया रूप अभी हिन्दी में स्पष्ट नहीं हो पाया है। प्रत्येक नया कवि, जो सजग और विवेकशील है और साथ ही कला के सामाजिक दायित्व को महसूस करता है साधारणीकरण की समस्या से चिन्तित है। इस समस्या को सुलझाने के निमित्त वह विदेशी कवियों से परामर्श करने के लिए भी मानसिक साहित्य-यात्राएं करता है और दूर के चमत्कारों से प्रभावित होकर हिन्दी में नया चमत्कार करना चाहता है। वह एज़रा पाउण्ड के पास जाता है और टी० सी० इलियट से सलाह माँगता है। कुछ कान में गुरु-मंत्र भी लेने पहुँच जाते हैं। किन्तु बावजूद अपनी कला-सिद्धियों के ये दूर देश के कवि हिन्दी कविता पर सीधा प्रभाव नहीं डालते हैं और जिस ढंग की कविता प्रथम महायुद्ध के बाद अशान्ति और शंका के विश्वासहीन भाव से इन कवियों ने लिखी थी वह पूरवर्ती शैलियों की कई विशेषताओं से अनुप्राणित थी और उसकी क्लिष्टबोधता भी गुण मानी गई। टी० सी० इलियट का 'दी वेस्ट लैण्ड' सन् १९२२ में युद्धोत्तर कविता के प्रतिनिधि रूप में प्रकाशित हुआ था। इलियट अपनी कविता में रईसों के सिंहासन पर बैठकर इन्सानियत को देखने का प्रयास करता है, वह वस्तून्मुखी होकर भी अन्त में दान, दयनीयता और नियन्त्रण की वकालत करता है। विकृत छवि-चित्रों को नए प्रतीकों के माध्यम से उपस्थित करने में ही इन कवियों ने अपनी विशेषता दिखाई और समाज में नए जीवन की सम्भावनाओं पर पर्दा डालने की एक प्रकार से कोशिश की है। वे भी एक प्रकार के भविष्य और नई सम्भावना की ओर संकेत करते हैं; लेकिन उनका अनुमान जीवन की ऐतिहासिक

परिस्थितियों के व्यापक यथार्थ पर आधारित न होकर भय और आशंका के आधार पर खड़ा किया गया है।

नई हिन्दी कविता के लिए इन दूर देश के कवियों के कृतित्व से कुछ सीखने को भले ही मिल जाय लेकिन हिन्दी कविता का नेतृत्व उनका कृतित्व कदापि नहीं कर सकता, और दूर दूर के कवियों के तद्देशीय प्रयोगों को हिन्दी कविता की परम्परा और परिस्थितियों में सुधार के नुस्खे की तरह नहीं इस्तेमाल किया जा सकता। क्योंकि हिन्दी कविता की नई पीढ़ी की परिस्थितियां, समस्याएं और सम्भावनाएं भिन्न हैं। आज भारतीय जीवन जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों में से गुज़र रहा है, बहुत कुछ समान होते हुए भी, उनकी वैसी ही प्रतिक्रिया यहाँ के जन-मानस और जीवन-जगत पर नहीं होती है जैसी पाश्चात्य देशों में होती है। युद्ध, और शान्ति, शोषण और अत्याचार की प्रतिक्रिया पूर्व और पश्चिम में एक-सी नहीं हो रही है, यह स्पष्ट है। इसलिए कला और संस्कृति के क्षेत्र में भी जीवन-बोध, और विश्व बोध की सीमाएं भी बदल गई हैं। भारतीय जीवन में बावजूद आर्थिक शोषण-जन्य मानसिक पतन के एक विशेष प्रकार की नैतिक उदात्त मानवीय भावना गूंजती रहती है, जो साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, और अब तमाम वादों का, जो मनुष्य के विकास की सम्भावनाओं को रुद्ध करते हैं, किसी न किसी रूप में विरोध करती है। इस उदात्त नैतिक जीवन स्वर की चेतना केवल रुग्ण-समाज के मानस-चित्रों की विकृत आकृतियां खींचने में नहीं दिखाई दे सकती है। उसके लिए नए कवि को, अपने देश, अपनी परिस्थिति, अपनी ज़मीन पर खड़े होकर विश्व-जीवन के मर्म को समझना पड़ेगा— यह रास्ता कृतिकार का रास्ता है और दूसरा रास्ता अनुकृतिकार का रास्ता है।

आज केवल 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' के आधार पर अपने को नया कवि मानने के लिए दलबन्द साहित्यिक प्रयत्नों का जो सूत्रपात नई कविता के नाम पर हुआ है, उससे बचकर ही नई कविता अपने विकास की सम्भावनाओं के मार्ग पर आगे बढ़ सकती है। साधारण जीवन से असाधारण यथार्थ का चुनाव, उसको फिर नए सजीव सार्थक प्रतीकों के माध्यम से जन-मानस तक पहुंचाने के साधारणीकरण के कलात्मक प्रयास में ईमानदारी से लगकर ही नए कवि नई कविता को नए युग-सत्य का सन्देशवाहक बना सकते हैं। इसके विपरीत कविता को किन्हीं संकीर्ण सीमाओं में क़ैद करके रीतिकालीन प्रवृत्ति का नया संस्करण प्रस्तुत करना कविता में नयापन नहीं पैदा कर सकता है। हिन्दी कविता के नयेपन को सजाने संवारने, और सजीव बनाए रखने का उत्तरदायित्व उन सभी नए कवियों पर है, जो कला और जीवन के प्रति जागरूक दृष्टिकोण रखते हैं और ईमानदारी से कला-साधना के पथ पर अग्रसर है, फिर चाहे वे मुक्त-छन्द में अपने को प्रगट कर सकें चाहें गीतों की तान में। लेकिन इतना ज़रूर है कि जिन कला-रूढ़ों और काव्य-परम्पराओं की पर्याप्तता आज प्रसिद्ध हो गई है, उनसे आगे ही हमको क़दम उठाना होगा, पीछे नहीं।

आगे कदम बढ़ाने का अर्थ यह नहीं है कि परम्परा के जिन आधारों पर हिन्दी कविता का नया रूप नये कला-पर्वों का निर्माण कर रहा है, उन आधारों की शिल्पकारियों और विशेषताओं को जान-बूझकर फ़ैशनपरस्ती में त्याज्य घोषित किया जाय; लेकिन साथ ही सम्प्रति की अवश्य आवश्यकता और भविष्य की उदात्त सम्भावना को यथार्थ रूप से अभिव्यक्त करने में यदि विगत की कुछ विशेषताएं नए कला-संस्कार के पथ में रोड़ा बनकर आती हैं तो स्वाभाविक है कि उन्हें छोड़ना ही पड़ेगा; बल्कि तोड़ना भी पड़ेगा। नई कविता का स्तर ऊंचा करने के लिए तथाकथित गीतकारों को सस्ती लोकप्रियता से और मुक्त-छन्दकारों को कृत्रिम दुरूहता तथा लोक के प्रति

उपेक्षा के बुर्जुआ संस्कार से ऊपर उठना होगा। नई कविता लोक-मानस की तृप्ति तभी कर सकेगी जब कि वह प्रेषणीय भी हो और साथ ही कला के नव-विकास के साथ-साथ लोकरुचि का संस्कार करती चले। केवल लोक-मानस की क्षणिक तृप्ति करने वाली कविता को सफल समझकर जनवादी बताना जन-जीवन के सांस्कृतिक विकास की सम्भावनाओं को रुद्ध करना है और इस तरह सस्ती लोकप्रियता का मार्ग जन-विरोधी मार्ग है। इसमें शक नहीं कि लोक-मानस की तृप्ति के साथ-साथ कला का नया विकास करना और उसके अनुसार ही लोक-मानस के कला-प्रिय संस्कारों को उन्नत बनाते चलना जटिल और कठिन कार्य है; लेकिन नई कविता और नई पीढ़ी के सामने सबसे बड़ा दायित्व यही है। इस दायित्व की गम्भीरता को ईमानदारी से अनुभव करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जो नये कवि अपनी कविता की कृत्रिमता और दुरूहता तथा जीवन-विरोधी दार्शनिकता का औचित्य समय की परिस्थितियों में खोजते हैं और कहते नहीं थकते कि परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब ही उनके मानस पर ऐसा पड़ता है कि दुरूहता और कृत्रिमता ही उनकी नई कविता के गुण हैं, तो वे स्वयं अपनी कला-अक्षमता और जन-विरोधी बुर्जुआ फैशनपरस्ती का नंगा रूप सामने रखकर अपनी उत्तरदायित्वहीनता के प्रति क्षमा की भीख-सी माँगते दिखाई देते हैं। यह एक दयनीय स्थिति है और इस स्थिति से मुक्त होने का एक ही मार्ग है कि ईमानदारी से वे अपने दायित्व को अनुभव करें। नई कविता के विकास और निश्चित रूप-निरूपण की तमाम सम्भावनाएं नई पीढ़ी का अपने दायित्व के प्रति ईमानदार रहने पर निर्भर करती हैं?

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

रहस्य-उद्घाटन

यह रहस्य-उद्घाटन-रत मन, यह असफल जन, यह संश्लथ तन,
हिय में यह अम्बर-विहरण रण, यह टटे उड्डीयन-साधन !

(१)

पंख नोच पटका मानव को, किसी खिलाड़ी ने धरती पर,
पर होती रहती है उसके, अन्तर में पंखों की फर-फर,
पृथिवी माता ने पहनाईं उसे बेड़ियाँ आकर्षण की,
और किसी ने सुलगा दी है हिय में चिनगी संघर्षण की,
परवश है, पर चाह रहा है यह करना रहस्य-उद्घाटन,
यह आकुल मन, यह अति लघु जन, पंखहीन यह, यह संश्लथ तन !

(२)

निगड़-बद्ध मानव के युगपद, पाश-बद्ध मानव के युग भुज;
और सतत, आक्रान्त किये है उसे एक अभिशाप-ताप-रुज,
जिसे मेदिनी ने जकड़ा है, तुच्छ समझता जिसे प्रभंजन—
और नियति ने डाल दिए हैं जिसके रोम-रोम में बन्धन—
उसी द्विपद को नील गगन ने भेजा है उड्डीन-निमन्त्रण !
गूँज रही है उसके हिय में पंखों की सन-सन-सन-सन-सन !!

(३)

मानव रहा न जाने कितने युग-युग लौं सोया-सोया-सा;
क्या हिसाब कितने युग से वह विचर रहा खोया-खोया-सा ?
किन्तु नींद में भी तो उसने देखे उड़ने के ही सपने !
औ' संतत विचरण में भी तो रहा खोजता डैने अपने !!
नहीं पा सका है अब तक भी अपने पंख और अपनापन,
यह रहस्य-उद्घाटन-रत-मन, यह असफल जन, यह संश्लथ तन !

(४)

क्या जाने कितनी लम्बी है उसकी यात्रा की पगडंडी ?
क्या जाने कितना कर आया मार्ग-क्रमण अब तक यह दंडी ?
नित देशाटन, सतत परिव्रजन, संतत चलन, दिग्भ्रमण क्षण-क्षण,
सतत अतन्द्रित निमिष-गणन यह, यह दिककाल-संकलन क्षण-क्षण,
यही रहा है मानव का क्रम, यही नियति का है रेखांकन !
यह रहस्य-उद्घाटन-रत-जन, कर-कर भ्रमण हुआ संश्लथ तन!!

(५)

पीछे मुड़कर कौन निहारे कितनी दूर आ चुका मानव ?
करता है स्वीकार गणित भी इस दिशि अपना पूर्ण पराभव !
आगे की भी क्या गिनती हो जहाँ, सकुचते हैं मनवन्तर ?
जहाँ ब्रह्म-दिन भी छोटे हैं, लघु हैं द्युति-वर्षों के अन्तर !!
इस महान दिक-कालार्णव में मानव करता सतत संतरण,
यह रहस्य-उद्घाटन-रत-मन, यह असफल जन, यह संश्लथ तन!

(६)

मानव की झोली में संचित हैं कितने ही कंकड़-पत्थर,
जो कुछ मिला पन्थ में, उसने वह सब उठा लिया है सत्वर,
यह सब संचित बोझ युगों का टाँगे वह अपनी लकुटी पर,
झुका भार से चला जा रहा, नाप-नाप पथ-लीक निरन्तर !
इतने पर भी गूंज रहे हैं हिय में 'नेति-नेति' के ही स्वन !!
यह रहस्य-उद्घाटन-रत-मन, सुन-सुन होता क्षण-क्षण उन्मन!!!

(७)

मानव ने विसृष्टि लीला लख पूछा निज से 'कासा ? कोऽहं'??
मानव अपने अन्तस्तल में निरख, कह उठा 'साहँ ! सोऽहं' !!
इस 'कोऽहं ? सोऽहं' की अब तक रार मची है अन्तस्तल में,
'नेति' और 'इति' जूझ रही है मानव के इस हृदय-विकल में !
यह रण व्यस्त कर रहे उसके रोम-रोम, श्रोणित के कण-कण,
है रहस्य-उद्घाटन-रत-मन, यद्यपि है संश्लथ मानव-तन;

(८)

जगत-रूप हृदयंगम करनें कहाँ-कहाँ दौड़ाई निज मति !
कितनी प्रखर साधना उसकी, अति प्रचंड विज्ञान-ज्ञान-रति !!

एक-एक कर दूर हटाए प्रकृति-नर्तकी के अन्तर-पट,
किन्तु अभी तक इतने पर भी मिटा न रंच यवनिका-संकट !
परदे में हो रही प्रकृति की नृत्य-चलित पाजन की झन-झन!!
यह रहस्य-उद्घाटन-रत-जन, सुन-सुन होता क्षण-क्षण उन्मन!!!

(९)

लीलामयी प्रकृति मानव से खेल रही है आंख-मिचौनी,
औ' मानव है, अपिहित लोचन, जड़गुण-बद्ध, स्तब्ध, अति मौनी !
ऐसा खेल कि रहता ही है संतत दांव इसी मानव पर,
मानव के शिर पर है मंडित जिज्ञासा अभिशाप, भयंकर।
कहां जाय ? किस दिशि यह झांके ? ढूंढ़े कहां ? किसे यह क्षण-क्षण ?
यह रहस्य-उद्घाटन-रत-मन, यह असफल जन, यह संश्लथ तन!

(१०)

कभी कुहुक आई अम्बर से, 'ढूंढ़ो' यों बोले सब उड्गण,
मानव ने उद्ग्रीवी होकर उधर उठाए अपने लोचन,
इतने में 'ढूँढ़ो ! ढूँढ़ो !' के आए स्वर पाताल अतल से,
मानव ने घबड़ा कर मोड़े, अपने युग-दृग चकित अबल से,
किन्तु उसी क्षण दिशि-दिशि गूंजा 'ढूँढ़ो! ढूँढ़ो!' का यह गुंजन,
किधर निहारे किसको ढूँढ़े, यह बौराया-सा जन उन्मन ?

(११)

बाहर तो, 'ढूँढ़ो-ढूँढ़ो' की सब दिशि यह गुंजार भरी हैं;
पर, भीतर भी यही महाध्वनि मन्थन-शील अपार भरी है;
लखो चतुर्दिक वह पागल-सा आकुल मानव डोल रहा है,
अपने युग-युग के यत्नों को निज दृग-जल में घोल रहा है;
उसे दिखाई पड़ा सभी दिशि, अपने हिय का संतत कंपन,
यह रहस्य-उद्घाटन-रत-जन, भ्रमित हुआ है, है संश्लथ तन;

(१२)

यह गंभीर सृजनार्णव दुस्तर परम अगम फेनिल चिर पंकिल !
लहराते जिसके अन्तर में नित्य सनातन प्रश्न तिमिंगिल !!
'कुत आजाता इयं विसृष्टिः ?' 'क इह प्रवोचत ?' अहो 'वेद कः ?'
'अस्याध्यक्षः परमे व्योमनि अंग, वेद यदिवान वेदसः ?'
अपना मुख फैलाए आए सम्मुख ये चिर प्रश्न पुरातन !
यह रहस्य-उद्घाटन-रत-जन, है संश्लथ तन, है अति उन्मन !!

(१३)

यों बन आई अतिथि; मनुज के हिय में यह विदेशिनी पीड़ा,
यों मानव अपने को भूला, भूल गया वह अपनी ईड़ा !
चिदानन्द-मय अपनी सत्ता उसने अपने से बिसराई;
प्रश्नों की उलझन में पड़कर अपनी विपदा और बढ़ाई;
किन्तु अँजा है मानव-दृग में ऊहा-पोह-व्यथा का अंजन,
अतः रहस्योद्घाटन-रत-जन, है उत्सुक यद्यपि संश्लथ तन;

(१४)

मानव की जिज्ञासा की है साक्षी स्वयं प्रकृति कल्याणी,
युग-युग से हुंकारें करता चला आ रहा है यह प्राणी !
यह भीषण दिक्काल-प्रहर उस ध्वनि-ध्यान से चिर, कंपित है !
लख मानव के यत्न निरन्तन प्रखर प्रभाकर भी स्तंभित है !!
देख-देख कर इस वामन को अमित चकित हैं नभ-तारक-गण,
यह रहस्य-उद्घाटन रत-जन, चला जा रहा है संश्लथ तन;

(१५)

अम्बर काँपा अवनी काँपी, काँप उठे नभ के सब तारे,
इस मानव की 'न-इति न-इति' सुन, सभी लोक-लोकान्तर हारे,
काल कँपा, आकाश कँप उठा, सुन-सुन इसकी 'न-इति' हठीली,
सबने देखा, है मानव की ग्रीवा उन्नत, यदपि लचीली।
इतिहासों के पन्ने भी हैं मानव का कर रहे संस्मरण,
यह रहस्य-उद्घाटन-रत-जन, चला जा रहा है संश्लथ तन;

(१६)

कोटि-कोटि ज्योतिर्वर्षों तक फैला है विस्तार मनुज का,
कहाँ-कहाँ तक पहुँच चुका है अति तनु मन इस द्विपद द्वियुज का!
विस्तृत है इसकी लीला, लघु विद्युन्मणि से ब्रह्मांडों तक;
इसके महाकाव्य की गाथा पहुँची है अगणित कांडों तक !
किन्तु पता क्या कितने गहरे, और करेगा यह अवगाहन ?
यह रहस्य-उद्घाटन-रत-जन, यह अति उन्मन, यह संश्लथ तन!

(१७)

अमित ज्ञान भंडार युगों के यत्नों से संचित कर पाया,
यह मानव निज रिक्त कोष को नाना रत्नों से भर लाया,

जहाँ सभी दिशि इस अग-जग के स्फुरणों में था केवल संभ्रम
जहाँ अंध व्यस्तता मात्र थी वहाँ लखा इसने कारण-क्रम!
निरलंकृता प्रकृति को इसने पहनाये नियमों के कंकण
यह रहस्य-उद्घाटन-रत-जन फिर भी फिरता है नित उन्मन!

(१८)

किन्तु पैठ गहरे जो झांका तो नियमितता हुई तिरोहित,
केवल दैवायत्त भावना होने लगी पुनः आरोहित;
अंशु स्फुरणकारी पदार्थ कुछ जग में मानव ने देखा है
जिसे दीप्ति-सक्रिय तत्त्वों[1] की श्रेणी में उसने लेखा है
होता रहता इन तत्त्वों के अणुओं का नित संघति-भेदन[2],
इसे निहार पूछ उठता है; 'क्यों-क्यों' इस जन का उन्मन मन?

(१९)

जिसे कराल काल मेटेगा अहो कौन-सा अणु विशेष वह ?
क्यों संघति-भेदन होता है, क्यों होता है अणु अशेष वह ?
इन प्रश्नों का नहीं दे सका उत्तर यह मानव विज्ञानी
यादृच्छिक अणु-भेदन लीला[3] अब तक नहीं किसी ने जानी
कहो क्यों न अकुलाये मानव देख-देख यह पटावरण घन ?
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन, पंख-हीन यह, यह संश्लथ तन !!

(२०)

मानव ने विद्युन्मणियों को देखा नयनों में अचरज भर,
मानो विश्व आ गया सम्मुख अपना मूर्त रूप ही तज कर;
ज्योति-किरण तो थी तरंगमय, अब घनत्व भी हुआ तरंगी,
मानों ऋण विद्युन्मणियों[4] में बना रही ब्रह्मांड अनंगी।
लुप्त हो रहे हैं क्या जग से मूर्त-अमूर्त रूप के बन्धन ?
पूछ रहा है यह आकुल-सा यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन !

(२१)

असन्तोष है इस मानव को सारे जग के इस सपने से,
औ' जग की क्या करे शिकायत, असन्तुष्ट है वह अपने से।

१—दीप्ति-सक्रिय तत्त्व—रेडियो एक्टिव सबस्टेन्स, जैसे रेडियम इत्यादि।
२—अणु-संघति-भेदन—डिस्इन्टीग्रेशन ऑफ एटम।
३—अणु-भेदन लीला—स्पोन्टेनियस डिस्इन्टीग्रेशन।
४—ऋणविद्युन्मणियां—एलेक्ट्रोन्स विद्युत्कण जो अणुओं से भी सूक्ष्म है।

यह आया है करने इतने ब्रह्मांडों का तत्त्व-निरीक्षण,
किन्तु मिले हैं निपट अधूरे उसे इन्द्रियों के यह लक्षण।
इतने क्षुद्र, असंगत इतने, ये विज्ञान-ज्ञान के साधन !
तब फिर क्यों न हृदय में खीझे यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन ?

(२२)

श्रोत, चक्षु, रसना, स्पर्शन, मन, घ्राण केवल यह मानव,
सुलझा रहा उलझनें जग की, खोज रहा है अचरज नव-नव,
किन्तु साथ ही नई समस्या मानों उपजाता जाता है;
एक प्रश्न सुलझा कि दूसरा उसके संनिधान आता है।
साँझ-सवेरे रहती ही है सम्मुख एक पहेली नूतन !
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन उलझन में उलझा है प्रतिक्षण!!

(२३)

जाना है जगरूप मनुज ने, इन लघु इन्द्रिय-उपकरणों से;
कार्य और कारण की लड़ियाँ उसने गूँथी हैं स्मरणों से,
पर, यथार्थता क्या है ? यह जो है केवल इन्द्रिय-संवेदन ??
पूर्वोत्तर का घटना-क्रम ही, है क्या कारण-कार्य-विवेचन ?
ये प्रश्नावलियाँ सदियों से करती हैं मानव-हिय-मन्थन,
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन, यह संश्लथ तन, यह नित उन्मन;

(२४)

ये इन्द्रियाँ कभी क्या देंगी हमको यथार्थता का परिचय ?
नयनों से देखा है जिसको, है क्या वही वास्तविक निश्चय ?
प्रकृति विलोकी जब आँखों से, तब क्या देखी! केवल झाँई !!
तब अवलोकी इक छल-छाया ! देखी बस केवल परछाँई !!
दृश्य सत्य है तो सपना भी है यथार्थ का पूर्ण प्रकेतन ?
यों विचार कर रहा युगों से यह रहस्य-उद्घाटन-रत-जन।

(२५)

नयनों ने घनत्व देखा था, नयनों ने तारल्य निहारा,
पर, मानव के गहन ज्ञान ने यह सब भेद मिटाया सारा,
अब देखा कि जगत है केवल धन और ऋण विद्युत्कणिका-मय;
औ' विद्युन्मणियाँ भी ऐसी जिनका कठिन वास्तविक परिचय;
ऐसी मणियाँ, होता रहता जिनका प्लवन बिना ही कारण;
तब फिर कारण-कार्य तर्क का जन-हिय से हो क्यों न निवारण?

(२६)

यों इन्द्रिय-गण की परिगणना, यों मन का घटना संश्लेष,
हिय को जंचे अधूरे ये सब, ये जग के सब रूप-विशेषण !
किन्तु क्या करे ? थक कर बैठे क्या यह मानव हिय-हारा-सा ?
अपनी भौतिकता को कैसे करे क्रमित यह बेचारा-सा ?
भूतग्रस्त है जो, वह कैसे भौतिकता का करे उत्क्रमण ?
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन, सोच रहा है यों अपने मन;

(२७)

क्या है स्रोत ज्ञान का ? पूछा यों जब मानव ने अपने से,
तो आई इक ध्वनि कि ज्ञान है केवल इन्द्रिय के कँपने से !
बोल उठा भौतिक विज्ञानी, हैं इन्द्रियाँ ज्ञान की साधन,
इनके बिना कहो कैसे हो मानव का यह ज्ञानाराधन,
मानव ने अपने स्वरूप के सुने तर्कमय ये सब प्रवचन,
किन्तु तत्त्व-उद्घाटन-रत-जन, पा न सका सन्तोष शान्ति-धन!

(२८)

क्या हैं वे इन्द्रियाँ कि जिनने दिया ज्ञान-भण्डार अतुल यह !
क्या हैं केवल साधन ही, यों बोला मानव आकुल यह !
कहो, इन्द्रियों से ही केवल ज्ञान-नोदना कैसे जागी ?
केवल यह उपकरण-समुच्चय कैसे बना ज्ञान-अनुरागी ?
क्या विज्ञान-ज्ञान का होता है केवल इन्द्रिय-संवेदन ?
पूछ रहा है आज अथक-सा यह रहस्य-उद्घाटन-रत-जन !

(२९)

आदि-मनुज ने लपट देखकर अग्नि बनाई सदन-लालिता !
वह भी कौन प्रेरणा जिसने कहा : करो तुम वन्हि-पालिता ?
आदि-मनुज ने पशुगण देखे, उन्हें बनाया निज-अनुगामी ;
वह क्या थी प्रेरणा कि जिसने कहा : बनो तुम इनके स्वामी ?
यह जो आदि प्रेरणा हिय में, है यह भी क्या इन्द्रिय-स्पन्दन ?
अथवा यह है ज्ञान अभौतिक ? पूछ रहा है यों जन-उन्मन !

(३०)

अपने को उपकरण-समुच्चय कैसे माने मानव-प्राणी ?
जब कि विचार और चिन्तन की उसने पाई अमर निशानी

मनुज कर रहा है घोषित यों : अरे, नहीं हूँ भूत-संघ में !
मैं हूँ सांग उपकरण-संयुत, पर फिर भी हूँ नित-अनंग में !!
इसी नित्य प्राप्तव्य ध्येय की ओर जा रहा है यह लघु जन,
यह रहस्य-उद्घाटन-रत-मन, पंख-हीन यह, यह संश्लथ तन !!

सुमित्रानन्दन पन्त

नव अरुणोदय

तुम कहते, उत्तर बेला यह,
मैं संध्या का दीप जलाऊँ !
तुम कहते, दिन ढलने को अब,
मैं प्राणों का अर्घ्य चढ़ाऊँ !

मेरा पंथ नहीं, मैं कातर
ज्योति क्षितिज निज खोजूँ बाहर,
रहा देखता भीतर, अब क्या
तथ्यों का कटु तम लिपटाऊँ !

मैंने कब जाना निशि का मुख ?
प्रथक् न सुख से ही माना दुख,
अंधकार की खाल ओढ़ अब
कज्जल में सन प्राण तपाऊँ ?

कभी न निज हित सोचा क्षण भर
क्यों अभाव, क्यों दैन्य घृणा ज्वर
अब क्या तारों के खँडहर में
नग्न व्यथा की गाथा गाऊँ ?

देख दिवाकर को अस्तोन्मुख
पंकज उर होता अंतर्मुख,
युग-संध्या, तम-सिंधु, ह्रास-तट,
स्वर्ण-तरी किस तीर लगाऊँ ?

मैं प्रभात का रहा दूत नित,
नव प्रकाश संदेशवाह स्मित,
नव विकास-पथ में मुड़ मैं अब
क्यों न भोर बन फिर मुसकाऊँ ?

जग-जीवन में रे अस्तोदय,
मैं मानसधर्मी, अक्षय वय
आओ, तम के कूल पार में
नव अरुणोदय तुम्हें दिखाऊँ ?

बाहर-भीतर

यह छोटा सा घर का आँगन,
जहाँ राम की अद्भुत माया
कभी धूप है तो फिर छाया,—
भाव-प्रभावों का जग उन्मन !

अपने ही सुख-दुख से निर्मित
गृह-कलहों वादों से कंपित,
क्षण आशा नैराश्य प्रतिफलित
चित्त-वृत्तियों का लघु दर्पण !

यहाँ उदय होकर दिन ढलता,
जन्म-मरण सँग जीवन पलता,
तुतलाता, घुटनों बल चलता,
खेल-कूद, भर हास कल रुदन!

सूरज चाँद,—दूब पर हिमजल,
तितली, फूल, गूँज, रँग, परिमल,
चिड़ियों की उड़ती—परछाँई,
आते जाते विधि पाहुन बन !

डाली पर उड़ गाती कोयल,
झर पड़ते आशा के कोंपल,
ज्ञात नहीं, कब क्या हो जाए,
सँग-सँग फिरते प्रलय औ' सृजन !

जीवन का चंचल यथार्थ छल,
भरता रीता होता अंचल,
मधु पतझर खिलते कुम्हलाते,
भोर-साँझ बिलमाते कुछ क्षण !

इस आँगन के पार राजपथ,
चलता महत् जगत जीवन-रथ,
दिशि-दिशि के कलरव कोलाहल
उपजाते नित नव संवेदन !

दूर, मंजरित खुले क्षितिज पर
नील पंख फैलाए अंबर
उड़ता उड़ता उड़ता जाता,
बिठा पीठ पर मानव का मन !

भू को अंधकार का है भय,
शिखरों पर हँसता अरुणोदय,
युग-स्वप्नों की चाप सुनहली
भरती उर में गोपन स्पंदन !

●●

रामधारीसिंह दिनकर

चाँद और कवि

रात यों कहने लगा मुझसे गगन का चाँद,
आदमी भी क्या अनोखा जीव होता है !
उलझनें अपनी बनाकर आप ही फँसता,
और फिर बेचैन हो जगता न सोता है।

जानता है तू कि मैं कितना पुराना हूँ ?
मैं चुका हूँ देख मनु को जनमते-मरते;
और लाखों बार तुझ-से पागलों को भी
चाँदनी में बैठ स्वप्नों पर सही करते।

आदमी का स्वप्न ? है वह बुलबुला जलका,
आज बनता और कल फिर फूट जाता है;
किन्तु तो भी धन्य; ठहरा आदमी ही तो !
बुलबुलों से खेलता कविता बनाता है !

मैं न बोला, किन्तु, मेरी रागिनी बोली,
चाँद ! फिर से देख, मुझको जानता है तू ?
स्वप्न मेरे बुलबुले हैं ? है यही पानी ?
आग को भी क्या नहीं पहचानता है तू ?

मैं न वह जो स्वप्न पर केवल सही करते,
आग में उसको गला लोहा बनाती हूँ;
और उस पर नींव रखती हूँ नये घर की,
इस तरह, दीवार फौलादी उठाती हूँ।

मनु नहीं, मनु-पुत्र है यह सामने जिसकी
कल्पना की जीभ में भी धार होती है;
बाण ही होते विचारों के नहीं केवल,
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है।

स्वर्ग के सम्राट को जाकर खबर कर दे,
"रोज ही आकाश बढ़ते जा रहे हैं ये;
रोकिये, जैसे बने, इन स्वप्नवालों को,
स्वर्ग की ही ओर बढ़ते आ रहे हैं ये।"

दर्पण

जा रही देवता से मिलने ?
तो इतनी कृपा किये जाओ।
अपनी फूलों की डाली में
दर्पण यह एक लिये जाओ।

आरती, फूल, फल से प्रसन्न
जैसे हों, पहले कर लेना;
जब हाल धरित्री का पूछें,
सम्मुख दर्पण यह धर देना।

बिम्बित है इसमें पुरुष पुरातन
के मानस का घोर भँवर;
है नाच रही पृथ्वी इसमें,
है नाच रहा इसमें अम्बर।

यह स्वयं दिखायेगा उनको
छाया मिट्टी की चाहों की,
अम्बर की घोर विकलता की,
धरती के आकुल दाहों की।

ढहती मीनारों की छाया,
गिरती दीवारों की छाया,
बेमौत हवा के झोंके में
मरती झंकारों की छाया।

छाया छाया – ब्रह्माणी की
जो गीतों का शव ढोती है,
भुज में वीणा की लाश लिये
आतप से बचकर सोती है।

झाँकी उस भीत पवन की जो
तूफानों से है डरा हुआ;
उस जीर्ण खमंडल की जिसमें
आतंक-रोर है भरा हुआ।

हिलती वसुन्धरा की झाँकी,
बुझती परम्परा की झाँकी;
अपने में सिमटी हुई, पलित
विद्या अनुर्वरा की झाँकी।

झाँकी उस नई परिधि की जो
है दीख रही कुछ थोड़ी-सी;
क्षितिजों के पास पड़ी पतली,
चमचम सोने की डोरी-सी।

छिलके उठते जा रहे, नया
अंकुर मुख दिखलाने को है;
यह जीर्ण तनोवा सिमट रहा,
आकाश नया आने को है।

●●

उदयशंकर भट्ट

चला चल पड़ा

चला, चल पड़ा साँस के पंख बाँधे,
थका भी रुका भी, न पर हार मानी।
हृदय में उमंगें तरंगित नदी-सी,
प्रबल कामना-ज्वार भर बह रहीं थीं,
नयनहीन गति औ चरणहीन आशा,
दिवस की किरण से कथा कह रही थी।
नये स्वप्न अंकुरा रहे थे हृदय में,
नये गीत हर ताल पर चल रहे थे,
नये भारवाही चरण पथ बनाते,
क्षणों की सजग साँस में पल रहे थे,
दिशाएं हृदयहीन आकाश चंचल,
दिवस मूक गतिमान् में चल रहा था,
तिमिर से घिरा पंथ जग का मरण बंध,
तन प्राण को घेर कर छल रहा था,
चरण भी थके, पंथ निश्वास बोझिल,
हिमालय अड़े चल रही पर कहानी,
चला, चल पड़ा साँस के पंख बाँधे,
थका भी रुका भी, न पर हार मानी।

मिला रूप ढलता गगन गर्व-सा गत,
छलकती सुरा चाँदनी में नहाया,
प्रणय कोर गीला किये वासना की,
अबुझ प्यास ने तृप्ति का दम्भ पाया,
भटकता रहा पंथ में अन्त तक मैं,
न ध्रुव ही मिला, लक्ष्य ही हाथ आया,
मचलता रहा उग्र यौवन उफन कर,
अवधिहीन हर प्यास ने आ जलाया,
जला मैं मगर कामना जल न पाई,
निशा ने तिमिर स्वप्न में ला सँजोये,
विवश कोर में नैन के ज्ञान भीगे,
अचल प्राण डूबे सभी स्वप्न खोयें,
सभी दृष्टि-पथ में पड़े रोकते पर,
रुके ये नहीं प्राण मेरे 'भिमानी,
चला, चल पड़ा साँस के पंख बाँधे,
थका भी रुका भी, न पर हार मानी।

बहुत-कुछ सुना औ' सहा भी बहुत-कुछ,
बहुत-कुछ कहा अनकहा भी अभी है,
मिला जो नहीं अन्त है प्राप्ति का वह,
बहुत-कुछ अदेखा अचाहा अभी है,
उदधि है अतल चाह का, बाहु निर्बल,
तलातल कहीं भी किनारा नहीं है,
न है लक्ष्य वह जो जिसे लक्ष्य माना,
सहारा मिला, वह सहारा नहीं है,
उमड़ती घुमड़ती घटा घिर रही है,
पवन से मचल चांदनी में बिहँसता,
बिखर जायगा फूल जी भर खिला जो,
वही क्षण सही है जहाँ दे सका मैं,

किसी मूक को एक क्षण मुक्त वाणी।
चला, चल पड़ा साँस के पंख बाँधे,
थका भी रुका भी, न पर हार मानी।
दिवस चल रहा है, निशा चल रही है,
उमगती उमगती उषा चल रही है,
घटा घेर पाती नहीं काल-जीवन,
नियति की निरन्तर कशा चल रही है
सभी स्वप्न पूरे न होते किसी के,
यही भेद है स्वप्न में जागरण में,
घिसटते चरण कल्पना दौड़ती है,
यही भेद है चाह में आचरण में,
सृजन औ, मरण के तटों में गसी-सी,
अतल प्राण जीवन-नदी बह रही है,
बनाई स्वयं दुःख की ग्रंथियों में,
विवश चेतना वेदना सह रही है,
अजय काल-पथ पर विजय के चरण
मैं चलूँगा मिले सिद्धि मेरी अजानी।
चला, चल पड़ा साँस के पंख बाँधे,
थका भी रुका भी, न पर हार मानी।

शिव : विवेक

स्वर्गंगा की रजत धार
तारक स्मय उत्थित,
मथित व्यग्र,
हीरक सी मंजुल,
कण कण वंजुल,
लुलित लहर से-
कल कल कल कल
बरसी,
सरसी प्लावित,
अस्थिर अस्थिर जलकण भरे,
भरे आशाएँ,
धौत भाल पर, नग विशाल पर,
हिमनग पर गिर
बही,
रही आ, अंक मयंकित,
सित माला-सी,
द्युतिबाला-सी।
रवि की किरणों से विभ्राजित,
क्षीर नीर ले चली धरा की ओर
काटती कोर तटों के
घोर शोर से
कंपित गति
अयति नियति की—
एक टेक-सी,
नव जीवन ले,
नव स्वप्नों की,
नव विभवों की मंजरियों पर
कूल काटती,
पन्थ छाटती,
हर हर हर हर-
हरती खड़े अड़े तरु वल्कल,
पल पल पल पल-
चली, बनाती भली उतरती
भूधर पर पन्था की अनुगति;
चली इधर फिर,
चली उधर फिर,

भूपर आई, मैदानों में, खलिहानों में,
रुकी-झुकी, फिर उठी, वही फिर,
नव स्वर घर्घर,
और साथ ले असम विसम से-
निर्मम जड़तर, अनघड़ तिरछे-
ऊंचे नीचे-
शिला-खण्ड ले,
वज्र-दण्ड ले,
अपने भीतर लाई;
जो टकराते जल प्रवाहसे,
तट से, तलसे,
अतल वितल से,
ऊँची-नीची राह-राह से,
बहते बहते काल पारकर
बहते आये और बन गए गोल-
भव्य अनमोल,
नये शिव छविकर सुन्दर।
× × ×
और इधर मानव-मन-गंगा
उठ उठ घर्षण से,
काम क्रोध के, लोभ मोह के,
क्रिया-विक्रया चिन्तन-तट से,
मानस द्वन्द्व धार मर्षण से,
चलित मथित
विगलित
मतिभ्रम से
क्रमविक्रम से
मनमन्थन से
नवस्वरूप ले
प्राणरूप ले
उदधिफेन-सम
उभर उभर ऊपर
उठ आया
हृदय हृदय करता अभिषेक-
समुज्वल जीवन धन में,
एक मार्गद्रष्टा स्रष्टा इस जग का,
जन-जन के पथ का निर्माता
महानाश से नर का त्राता,
श्रेय और विश्रेय प्रेम के-
मानव के अतिश्रेय ध्येय के,
उज्वल पावन जीवन में,
अनमोल गोल,
नव शिव सा सुन्दर,
छविभर स्वर अतिरेक
प्राण की मेख,
समुज्ज्वल स्वयंविवेक।
× × ×
दोनों ही से हुआ विश्व-कल्याण,
एक मन्दिर में बैठा भव के आकर,
और दूसरा मन-मन्दिर में,
स्वर्ग प्रसव करता मानव में
भीतर-बाहर सभी विश्व में
स्वर्ग और अपवर्ग।

भगवतीचरण वर्मा

अजाने हैं !

चहल-पहल की इस नगरी में,
हम तो निपट बिराने हैं—
हम इतने अज्ञानी निज को
हम ही निपट अजाने हैं।
इसीलिए हम तुमसे कहते
दोस्त हमारा नाम न पूछो,
हम तो रमते-राम सदा के
दोस्त हमारा गाम न पूछो !
एक यन्त्र-सा जो अदृश्य के
हाथों से संचालित होता—
कुछ ऐसा अस्तित्व हमारा
दोस्त हमारा काम न पूछो !
यहाँ सफलता या असफलता—
ये तो सिर्फ बहाने हैं,
केवल इतना सत्य कि,
निज को हम ही स्वयं अजाने हैं !

(२)

पैरों में कम्पन है,
मस्तक पर शत-शत शंकाएँ हैं;
अन्धकार आँखों में,
उर में चुभती हुई व्यथाएँ हैं !
अपनी इन निर्बलताओं का
हम कहते हैं—हमें ज्ञान है,
इसीलिए हम ढूंढ़ रहे हैं—
जो शाश्वत है, जो महान् है !
जितने देखे मिटने वाले—
जितने देखे मरने वाले—
जीवन औ' निर्माण लिए जो
प्रेम अकेला शक्तिवान् है !
बुरा न मानो जनम-जनम से,
हम तो प्रेम-दिवाने हैं,
इसी लिए हम तुमसे कहते,
हम तो निपट बिराने हैं !

(३)

एक जलन-सी है साँसों में,
एक पुलक है प्राणों में,
हमें नहीं कुछ भेद दीखता,
कलियों में—पाषाणों में !
कोमलता का प्रश्न सदा से
"इन आँखों में कितना जल है ?"
औ' कठोरता पूछ रही है
"मन में बोलो कितना बल है ?"
हमें दूसरों से क्या मतलब ?
अपने से उत्तर पाना है,
उलझे-उलझे केवल हम हैं
यह दुनिया तो सहज सरल है !
पाप-पुण्य, यश-अपयश, सुख-दुख—
सब जाने-पहचाने हैं।
एक अकेले हम ही जग में,
अपने लिए अजाने हैं !

(४)

नहीं किसी से हमको कटुता,
नहीं किसी पर क्रोध हमें,
नत-मस्तक श्रीहत कर देता,
अपना ही अवरोध हमें !

दास्त हमारी तरह विश्व के
सब प्राणी हैं खोए-खोए,
अरे हँसे कब अपने मन से
अपने मन से कब वे रोए ?
निरुद्देश्य-से, लक्षयहीन-से
सब अभाव में भटक रहे हैं,
करुणा दया माँगते हैं वे
अपनी-अपनी कथा सँजोए !
देख चुके हम गिरते-लुटते,
कितने महल-खजाने है,
और इसी से हम कह उठते,
हम तो निपट बिराने हैं !

(५)

हम ममता लेकर आए हैं,
ममता देने आए हैं,
ममता वालों के बोलो,
कब अपने और पराए हैं ?
इसीलिए हम तुमसे कहते
दोस्त व्यर्थ का नाम-गाम है,
हम फकीर युग-युग के हमको
बन्धन से क्या यहाँ काम हैं ?
कैसा संचय ? खाली हाथों
आना और चले जाना है,
धन-वैभव हो तुम्हें मुबारक
अपना दाना दोस्त राम है !
भले हमें तुम मूरख समझो
हम तो बड़े सयाने हैं,
इस अज्ञान भरी दुनिया में,
हम भी बड़े अजाने हैं !

●●

डा० रामकुमार वर्मा

साधना के स्वर

इस मधुर संगीत में
स्वर-लिपि विरह के गान को हं।
एक अनजानी कहानी
रसमयी पहिचान की है।

तार की झनकार में,
शतदल मधुर स्मृति के खिले हैं।
उमंगती सी ऊर्मियों में,
प्राण दो बह कर मिले हैं।
इस मिलन को तुम न कहना,
यह कथा अवसान की है।
एक अनजानी कहानी,
रसमयी पहिचान की है।
वंशिका के शून्य रन्ध्रों,
मध्य स्वर के सिन्धु संचित।
उस तरह यह शून्य सा,
अस्तित्व है अनुराग रंजित।
कर्म में मेरी कुशलता,
सहज स्वर-संधान की है।
एक अनजानी कहानी,
रसमयी पहिचान की है।

राग प्रतिध्वनि में लुटा,
अवशेष बस केवल व्यथा है।
एक मूर्च्छित मूर्छना में,
जग उठी प्रिय की कथा है।
यह कथा संताप के,
स्वर में कही वरदान की है।

एक अनजानी कहानी,
रसमयी पहिचान की है।
जब कि यह संगीत है तो,
व्यर्थ हैं संसार-लेखा ।
गूँजते से तार सी,
मेरी खिंची है भाग्य-रेखा।
क्योंकि छन्दों की प्रभा,
केवल प्रभाती प्राण की है।
एक अनजानी कहानी,
रसमयी पहिचान की है ।

आत्म-परिचय

प्रिय ! तुम्हारे किस सजीले,
स्वप्न का आकार हूँ मैं।
जो तुम्हारे नेत्र में नत,
है वही शृंगार हूँ मैं।
एक ही थी दृष्टि जिसमें,
सृष्टि मेरी मुस्कराई ।
थी वही मुस्कान जिसमें,
हँसी जाकर लौट आई।
थी तुम्हारी गति कि जो,
दुख में सदा सुख बन समाई।
भाग्य-रेखा क्षितिज-रेखा,
बन प्रभा से जगमगाई ।
टूटकर भी नित्य बजता हूँ,
तुम्हारा तार हूँ मैं ।
प्रिय ! तुम्हारे किस सजीले,
स्वप्न का आकार हूँ मैं ।

कौन-सा वह क्षण दिया,
जो प्राण में अनुराग बाँधे।
कौन-सा वह बल दिया,
अनुराग में भी आग बाँधे।
कौन-सा साहस दिया जो,
भूमि के सब भाग बाँधे।
भूमि-भागों के मुकुट पर,
मुस्कुराता त्याग बाँधे।
सूखकर भी जो हृदय पर,
खिल रहा है हार हूँ मैं।
प्रिय ! तुम्हारे किस सजीले,
स्वप्न का आकार हूँ मैं।

बहुत-सी बातें हुईं अब,
रात ढलती जा रही है।
कौन-सा संकेत है जो,
साँस चलती जा रही है।
अवधि जितनी कम बनी,
उतनी मचलती जा रही है।
दीप्ति बुझने की नहीं,
वह और जलती जा रही है।
मृत्यु को जीवन बनाने का
अमिट अधिकार हूँ मैं।
प्रिय ! तुम्हारे किस सजीले
स्वप्न का आकार हूँ मैं।

वर्मा जी की इन कविताओं के विषय में पृष्ठ ६० पर उनका लेख 'मेरा दृष्टिकोण' द्रष्टव्य है।

असफलता की लकीर

इस जग का सारा ज्ञान,
तुम्हारा पद-रज कण भी बन न सका।
मेरे जीवन का अन्तराल,
दर्शन का क्षण भी बन न सका।
कितने दिन आए गए,
आज उनकी समाधि पर अन्धकार।
कितने सुख-दुख के फूल,
धन के अतिथि बन चुके बार-बार।
जीवन के कन्धों पर रखकर,
दुहरी साँसों का शून्य भार।
मैं आज यहाँ तक आया हूँ,
करने भविष्य का नव सिंगार।
पर मेरे स्वर का सरस राग,
प्रणयी का प्रण भी बन न सका।
इस जग का सारा ज्ञान,
तुम्हारा पद-रज कण भी बन न सका।
इन उथली स्मृतियों में मेरे,
स्वप्नों के सागर लहराते।
जो चित्र बड़े निखरे से थे,
वे धूमिल से पड़ते जाते।
मैं सोच रहा हूँ अमर उषा के,
रंग इन्हें यदि रँग पाते।
तो ये मेरे जीवन-नभ में,
नक्षत्रों के स्वर से गाते।
पर वह भविष्य का चन्द्र,
आज की क्षीण किरण भी बन सका।

मेरे जीवन का अन्तराल,
दर्शन का क्षण भी बन न सका।
मैं अपने व्रत पर अडिग,
किन्तु मुझको मन पर विश्वास नहीं।
जो पहले था उच्छ्वास आज,
वह उर में है उच्छ्वास नहीं।
मेरी साँसें कहने को मेरी,
हैं पर मेरे पास नहीं।
नभ विस्तृत है पर किसी हृदय का,
कभी बना अधिवास नहीं,
मेरा जीवन इन चरणों में प्रिय!
अमर मरण भी बन न सका।
इस जग का सारा ज्ञान,
तुम्हारा पद-रज कण भी बन सका।
हाँ, मृत्यु यहाँ क्षण-भंगुर है,
जीवन है नित शाश्वत विधान।
है जागृति दोनों ओर बीच में,
स्वप्न जुड़ गया है महान्।
मेरे सुख-दुख के शशि-रवि हैं,
जो गति का ही गा रहे गान।
इन सबको मैं क्या जानूँगा,
जब अपने को पाया न जान।
पथ विस्तृत है, सम्मुख मेरे,
मैं अचल चरण भी बन न सका।
मेरे जीवन का अन्तराल,
दर्शन का क्षण भी बन न सका।

जागरण-गीत

प्रकृति के प्रतिबिम्ब में,
मानव! अरे, साकार बन।
सत्य का स्पन्दन हुआ,
पहले हृदय में प्राण जागे।
खिल उठी तेरी अरुणिमा,
रवि-उदय के बहुत आगे!

दिवस के संगीत का गूंजा,
हुआ तू तार बन।
प्रकृति के प्रतिबिम्ब में,
मानव ! अरे, साकार बन।

ये दिशायें हैं नहीं,
तेरे सधे संकेत गहरे।
झुक गया आकाश तक,
उत्थान के तू शब्द कह रे !
विश्व-पिण्डों को उठाने,
के लिये संसार बन।
प्रकृति के प्रतिबिम्ब में,
मानव ! अरे, साकार बन।

दृष्टि तेरी दूर तक, इतनी
कि सब-कुछ कह गई है।
क्षितिज-रेखा प्रश्न रेखा
बन अभी तक रह गई है।
भू-कणों को जोड़कर तू,
सृजन का अधिकार बन।
प्रकृति के प्रतिबिम्ब में,
मानव ! अरे, साकार बन।

सूक्ष्म से भी सूक्ष्म बन्धन,
बाँध सकता है न गति को।
फूल के कोमल दलों सा,
बाँध ले अपनी नियति को।
भाग्यरेखा में उभर कर,
तू नया अवतार बन।
प्रकृति के प्रतिबिम्ब में,
मानव ! अरे, साकार बन।
आज मेरी ध्वनि बनी है,
पीठिका तेरे चरण की।
देखकर जिसको विजय भी,
कर रही इच्छा वरण की।
तीन पग से तीन लोकों,
का अखिल विस्तार बन।
प्रकृति के प्रतिबिम्ब में,
मानव ! अरे, साकार बन।

केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'

मैं और मेरी सृष्टि

तुम सुधामयी, तुम तृषामयी, मैं अमृत-पुत्र
पर तुम्हीं चेतना हो मेरी !
ऊषा की पहली अरुण रश्मि
स्वर्णिम प्रकाश की प्रथम किरन
थी फैल चुकी भर रन्ध्र-रन्ध्र में छन्दमयी का मृदु शिंजन
पर, सूनी-सूनी राह-डगर
सूना-सूना कण-कण का अन्तराल
कोई न कहीं भी चरण-चिन्ह
सूना-सूना विस्तार, काल।

मेरे अन्तर का पुरुष सनातन मौन-मौन
मैं भी चुप था—तुमने सहसा
साँसों की नीरव हलचल को झकझोर दिया
फिर चरणों की गति, दिशा-ज्ञान, सन्धान बनी
मैं बोल उठा—"अयि, तुम्हीं प्रेरणा हो मेरी।"

(२)

कल्पना किसी की रुकी-रुकी
तुम निवेदिता-सी झुकी-झुकी
मैं चला गगन का दीप जला
मैं चला सृजन का दीप जला
संसार-पुष्प अधखिला-खुला
सर्जना स्वयं आरती बनी, तुम अगरु-धूम
मेरे प्राणों का पुरुष सनातन झूम-झूमकर
लगा खोलने वाणी का बन्धन अघोर
तुम खड़ी लिये श्रद्धा का निर्मल अर्घ्य-नीर
मैंने तत्क्षण पहचान लिया—अयि, तुम्हीं वेदना हो मेरी !

(३)

जिस ओर दृष्टि मेरी जाती
तुम वहीं व्याप्त थीं सपनों के चन्द्रिका-पात्र में निर्निमेष
तुम वहीं व्याप्त थीं
मेरे परिचय की पुकार बनकर अशेष
वह नीला-नीला महाशून्य !—
पुतली की नौका मैंने जब खोली अधीर
देखा पतवार सँभाले जो
छवि बैठी थी—तुम वही पीर
करुणा की गीली साड़ी में
पूजा से पावन मृदु शरीर
मेरी पलकों का पुरुष सनातन बार-बार जाकर समीप
कुछ कहता था, मानों 'लौ' से कुछ कहता हो प्रज्वलित दीप
मैंने तब अनुभव यही किया—
अयि, तुम्हीं भावना हो मेरी !

(४)

जल में पृथ्वी यह नील-कमल की श्यामलिमा
तुम जिसकी नित्य-नई गरिमा
तुम हार-जीत के आदि-काव्य की पृष्ठ-भूमि
जिस पर उतरा मैं अखिल व्याप्ति में
भरने को जीवन-प्रवाह
भरने को शाश्वत प्राण-दाह !
अस्तित्व न केवल अश्रु-धार
वह महाज्वाल
जो घूम रही है इसी भाँति
जिसको लेकर मैं घूम रहा हूं इसी भाँति
तुम इसी चक्र की प्रखर ज्योति।
मेरी साँसों का पुरुष सनातन कहता है
जिसकी वाणी से, प्राणों से
जिसकी आँखों से प्रभापूर्ण
मैं जान गया—तुम वही सान्त्वना हो मेरी !

(५)

मैं जनम-जनम की कथा लिख रहा हूँ अशेष
साँसों में प्रतिपल प्रति निमेष
पर शेष अंश कुछ रह जाते प्रत्येक बार
युग-कर पसार
जिनको चुन लेती तपस्विनी कोई अजान।
फिर नये भोर के आने पर
घन-प्रलय-तिमिर मिट जाने पर
उन अलिखित अंशों को लेकर
रचती भविष्य का नव विहान
मेरी वाणी का पुरुष सनातन साक्षी है
तुम वही प्रार्थना हो मेरी !
तुम क्षुधामयी, तुम तृषामयी—मैं अमृत-पुत्र
पर तुम्हीं चेतना हो मेरी !

जनम-जनम का उत्सव

साँसों के आँगन में जिस दिन
नव-वधू-सरीखी उतरी थी।
हिय की यह नन्हीं-सी धड़कन
त्योहार वही मेरा पहला !
(२)
पलकों के मंदिर में मैंने
पुतली का दीप जलाया जब।
हे देव ! तुम्हारी रूप-किरन में
'लौ' ने स्नेह मिलाया जब
नभ-पथ की सतरंगी रेखा,
बरसी कण-कण शीतल चन्दन।
शृंगार वही मेरा पहला।
(३)
बाँहें पसार कर छाया ने
माँगीं जब कलियाँ अनाघ्रात।
ओसों में मालिन बन उतरी
जीवन की छवि तब शुभ्र गात
अम्बर की पलकें झुकी हुईं
धरती की शय्या सजी हुई
मेरे आलिंगन में बेसुध,
मेरी मनुहारमयी दुलहन
अभिसार वही मेरा पहला !

●●

अंचल

नारी

पृथ्वी की रंगस्थली-सी ओ स्वयंवरा !
मानव जगतीका प्रकाश जीवनकी स्रोत तुम
विश्व के प्रथम प्रात को तुम हिमकणिका
सूखी नहीं मानवता के रूख पर जो अभी
रात की श्रम अर्जित मीठी नींद-सी मधुर
नभचुम्बी एक महा ज्योति की अमर तेज
चुम्बन-सी अधरोंके प्रान्तर की नव शिखा।
आग और सोने के पहाड़ों बीच
बहती पार्वत्य सरिता की रक्तधारा-सी
बेगुनाह
किरणों के बाण लिये शारदीय ऊषा सी
—निष्कलंक
मृत्यु भय ग्रस्त चिन्तित स्नायुओं में
शुभ्र जल स्रोत-सी जीवन का सुख तुम
उड़ती बालू-सी मृगतृष्णा में तुम एक
—ओसिस-सी,
इससे अधिक कोई और कहे क्या—युवती
—हो तुम
निश्चल सागर की आत्मा-सी शान्त हो।
युग-युग के अतृप्त प्रेमकी इच्छा चाँदनी-सी
अधरों में छिटकी
रति की स्थिर दीर्घ एकान्त छाया-सी
छवि के सपनों की रम्य शयनशिला
शान्त मधुवन की निःशेष सित कामना
सुन्दर सजीली सौम्य
बेतस निकुंज-सी सजल बल खाती हो।
इन्द्रधनुषों के पथ में चल आती हो
तृण-तृण में तुहिन बिन्दु-सी सुअंकिता
गर्वोन्नत यौवन किरीटनी !
चपला—शत-शत बादलों की प्रेयसी
वारुणी से सिक्त अंगों की ये बल्लरियाँ
जैसे हों तुम्हारे अभिनन्दन की लड़ियाँ

रूपसिन्धु की निवासिनी तुम चिर उर्वशी
ओ जगत रंगिनी !
ओ पुलक पंखिनी !
जीवन वसंत के विभव की पिक सारिका,
प्रेमियोंकी सिद्धि और रिद्धि की सफल कला
तुम प्रतिनिशि में बनती हो नव बधू
नित-नित नूतन हो ।
प्रतिदिन सार्थक होती सीमन्त की सिन्दूर-
रेख,
छटा और प्रकृति मनोज की हो सहचरी
तीसरी तुम ।
लक्ष्य वेध करती हो मन हरकर,
सद्य उगते नवल चन्दन की बाड़ी-सी ।
युग का पथ निस्सम्बल फिर से बनेगा
दीप्त,
पा तुम्हारा पंथ दान
ओरी अभिमानिनी ।
आज फिर निकली—रजनी के कवि की
साधना कुटी से तुम
मसृण सघन वन के अँधियारे से—रम्य
उस तलहटी से ।
और आँखें फाड़ देख। जीवन का यह नरक
देखो यह अनय, अनादर औ' अविश्वास ।
सुनों यह हाहाकार
नवयुग के करवट लेने का यह निनाद,
शोलों से करो सत्कार—क्रान्ति के इस
महामंगलमय युग का ।
उगलो तुम ज्वालामुखी
हम हों—हो तुम और जीवन का संग्राम
रात को बनी थीं तुम गीली और रँगीली,
दिन में बनो अखंड युद्ध की करालिका,
दिन में पुकारकर ललकार कहो,
मुक्ति चाहती हैं हम
धन के असम और अनियमित वितरण से
मानव द्वारा मानव के नारकीय शोषण से
दुःख गरीबी और बढ़ती बेकारी से
युगों से बँधे, सड़ते विषमता के दाह से
इन्द्रियों के बिकृत विकारमय निग्रह से ।
होगी नवयुग की अवतारणा धरापर तब ।

अमर आलोक

बुझ जाते हैं दीप, कभी आलोक नहीं मरता है ।

क्यों न बुझे वह दीप रात-भर का जो स्नेह सजाये ?
नश्वर है वह दीप स्नेह के बल पर जो लहराये
कब तक गूँथ सकेगा वह उज्ज्वल निमिषों की माला,
जिसे पराई ममता के बल ने दे दिया उजाला ।
बँधती है कब लोक विभा की बाती के बन्धन में,
अग्नि-शिखा कब बँधकर रहती अंगारों के तन में ?
दीपक बढ़ते हैं—प्रकाश केवल फैला करता है ।
बुझ जाते हैं दीप, कभी आलोक नहीं मरता है ।

स्नेह-हीन होकर भी अनमिल अनचाहा मन दहता
तृष्णा चुगती है चिनगारी प्राण-पपीहा सहता,
यह अविराम जलन, ज्वाला की सेज बिछी हो जैसे,
ऐसी प्यास उमड़ती मन में युग-युग बुझे न जैसे;
है अविनश्वर यह प्रकाश यह मुग्ध चाँदनी मन की,
प्रथम विरह से जलती आई दीप-शिखा जीवन की।
स्नेह नहीं—इसमें अभाव की सुधि का जल झरता है।
बुझ जाते हैं दीप, कभी आलोक नहीं मरता है।

नभ के तारों की समाधि पर अन्धकार छा जाता,
परम्परा है अमर ज्योति की रोज सवेरा आता,
भरा हुआ है नभ की छाती में कितना होमानल,
आहुति देती है गौरव की रोज धरा को जल-जल।
भू का ही जय-गीत दान में रोज उसे दे जाता,
भू का सृजन यज्ञ पलता है किरणों की जय गाता।
यह उल्लास उदय का रजनी की जड़ता हरता है।
बुझ जाते हैं दीप, कभी आलोक नहीं मरता है।

●●

गिरिजाकुमार माथुर

मूरतें

नींद नहीं आती है
दुखती यह छाती है
माथे पर तैर रहीं
निराकार मूरतें
जीवन जो हो न सका
वे सारी सूरतें
आत्मा की भूमि पर
एक विश्व उठता है
ढहता है एक विश्व
एक नया रुकता है
सुख की निशब्द एक
उँगली छू जाती है
थकती है ललक कभी
दुनिया जल जाती है
गिरकर जो विलय हुआ
वह भी क्या अपना था
जो आने वाला है
अब तक वह सपना था
खेल रहा भीतर का
मर्म छिपा पाती है
मुट्ठी में बन्द किए
अनुभव की थाती है
मन की कुठाली में
धातु कठिन गलती है
ठुक पिट निहाई पर
मूर्ति नई बनती है।

गीत

छाया मत छूना, मन !
होगा दुख दूना, मन !
जीवन में हैं सुरंग सुधियाँ सुहावनी
छबियों की चित्र-गन्ध फैली मनभावनी
तन-सुगन्ध शेष रही बीत गई यामिनी
कुंतल के फूलों की याद बनी चाँदनी
भूल सी एक छुवन
बनता हर जीवित क्षण
छाया मत छूना, मन !
होगा दुख दूना, मन !
यश है, न वैभव है, मान है, न सरमाया
जितना ही दौड़ा तू उतना ही भरमाया
प्रभुता का शरण-बिम्ब केवल मृगतृष्णा है
हर चंदिरा में छिपी एक रात कृष्णा है
जो है यथार्थ कठिन
उसका तू कर पूजन !
छाया मत छूना, मन !
होगा दुख दूना, मन !
द्विविधाहत साहस है दिखता है पंथ नहीं
देह सुखी हो पर मन के दुख का अन्त नहीं
दुख है न चाँद खिला शरद रात आने पर
क्या हुआ जो खिला फूल रस वसंत जाने पर ?
जो न मिला भूल उसे
कर तू भविष्य वरण !
छाया मत छूना, मन !
होगा दुख दूना, मन !

सावन की रात

नीली बिजली मेघों वाली
झींगुर की गुंजार
धुंधभरा साँवर सूनापन
हवा लहरियोंदार
घन घुमड़न भुज-बन्धन के उन्माद सी
बढ़ती आती रात, तुम्हारी याद सी
रात रसीली बूँदों वाली
जैसे देह रसाल
यहाँ महक उठती मेंहदी की
वहाँ हाथ हैं लाल
विद्युत दीपन कंगन की चमकार सी
अधर छुवन की सिहरन मन्द फुहार सी
घन मतवाले काजल काले
जैसे लम्बे बाल
सोंधी धरा गन्ध सी जिनकी
सुधि करती बेहाल
मिलन रात जो तन पर करते छाँह सी
धरा कंठ जब इन्द्र डालता बाँह सी
इन्द्र-धरा के नयन, अधर, भुज
वक्ष मिलन का मास
बहुत दिनों के बाद मिले
आलिंगन का उल्लास
बूँदें पड़तीं फिर-फिर अंकित प्यार सी
आँखें मुँदती सुख भीगे अँधियार सी
भूले हम आनन्द, रंग
जीवन रस का विश्वास
तन में तेज़ धूप वर्षा की
मन मे साँझ उदास
उम्र सलोनी ठिठके सुमन विकास सी
मेघ दबे उजयाले के आभास सी
तन, मन वाणी की सीमाएँ
बंधन हत संसार
किन्तु भाव बल से ही होता
जीवन का विस्तार
इसीलिए है रूप रंग की प्यास भी
इसीलिए है जीवन में विश्वास भी।

हंसकुमार तिवारी

अनकही बात

कहनी थी सो रही अनकही बात।
इतनी बड़ी पड़ी यह दुनिया, इतना बड़ा अकास,
इतनी खुली बयार खेलती, इतना खिला प्रकाश,
जीवन के अंकुर पर दो-दो साँसों को अकुलाये,
पनप रहे पी-पी माटी की उबली हुई उसाँस।
द्वन्द्वमयी इस करुण-मधुर सुषमा ने मुझे पुकारा
किरण बिछाते गये प्रात, ओसों में रोती रात।
कहनी थी सो रही अनकही बात।

सरस नेह से सावन-फागुन से श्यामल अमराई
विरह-मिलन से पीड़ित-पुलकित कूज रही तरुणाई
किरणें बिछीं, खिंची आयी चाँदनी चाँद से छिटकी
उझक झाँकने लगा स्वर्ग उस शोभा में परिछाईं
अतुल रूप के व्यथाविद्ध प्राणों ने मुझे पुकारा
घुलते गये दीप, खिलते आये सिमटे जलजात।
कहनी थी, सो रही अनकही बात।

बँधे-बँधे-से मिले चरण दो गगन सुगामी मन को
जाग्रत ज्वालामुखी हृदय में, ऊपर सजल नयन दो
चला आग-पानी में जलता-बुझता जीवन आगे
लगा छाँह-सा पीछे-पीछे अकरुण चला मरण, लो
इस असहाय विवशता ने जीवन की मुझे पुकारा
अधरों पर अरुणिमा उदय की, आँखों में बरसात।
कहनी थी, सो रही अनकही बात।

थिर हो गयीं थिरक आँखों में आशा अगिन अधूरी
पार न कर पायीं सपनों के नीलकमल की दूरी
कुछ निश्वासों में बिखरे उभरे उल्लास हृदय के
खिंची एक मुस्कान मौन कह गयी कहानी पूरी
भाषा हीन निराशा ने उस चुपके मुझे पुकारा
काँप रह गये होंठ, नयन के झरझर झरे प्रपात।
कहनी थी, सो रही अनकही बात।

माँग रहे थे अनगिन उजड़े प्राण प्रेरणा आशा
कोटि-कोटि अवरुद्ध कंठ आवाहन की नव भाषा
रेखा-रंग अरूप माँगते, गीत अगीत रहे जो
माँग रहा है जीवन अपनी आज नयी परिभाषा
अनदेखे अनजान अबोले ने फिर मुझे पुकारा
तिरने लगे खुली आँखों के सपनों में अज्ञात।
कहनी थी, सो रही अनकही बात।

उस समाधि पर नयी जोत की शिखा एक जो जागी
तूफानों से उलझ-सुलझ कर नयी जुगोये जागी
तम के काजल-काले होठों खींच कनक की रेखा
नयी पौद के नये प्रात को रही जाग अनुरागी

उदय अचल की अनुरंजित आभा ने मुझे पुकारा
कोंपल मुस्कायी, आंसू-से टपके पीले पात
कहनी थी, सो रही अनकही बात।

●●

जानकीवल्लभ शास्त्री

अन्विति

चंचल चित, नित भाव नए भर !
मरण एकरसता; जीवन में—
नव अनुभाव, विभाव नए भर !
सागर की अगाधता अपनी,
अपना गिरि का तुंग शृंग भी,
कुंजर जहाँ कमल-कुल-माथी
मधु का साथी वहाँ भृंग भी,
भले-बुरे के भाव बँधे जो,
उनमें मुक्त प्रभाव नए भर !
चंचल चित नित भाव नये भर !!
घिसा-घिसा-सा जो कि पुराना,
अनुपयोग से जो निरर्थ-सा;
जिसका नाम-रूप अनजाना,
जिसे जानना अभी व्यर्थ-सा,
उस अतीत - भावी - संगम -हित,
वर्त्तमान में चाव नये भर !
चंचल चित, नित भाव नए भर !!
इस विष का रस अमृत-सरीखा,
और अमृत वह विष-सा तीखा;
चंदा की झाईं झुलसाती,
आतप ने तप करना सीखा !
सम के विषम, विसंवादी स्वर—
सहने शील-स्वभाव नए भर !
चंचल चित, नित भाव नए भर !!
अङ्ग-सङ्ग आध्यात्मिक सुख का
प्राप्त-प्रसङ्ग वाह्य अभिव्यंजन,
कभी काय से मन, मन से आत्मा
—तक द्रवित प्रेम का गोपन,
निर्गुण-सगुण – तर्क –दावानल—
धधक बुझे, सुलगाव नए भर !
चंचल चित, नित भाव नए भर !!
मिलन विरह से, धूप छाँह से;
सुख दुख से औ' उषा निशा से,
क्षीर नीर से, प्रेम पीर से,
हिला-मिला आकाश दिशा से,
रत्न ढूंढ़ते बालू मिलती,
तेज तिमिर-बिलगाव नए भर !
चंचल चित, नित भाव नए भर !!
काँटे निकलें खिले फूल से,
शूल फूल के लिए हिंडोला,
पग-पग पर तलवे सहला हँस,
—मग में सुमन, मगन रह चोला !
उपल उपल चल सिन्धु समुत्सुक,
गान उफान, बहाव नए भर !
चंचल चित, नित भाव नए भर !!
सीमातीत बँधा सीमा में,
इसीलिए संघर्ष मुक्ति का,
अनामुक्त मुक्तादल जिसके,
मूल्य बढ़ेगा क्यों न शुक्ति का ?
नीड़ बना कर बसे मुक्त खग
में नव चहक, विराव नए भर !
चंचल चित, नित भाव नए भर !!

दो रुबाइयाँ

आसमाँ सर पर उठाए चल रहे,
पैर जब जमते ज़मीं पर हैं नहीं !
आसरा क्यों हो हमारा ग़ैर को ?
मुस्तकिल ख़ुद हम हमीं पर हैं नहीं !

राज़ मालूम हुआ आज बदनसीबी का,
फ़ाक़ाकश शायरी शौक़ उफ़ ! रक़ीबी का !
सोख ले स्याह आफ़ताब आख़िरी क़तरा,
ज़ायक़ेदार ख़ून होता है ग़रीबी का !

त्रिलोचन

पुराण-कथा

'बरम्ब्रूहि' कानों में अमृतमयी ध्वनि आई,
आत्मा तक पहुँची। समाधि की जड़ता टूटी
लोचन ताका किये। बकार तक नहीं फूटी।
परमात्मा प्रगटे थे। फांस गले में पाई
बालक ध्रुव ने। जो भाषा बोली, जो गाई,
काम न आई। किधर सिधाई ? स्मृति से छूटी।
कौन लुटेरा था, जिसने यह निधि भी लूटी ?
प्रभु के अधरों पर प्रोत्साहन की स्मिति छाई।

लोचन ताका किये। हृदय का संचित पावन
जल ढल चला। पुतलियों में छवि सजल बस गई।
यह मूकता देखकर अच्युत ने लगा दिया
पाञ्चजन्य स्थिर अधरों से। वाणी से सावन
सहित मास सब खुले, भक्ति की गाँठ कस गई
भीग-भीगकर। आत्म-व्यंजना को जगा दिया।

विजेता मानव

ऊँचे से ऊँचे चढ़ जाने की अभिलाषा
पर्वत से पर्वत पर तुम्हें रही भटकाती।
टेढ़ी मेढ़ी राह नवीना-सी मटकाती
तुमको आमंत्रित करती थी। मन की भाषा
शिला-शिला में मूर्तिमान थी। पोषित आशा

तुम्हें सर्ग माथा तक ले जाती, खटकाती
मन में नये-नये खटके, दिन-दिन भ्रटकाती
रही पर्वतारोहण में। पदाङ्क परिभाषा
बने तुम्हारे जीवन की। मैं केवल बढ़ते
चरण देखता हूँ। शेरपा तेनजिङ्, उस दिन
साथ हिलारी के तुमने रक्खे पग गिन-गिन
उस सर्वोच्च शिखर पर, जिसके ऊपर चढ़ते
कितने गले-पचे। मानवता की जय पढ़ते
तुम दोनों ध्वज-से पहुँचे, चल-चलकर पल-छिन।

आधुनिक अभिमन्यु

टूटा पहिया ईंधन अच्छा बन सकता है
जिससे जगन्नाथजी का प्रसाद पक जाये,
पंक्ति-पंक्ति में भक्तों का समूह छक जाये।
चक्रव्यूह का युद्ध आज यदि ठन सकता है,
तो अभिमन्यु आज जन-बल से तन सकता है।
विपुल अपरपोषी मेघाडम्बर ढक जाये
उसका तेज असम्भव है। चाहे बक जाये
कुछ भी। उसके रक्त से न' रज सन सकता है।

व्यूह-विधाता स्वयं व्यूह में फँस जायेंगे;
उनका रचा कुहासा, पाकर समय, कट चला।
गड्ढा नव जीवन-प्रवाह से स्वयं पट चला,
अब मनुष्य अपने-अपने पथ से आयेंगे
एक लक्ष्य पर; सबके सुख में सुख पायेंगे
गैसों का आतङ्क मेघ के तुल्य छट चला।

●●

भारतभूषण अग्रवाल

कफ़न का कवच

(१)

सोचो तो, जीवन और सरल यदि होता, यह प्यार-प्रीत की उथली तनिक तलैया
कुछ और मधुर, कुछ और जरा सा सुन्दर, होती यदि विस्तृत और अगम रस-सागर,

संघर्षों की सीढ़ी चढ़ने से पहले
यदि सुख का मीठा फल खुद ही आ टपके,
यदि खेत पड़े का बीज स्वयं पक जाता
बिन-सहे कोप ये हिम-वर्षा-आतप के,
यदि सपने होते सत्य बिना जूझे ही,
यदि पथ होता आसान बिना काँटों का,
यदि मन में होते नहीं भेद के खाने,
यदि सुख होता सम्पूर्ण बिना बाँटों का,
तो कितना खलता हमें मरण धरती पर।
हम जीवन तो जीते पर तरस-तरस कर।

(२)

है धन्य सत्य की और स्वप्न की खाई
जो अपने साहस को बन गई चुनौती,
पथ के ये काँटे धन्य कि जिनसे भाई !
हमको लगते हैं हेय महल कलधौती।
अपने तन की गाढ़ी मिहनत की प्रतिनिधि
यह फ़सल हमें है इसीलिए तो प्यारी,
फल सदा दूर ही रहता, इसीलिए तो
हर मंजिल पर होती जयकार हमारी।
सुख छिपे सात परदों में, हम खोजेंगे,
हम मसल-मसल काँटों को, फूल खिलाते,
हम मरण-शील हैं, इसीलिए तो देखो
हम कदम-कदम पर अमरों को शरमाते।
हम कफ़न लपेटे चलते सदा; सही है,
इसलिए कि बस, जीवन का कवच यही है।

गीत

तोड़ो मौन की चट्टान
फोड़ो अहं का व्यवधान
आकुल प्रान के रस-गान
भीतर ही न जायें मर !
बोलो, जोर से बोलो
व्यथा की ग्रन्थियाँ खोलो
सँजोलो मन कि फूटें
कण्ठ से फिर गीत के निर्झर !

नेमिचन्द्र जैन

बिखरी कड़ियाँ

अपने अन्तर का खालीपन तेरे सुधि-सौरभ से भर लूँ,
एकाकी मन पर तेरी छवि धीमे-धीमे अंकित कर लूँ।
एक सहज ममता की छाया में मैं अपने प्राण बिछा दूँ,
तेरे ही आकर्षण में अपना उद्धत अभिमान सुला दूँ।
यह एकान्त अभेद अँधेरे-सा मन पर घिरता आता है,
जी का सब विश्वास अचानक ही मानो गिरता जाता है।
घोर विवशता के मरु में ये भटक पड़े हैं प्राण अकेले;
आज नहीं कोई जो मेरे मन की यह दुर्बलता झेले।
शान्त हो गयी है चुप होकर, मन की जो आहत पुकार थी;
मन्द हो गयी बुझती जी की ज्वाला वह, जो दुर्निवार थी।

एक रिक्त बस—प्राणों के इस तरु पर आ छाया है हिम-सा;
सुधि का दीप दूर एकाकी होता जाता है मद्धिम-सा।
मेरे अन्तर का रहस्य मुझको ही आकर कौन बताये ?
कौन बिखरते-से प्राणों में जीवन का जादू भर जाये ?
मेरे पथ-दर्शक, खोलूँ कैसे ये उलझी गाँठें मन की ?
बोलो, कैसे जोड़ूँ बिखरी कड़ियाँ इस खुलते बन्धन की !

सुनोगे ?

सुनो,
चीड़ के सनसनाते हुए पेड़,
मेरी कहानी सुनोगे ?
यहाँ तुम खड़े हो
गगन में तने,
सिर उठाये हुए गर्व से,
गहराइयाँ झाँकने से अतल की,
उधर सामने चोटियाँ हैं,
शिखर,
जो बरफ़ से घिरे हैं,
जो बादलों का हृदय चीर खुलते
कली से
अछूते, अचुम्बित—
शिखर जो अडिग हैं, अगम हैं, महत हैं,
मनुज के अमिट स्वप्न-से,
लालसा-से;
शिखर ये तुम्हारे सखा हैं युगों के,
पहली सुबह की किरन
मुस्कराकर,
सदा छेड़ जाती इन्हें भी, तुम्हें भी · · ·

ओ चीड़ के सनसनाते हुए पेड़
मेरी कहानी सुनोगे ?
कहूँ मैं ?
तुम्हें भी विकल जिन्दगी की कथा सब
सुना दूँ ?—
कि मैं लाँघना चाहता था अगम को
तड़प थी कि
बौने करों को बढ़ाकर पकड़ लूँ
अभी चाँद-सूरज,
कि मैं चाहता था सभी कुछ,
बहुत से बड़े स्वप्न थे
उस हृदय में,
नहीं थी, नहीं, शक्ति ही बस नहीं थी
उठे बाहुओं में,
तड़प थी बहुत किन्तु क्षमता नहीं थी—
इसी से गरुड़ के सभी पंख
टूटे हुए हैं,
विगत स्नेह की स्निग्ध हरियालियाँ
आज
झुलसी हुई हैं,
खंडिता मूर्त्तियाँ हैं · · · ·
ओ चीड़ के पेड़,
मैं हूँ मरुस्थल,
मैदान जलता हुआ-सा
पड़ा जो शिखर के चरण से बहुत दूर,
जलता, सुलगता · · · · ।
अभी रात भी सामने घाटियों में
अकेली पड़ी

गिन रही तारिकाएँ,
चुप-चुप अँधेरा बिछा है
उतरती हुई मौन पगडंडियों पर।
तुम्हीं बस,
किसी याद में जग रहे हो
मुखर हो

सागर गरजता किसी बेकली का तुम्हारे
हृदय में—
इसीसे अभी चाहता था सुनाना
तुम्हें मैं—
सुनोगे ?
ओ सनसनाते हुए चीड़ के पेड़ !

मरुभूमि की भी कहानी सुनोगे ?

नागार्जुन

निराला के प्रति

हे दधीचि, तुमसे घबराते हैं मांधाता
नहीं पूछते तुमको भारत भाग्य विधाता
मुदित देवगण, किन्तु तुम्हारा तप जारी है
जनजीवन आलोडित अद्भुत लाचारी है
वह चाटुकार-दल से घिरा इन्द्र आज मुसका रहा
तुम जला किये हो रात-दिन, लाभ किन्तु उसका रहा।

× × ×

लोग दुखी हैं, अन्न-वस्त्र का है न ठिकाना
लाल क़िले से टकराता है नया तराना
नये हिन्द का नया ढंग है, नीति निराली
मुट्ठी भर लोगों के चेहरों पर है लाली
हे नीलकंठ, चुपचाप तुम युग की पीड़ा पी रहे
बस नई सृष्टि की लालसा लिये कथंचित् जी रहे।

× × ×

हे कविकुलगुरु, हे महिमामय, हे सन्यासी
तुम्हें समझता है साधारण भारतवासी
राज्यपाल या राष्ट्रप्रमुख क्या समझें तुमको
कुचल रहीं जिनकी संगीनें कुसुम-कुसुम को
सुखमय, कृतज्ञ, समदृष्टि वह जनयुग जल्दी आ रहा
इस मिट्टी का कण-कण सुनो, गीत तुम्हारे गा रहा।

तालाब की मछलियाँ

पोषित-पालित चिर संरक्षित
छोटी-बड़ी मछलियों की अब मची हुई है लूट
परिधि गयी है टूट
वन्या के प्लावन से सहसा पुष्करिणी की·····
रोहू, ब्वारी, भाकुर, सौरा
भुनचट्टी अरु नैनी
एक-एक से बढ़कर सुन्दर
स्वादु और स्पृहणीय····
उठा लीजिये
अजी, आपको कौन चाहिये
उठा लीजिये वही कि जिस पर मन चलता हो
कौन भला टोकेगा !
कौन भला रोकेगा !
कोशी की धारा ने आकर तोड़ दिया है भिंडा
नहीं रहा पहले अधिपतियों का पोखर पर
नाममात्र भी स्वत्व
बहुत दिनों के बाद मिली है
आज छूट इस बंधे हुए पानी को
स्फूर्ति नहीं है
वेग नहीं है
दिशा नहीं है, दृष्टि नहीं है
युग-युग की ये अन्तःपुरिका चटुल शफरियाँ
भूल गयी हैं स्वाभाविक गति
प्रखर स्रोत में आसानी से कैसे पहुँच सकेंगी ?
तो क्या यह उद्वेल परिप्लावन इनका यों
सत्यानाश करेगा ?
तो क्या बंधी भीड़ वाली पोखर ही
थी इनके उपयुक्त ?
···भले वहाँ थीं
निगल-निगलकर पोटा-थूक-खखार

करती थीं स्नानार्थी लोगों का भारी उपकार
समय-समय पर अंडे देतीं जिनसे होते छवरे लाख-हजार
इनके द्वारा
और भी कई
गुह्य-प्रकट मल होते थे निःशेष
निश्चित जल-कर से कई गुनी
अधिक रकम ही
पाते थे पट्टीदार
....भले वहाँ थीं
क्रम न अनिश्चित था जीवन का
सब प्रबन्ध था संरक्षण का
आयु नियत थी, क्षेत्र नियत था
नियमित थे आहार-विहार
सपने में भी वहाँ नहीं था आकस्मिक चिन्ता का नाम
छोटी-सी सुन्दर दुनिया थी, टहलबूल आना था काम
भले वहीं थी !
मुझे पता है
खाकर मछली-भात
धो-धोकर मुँह-हाथ
लेकर के मुख शुद्धि
सुपारी-लौंग.अड़ाँची सौंफ
हो करके निश्चिन्त
तख्तपोश पर बैठ
करुणाविगलित अभी आप तो यही सोचते होंगे
क्योंकि आपके दादा के परदादा ने खुदवायी थी पोखर
उसी बाँध में
जो कि आज तक चला आ रहा
लाखिराज ब्रह्मोत्तर
(पटना या मुर्शिदाबाद के
किस नवाब की अनुकम्पा थी, कौन बताये)

---

१ मैदान

तांत्रिक पूर्वज की वह महिमा
भले बेचकर आप खा गये
किन्तु नहीं अविदित है पोखर की मछली का स्वाद
रह-रह आती होगी याद
तभी तो पाठक जी महराज
स्वयं तत्पर थे आज
सरकी उधर लगा रक्खी थी
सहत हाथ में लिये हुए थे
बीच-बीच में हापो छप-छपकर उठती थी
सगुन बना था।
खूब लगी थी हाथ मछलियाँ · · ·
लाल-लाल मुँह वाले रोहू, भाकुर, ब्वारी नैनी
निका बनाकर
कुट्टी-कुट्टी करके
हल्दी-दही-नमक मिझड़ाकर[1]
सुच्चा[2] कड़ू तेल में तलने बैठी जब वह सकृत्प्रसूता
चार-चार लहठीवाली अट्ठारहसाला
मृदुवैनी मृगनैनी
पांडुश्यामा मधुर-तृतीया
पाठक जी की
प्राणों से भी प्यारी
अपनी ही पत्नी;
तब आयी आवाज——
कड़कड़ कड़ाक कड़ घुस्स
घुस् सुस् सुस् सुस् सुस् · ·
तले जा रहे मछली के खंडों से बारम्बार
तलते-तलते
रोक छोलनी हो करके ध्यानस्थ
लगी देखने शशिवदना वह दृश्य
फिर-फिर सुनने लगी वही आवाज · ·
रोहू का ललमुँहा[3] मूँड़ क्या बोल रहा था ?

१. मिश्रत करके। २. खालिस, विशुद्ध। ३. लाल मुंह वाला मुंह

रजत-पिच्छिला भुनचट्टी की पेटी से क्या आती थी आवाज ?
धूसर भाकुर की वह मांसल कनपट्टी
पड़ पड़ पड़ पड़ फट फट फट फरफट
किस रहस्य की खोल रही थी गाँठ ?
—यह सब सचमुच ही अगम्य था
तभी समझ में आया
बहुत किया जब ख्याल
दो टूटे दाँतों वाले इन भद्र अधेड़ महानुभाव
(चतुरा पाठक) की
मधुर तृतीया भार्या
प्राणों से भी प्यारी
वह कुलीन मैथिल की कन्या
फिर फिर सुनने लगी वही आवाज····
"हम भी मछली, तुम भी मछली
दोनों ही उपभोग वस्तु हैं
ज्ञाताऽऽस्वाद सुधीजन, सजनी हम दोनों को
अनुपम बतलाते हैं—
वनिताऽधर पल्लव में किया
जम्बीरी रस-सिक्तमत्स्यखंडों में
कहीं नहीं अन्यत्र
इन्हीं में
मिलती आयी है अमृत द्रव की अशेष परितृप्ति
उन लोगों को;
इसीलिये तो हम तुम दोनों
युग-युग से पाती आयी हैं
विपुल प्रशंसा
रसिकों की गोष्ठी में बहुशः;
इसीलिये तो
हमें इन्होंने कैद कर लिया तालाबों में
इसीलिये तो
तुम्हें इन्होंने कैद कर लिया

सात सात देवढ़ियों वाली हवेलियों में
सुविधा औ सामर्थ्य मुताबिक
अपनी अपनी रुचि के ही अनुसार वे सभी
रसना रति के लेलिहान उस अग्निकुंड में
भून भूनकर हमें खा गये
और
अभी तक खाये जाते
चहबच्चों में, तालाबों में
बंदी का यह निरवधि जीवन
बहिन, हमारे आत्मबोध पर
कोलतार से लगा चुका है पोची
किन्तु आज तो
कोशी की धारा ने आकर तोड़ दिया है बांध
आज आ गयीं, सखि, हम बाहर
एक एक कर
उथल पुथल है जन जीवन में
सभी ओर उत्क्रांति हो रही
टट रहे हैं
अन्तःपुर के ढांचे
आज या कि कल
तुम भी तो निकलोगी बाहर
हवेलियों से देवढ़ियों से
फिर जनपद के खंडनरक ये मिट जायेंगे
शब्दकोष को छोड़ कहीं भी
नहीं 'असूर्यम्पश्या' का अस्तित्व रहेगा
'औरतदारी' रह न जायगी
"धन्य हमारा मरण आज सखि,
धन्य हमारी हत्या
मिला मुक्ति का स्वाद
भूल गयीं हम पिछली बातें रहा न कुछ भी याद
बहुत दिनों पर पायी हमने घूट
मचने दो यदि मची हुई है हत्या अथवा छूट
बन्या के प्लावन से सहसा पुष्करिणी की परिधि गयी है टूट।

प्रभाकर माचवे

एक सानेट

प्राण नहीं हैं मेरे सन चौवन के कैलेंडर से सीमित
प्राण नहीं मेरे दिल्ली की शरणार्थी-बस्ती में कीलित
देश-काल से परे कल्पना कमल उठा कीचड़ से बढ़ ही
वह कीचड़ के बिना नहीं है, किन्तु नहीं है वह कीचड़ ही
ईसा नहीं लकड़हारा या कृष्ण नहीं है अहीर केवल
वह क्या है जो इन सबसे छनकर मेरी साँसों को दे बल ?
मैं इतिहास-प्रवाह-पतित तिनका ही नहीं ! मित्र, मैं चिन्मय !
मैं इन लहरों का आरोही, मैं अंकुर हूँ, मैं हूँ मृण्मय !
यह धरती कहलाती इसीलिए है धरा, दृढ़ा या वसुधा
यह है रसा, अहल्या; यह तो बड़ी अपारा, सब सुख-सुविधा--
दे देगी यह, पर न कभी माँगेगी मुझसे कुछ बदले में
यह मानव से प्यार करेगी चाहे वह बदले नित खेमे !
मैं क्या केवल यह क्षण हूँ ? या वाहक युग-युग की परंपरा का?
सबको समतल करने वाले ! क्या मुझ पर डालोगे डाका ?

गीत

यह हवा है बुरी
तिक्त है माधुरी....
'दुक्ख' से है सनी यह खुशी
कामयाबी बनी खुदकशी
यह शहद की छुरी !
उजड़ी-सी पुरी !....
प्राण के द्वंद्व से छंद यों जागते
कौन बैरागिया ? कौन से राग थे ?
चक्र के बिन धुरी !
कुष्ठमय सुन्दरी ..
क्या हुआ? क्यों हुआ? वह कहाँ हिमगिरी?
पुंश्चली है सती, शिव करें नटगिरी
बाढ़ बनकर बहा पासबाँ, संतरी...
यह हवा है बुरी !

गजानन माधव मुक्तिबोध

मेरा जवाब

कहने दो उन्हें
जो ये कहते है—
सफल जीवन बिताने में
हुए असमर्थ तुम !

तरक्की के गोल-गोल
घुमावदार चक्करदार,
ऊपर बढ़ते हुए, जीने पर चढ़ने की
चढ़ते ही जाने की
उन्नति के बारे में
तुम्हारी ही जहरीली
उपेक्षा के कारण। निरर्थक तुम, व्यर्थ
तुम !!

(२)

गिरी हुई भीतों के
टूटे हुए फूटे हुए
मटियाले खंडहर के
सूने में फैली है मानों यह
पूनों की चांदनी
आंगन के पुराने-धुराने एक पेड़ पर।
अजीब-सी होती है
चारों ओर
वीरान-वीरान
महक वीरानी की
पूनों की चांदनी की धूली की धुन्ध में।
वैसे ही लगता है--
वैसे ही जगता है—
"उन्नति" के क्षेत्रों में
"प्रतिष्ठा" के क्षेत्रों में
मानव की छाती की, आत्मा की,प्राणों की
सौंधी गन्ध कहीं नहीं, कहीं नहीं
कहीं नहीं।
पूनों की चांदनी यह सही नहीं, सही नहीं।
केवल मनुष्य-हीन
वीरान क्षेत्रों में
निर्जन प्रसारों पर
सिर्फ़ एक आंख से
"सफलता" की आंख से
दुनिया को निहारती फैली है
पूनों की चांदनी।
सूखे हुए कूंओं पर
झुके हुए झाड़ों में
बैठे हुए घुग्घुओं व
चिमगादड़ों के हित
जंगल के सियारों और
घनी-घनी छायाओं-छिपे हुए
भूतों और प्रेतों तथा
पिशाचों और बेतालों के लिए ही—
मनुष्य के लिए नहीं—
फैली यह सफलता की, भद्रता की
कीर्ति श्री रेशम की पूनों की चांदनी।
मुझको डर लगता है
कहीं मैं भी तो सफलता के चन्द्र की छाया में
घुग्घू या सियार या भूत न कहीं बन जाऊँ !
उनको डर लगता है,
आशंका होती है।
कि हम भी जब हुए भूत
घुग्घू या सियार बने
तो अभी तक यही व्यक्ति
जिन्दा क्यों ?
उसकी वह विक्षोभी
सम्पीड़ित आत्मा फिर
जीवित क्यों रहती है ?
मरकर जब भूत बने
पिशाच जब बन जाये
उसकी वह आत्मा तो,
नाचेंगे साथ-साथ सूखे हुए पथरीले
झरनों के तीरों पर

सफलता के चन्द्र की छाया में अधीर हो।
इसीलिए,
इसीलिए,
उनका और मेरा यह विरोध
चिरन्तन है, नित्य है. सनातन है।
उनकी उस तथाकथित
जीवन-सफलता के
खपरैलों-छेदों से
खिड़की की दरारों से
आती जब किरनें हैं
तो सज्जन वे, वे लोग
अचम्भित होकर, उन दरारों को छेदों को
बन्द कर देते हैं
इसलिए कि वे किरनें
उनके ही लेखे आज
कम्यूनिज़्म हैं · ·गुण्डागर्दी है··विरोध है
जिसमें छिपी है कहीं
मेरी बदमाशी भी।

(४)

मैं पुकार कर कहता हूँ—
सुनो, सुनने वालो !
पशुओं के राज्य में जो बियाबान जंगल है
उसमें खड़ा है घोर
स्वार्थ का प्रभीमकाय
बरगद एक विकराल।
उसके विद्रूप शत
शाखा व्यूहों-बृहत्
पत्तों के घनीभूत जाले हैं, जाले हैं।
तले में अँधेरा है, अंधेरा है घनघोर।
वृक्ष के तने से चिपट
बैठा है, खड़ा है कोई
मरी हुई आत्मा का
पिशाच एक जबरदस्त—
वह तो रखवाला है
घुघ्घू के, सियारों के, कुत्तों के स्वार्थों का।
और उस जंगल में
बरगद के महाभीम
भयानक शरीर पर
सफलता की भद्रता की,
श्रेय-प्रेय-सत्यं-शिवं-संस्कृति की
खिलखिलाती पूनों की चाँदनी
खिली हुई फैली है !!
अगर कहीं सचमुच तुम
पहुँच ही वहाँ गये
तो घुघ्घू बन जाओगे
सियार बन जाओगे;
आदमी कभी भी फिर
कहीं भी न मिलेगा तुम्हें
पशुओं के राज्य में
जो पूनों की चाँदनी है
नहीं वह तुम्हारे लिए, नहीं वह हमारे लिए।

(५)

तुम्हारे पास, हमारे पास
सिर्फ एक चीज है—
ईमान का डण्डा है,
बुद्धि का बल्लम है, अभय की गेती है,
हृदय की तगारी है—तसला है।
नये-नये बनाने के लिए
भवन आत्मा के
मनुष्य के,
हृदय की तगारी में ढोते हैं हमीं लोग
जिन्दगी की गीली और
महकती हुई मिट्टी को।

जीवन के मैदानों,
लक्ष्यों के शिखरों पर
नये किले बनाने में
व्यस्त हैं हमीं लोग।
हमारा समाज यह जुटा ही रहता है।
पहाड़ी चट्टानों को
चढ़ान पर चढ़ाते हुए
हजारों भुजाओं से
ढकेलते हुए कि जब
पूरा शारीरिक जोर
फुफ्फुस की पूरी सांस
छाती का पूरा दम
लगाने के लक्षण-रूप
चेहरे हमारे जब
बिगड़-से जाते हैं—
सूरज देख लेता है
दिशाओं के कानों में कहता है—
दुर्गों के शिखरों से
हमारे कन्धों पर चढ़
खड़े होने वाले ये
दूरबीन लगाकर नहीं देखेंगे–
कि मंगल में क्या-क्या है !!
चन्द्रलोक छाया को माप कर
वहाँ के पहाड़ों को ऊँचाई नहीं नापेंगे;
वरन् स्वयं ही वे
विचरण करेंगे इन नये-नये लोकों में
देश-काल—प्रकृति–सृष्टि-जेता ये।
इसलिए, अगर ये लोग
सड़क-छाप जीवन की धूल-धूप
मामूली रूप-रंग
लिए हुए होने से
तथाकथित "सफलता" के
खच्चरों व टट्टुओं के द्वारा यदि
निरर्थक व महत्वहीन
करार दिये जाते हों
तो कहने दो उन्हें जो ये कहते हैं।

(६)

सामाजिक महत्व की
गिलौरियाँ खाते हुए,
असत्य की कुर्सी पर
आराम से बैठे हुए,
मनुष्य की त्वचाओं का पहने हुए ओवर-
कोट,
बन्दरों व रीछों के सामने
नई-नई अदाओं से नाचकर
प्रगतिशील जीवन के विचारों को गिरवी-
–रख
झुठाई की तालियाँ देने से, लेने से
सफलता के ताले ये खुलते हैं,
बशर्ते कि इच्छा हो
सफलता की,
महत्वाकांक्षा हो
अपने भी बरामदे
में थोड़ा-सा फर्नीचर,
विलायती चमकदार
रखने की इच्छा हो
तो थोड़ी सी सचाई में
बहुत-सी झुठाई घोल
सांस्कृतिक अदा से, अन्दाज से
अगर बात कर सको—
भले ही दिमाग़ में
खयालों के मरे हुए चूहे ही
क्यों न हों प्लेग के,
लेकिन अगर कर सको

ऐसी जमी हुई ज़बान-दराजी और
सचाई का अंग-भंग
करते हुए झूठ का
बारीक सूत कात सको
तो गतिरोध और कण्ठरोध
मार्ग-रोध कभी भी न होगा फिर
कटवा चुके हैं हम पूंछ-सिर
तो तुम यों
हमसे दूर बाहर क्यों जाते हो ?

(७)

जवाब यह मेरा है,
जाकर उन्हें कह दो कि सफलता के जंग-
—खाये
तालों और कुंजियों
की दुकान है कबाड़ी की।
इतनी कहाँ फुरसत हमें—
रक्त नहीं मिलता है
कि दुकान पर जा सकें।
अहंकार समझो या
सुपीरियारिटी
काम्प्लैक्स अथवा कुछ ऐसा ही
चाहो तो मान लो
लेकिन यह सच है कि
जीवन की तथाकथित
सफलता को पाने की
हमको फुरसत नहीं
खाली नहीं हम लोग
बहुत बिजी हैं हम
जाकर उन्हें कह दे कोई
पहुँचादे यह जवाब
और अगर फिर भी वे
करते हों हुज्जत तो
कह दो कि हमारा थूक
जिसमें हैं आजकल
की रक्त-ज़ब्त तौर-तरीकों के प्रति
जहरीली घृणा का विष,
ज़रा-सा तुम खा लो तो
दवा का एक डोज़ समझ—
तुम्हारे दिमाग़ के
रोगाणु मर जायेंगे
व शरीर में, मस्तिष्क में,
जबर्दस्त संवेदन-उत्तेजन
इतना कुछ हो लेगा
कि अकुलाते हुए ही तुम
अँधेरे के खीमे को त्यागकर
उजाले के स्वर्णिम मैदानों में
भागते आओगे;
जाकर उन्हें कहदे कोई
पहुँचा दे यह जवाब।

एक मित्र के प्रति

तुम्हारा पत्र आया; या
अँधेरे द्वार में से झाँककर कोई
झलक अपनी, ललक अपनी
कृपा-मय भाव-द्युति अपनी
सहज दिखला गया मानों
हितैषी एक !!
हमारे अन्धकाराच्छन्न जीवन में विचरता है
मनोहर सौम्य तेजोमय मनीषी एक !!
तुम्हारा पत्र आया या कि तुम आये
हमारे श्याम घर की छत
हुई निःसीम नीले व्योम-सी उन्नत
कि उसका साँवला एकान्त

था यों प्रतिफलित पल भर,
हमारी चार-दीवारी
क्षितिज से मिल गई चलकर !
हुआ सम्पूर्त मेरे प्राण का अभिमत !
उठा लेंगे सुनीलाकाश
मेरे स्कन्ध होते जा रहे व्यापक
कि वे हिम-हेम-शैलाभास
कि मेरा वृक्ष—
जन-भ्रातृत्व संवाहक
तुम्हारे मात्र होने से हमारे पास !!
तुम्हारे मात्र होने से
सभी सम्बन्ध हटकर दूर
केवल एक पृथ्वीपुत्र का नाता
व उस एकान्त नाते में
गहन विश्वास पूरम्पूर।
तुम्हें यों देख करके पास
लगता है—
खुलो स्वाधीन पृथ्वी का
श्रमिक मैं नागरिक स्वाधीन
व जन-भ्रातृत्व के सहज आनन्द में तल्लीन,
गिरियों को हटाता हूँ
व नदियों के मुहाने फेर देता हूँ।
(है पृथ्वी अभी तक बन्दिनी
पर कल रहेगी क्यों ?)

खुली उन्मुक्त धरती के महाविस्तार पर
फैली
सृजन-कल्याण की उन्मादिनी पूनों—
मधुर लावण्यमय मानों
तुम्हीं हो चन्द्र का विश्वास-कोमल बिम्ब।
तुमको देख—
कोई (आदिवासी मूल कवि-सा एक)
सहसा नाच उठता है
गहन संवेदना के तार
तन में झनझनाते हैं,
व पलकों में खुशी के सौम्य आँसू काँप
जाते हैं
मदोद्धत नृत्य की संवेदनाओं में !!
यहाँ घर में लिए यह पत्र
अतिशय शान्त, अति-गम्भीर
औ चुपचाप बैठा हूँ
कि मैं हूँ सभ्य !
तुम दिन-स्वप्न में सन्देश की उपलब्धि के
आश्चर्य !
क्यों मैं देखता हूँ सामने तुमको
अनातुर मौन रहकर पान करता हूँ
तुम्हारे स्नेहमय व्यक्तित्व का सौन्दर्य !!
तुम्हारा पत्र जीवन-दान देता है,
हमारे रात-दिन के अनवरत संघर्ष
में उत्साह—नूतन प्राण देता है !!

●●

शमशेरबहादुर सिंह

ग़ज़ल

मैं आपसे कहने को ही था, फिर आया खयाल एकाएक—
कुछ बातें समझना दिल की होती हैं मुहाल एकाएक।
साहिल पे वो लहरों का शोर—लहरों में वो कुछ दूर की गूँज !
—कल आपके पहलू में जो था, होता है निढाल एकाएक।

जब चाँदनी-सी शाम के बाद उन बादलों में घुल गई थी,
क्यों आया मुझे याद अपना वह माहे-जमाल एकाएक !
सीने में क़यामत की हूक, आँखों में क़यामत की शाम,
दो हिज्र की उम्रें हो गईं दो दिन का विसाल एकाएक !
फुँकता है युँही मेरा जिगर, दिल यों सुलगता है मेरा;
तलछट की अभी रहने दे, सब आग न ढाल एकाएक !
हाँ मेरे ही दिल की उम्मीद, तू है मगर ऐसी उम्मीद,
फल जाय तो सारा संसार हो जाय निहाल एकाएक !
एक उम्र की सरगर्दानी लाए वो घड़ी भी, 'शमशेर',
बन जाय जवाब आपसे आप आँखों का सवाल एकाएक !

रेडियो पर बाख़ का संगीत सुनकर

(मैं योरपीय संगीत नहीं समझता—पर वह संगीत न जाने कितना.. करुण मुझे लगा। उस रात के सन्नाटे में लगा जैसे किसी अरबी रोमानी इतिहास का एक पृष्ठ खुल गया है। वियोग का दीर्घ क्षण है। आवेश..सिसकियाँ आहें. एक दबी-सी चीख..बीच-बीच में असह्य मौन, आँसुओं भरा।

मालूम नहीं, कहाँ तक उस संगीत की शैली, या कम से कम उसके मर्म का कुछ भी आभास मैं अपने शब्दों में दे सका हूँगा।)

मैं
सुनूंगा तेरी आवाज़
पैरती बर्फ की सतहों में रोशन
तीर सी
शबनम की रातों में
तारों की छूटती
गर्म
गर्म
शमशीर सी।

तेरी आवाज़
ख़ाबों में घूमती-झूमती
आहों की एक तस्वीर सी
सुनूंगा : मेरी-तेरी है वह
खोई हुई
रोई हुई

एक तक़दीर सी।
(पर्दों में—जल के—शान्त
झिलमिल झिलमिल
कमल-दल)

× ×

रात की हँसी है
तेरे गले में
सीने में
बहुत काली सुर्मयी पलकों में
साँसों में, लहरीली अलकों में ..
आई तू—ओ किसकी !
फिर मुस्कराई तू...!
(नींद में—ख़ामोश—वस्ल...)

× ×

शुरू है आखिरी पीर !
सलाम !
मेरे दर्द से हमकलाम
न हो
—जा, अब सो !
न रो !
तू मेरी बेबस बाहों पर सर रखकर,
ओह,
न रो !
जो कुछ है
जो कुछ है
खो !
खो !
खो !

ओ शीरीं ! ओ लैला ! ओ हीर !
—जा
—जा
—जा—सो— !
× ×
बेखबर मैं
बेखबर आधी-सी रात
बेख़बर सपने हैं
बाख़बर है एक, बस, उसकी जात !
तू मेरी....
आमीन !
आमीन !
आमीन !

तीन शेर

तेरी निगाह में जो एक नाम है आलम
अजब खुमार के आलम का नाम है आलम
× × ×

बदल रहा है—बढ़ा जा रहा है तेजी से :
अवाम वक्त की रौ है, अवाम है आलम
× × ×

न तेग़े-तेज, न अबरू का बल, मगर शमशेर
हमारी खाक के जर्रों का नाम है आलम।

●●

सुमित्राकुमारी सिनहा

गीत

माप सकोगे गीत हमारे ?
अश्रु बूंद से लेकर डूबे जिनमें सातों सागर खारे।
खेतों में बरसे कंचन से दीपित जिनका तन सुन्दर है,
खलिहानों की खनकन से प्राणों का मधु-संगीत मुखर है,
प्रकृति-नटी की करतल-ध्वनि से नाच उठे जिनकी नीरवता,
नभ को आंखों से बातें करती हो जिनकी दृग-श्यामलता,
बलि के त्योहारों पर मंगल मना रही जिनकी तरुणाई,
इन गीतों की गति के पथ पर ही तो युग की लाली छाई,

अन्तरीप से हिम-अंचल तक जिनकी सीमा पाँव पसारे !
माप सकोगे गीत हमारे ?
प्रेम फूल सा जिनके इंगित पर ही शूलों का अनुगामी,
अभिशापों पर हँस मुख गाते ये ही वरदानों के स्वामी,
मोती की प्याली से चू कर, पत्थर की छाती पर खेलें,
वही गीत जीवित रहते, जो सदियों के परिवर्तन झेलें,
छोड़ समय का तट गीतों की ये लहरें आगे बढ़तीं,
हुंकारों के स्वर भर इनकी प्रलया लक्ष्य-क्षितिज पर चढ़तीं
युग-तूणीर इन्हीं तीरों से बरसा देती हैं अंगारे।
माप सकोगे गीत हमारे।

गीत

पार लगता एक तिनका भी अगम मँझधार से।
ज्योति की किरनें अँधेरे में छिपाये मुंह खड़ीं
आज कटुता-पंथ पर चल मधुरता थक गिर पड़ी,
पर, नहीं होती पराजित, गति कभी भी हार से।
रात से ही प्रात जनमें, और मिट्टी से कमल,
देह में बन्दी रहे ज्यों, प्राण साँसों में मचल,
खेलता रहता सुधाकर, त्यों जलधि के ज्वार से !
कालिमा पीता सदा है, दीप का आलोक तन,
फूल-सौरभ से बसाता, है सदा मिट्टी पवन,
पर न कटता है सुमन-सौरभ, कभी तलवार से।
शान्ति की दे थपकियाँ, दो आज कुंठा को सुला,
दाह के संघर्ष छिन भर, स्वप्न-छवि में दो भुला,
गूंथ लो अब द्वैत को, अद्वैत के अभिसार से !

ठाकुरप्रसाद सिंह

ऊमस के बन्धन

दृप्त बिजलियों की बाहों में बाँह डाल यदि मैं चल पाता
मैं नवयुग की हलचल का वाहक बन जाता यदि जा पाता !
शीशे के उस ओर गगन पर
नाच रही चंचला मनोहर।

चीख रहे अंधड़ के झोंके
धूल भरे बच्चों से आकर।
मैं चुप हूँ, इस विद्रोही मन को फिर भी मैं रोक न पाता।
ऊमस से भर गया यहाँ
ऊपर पंखे मथ रहे निरन्तर
भीतर मन के मन्थन की
गति क्षण-क्षण बढ़ती जाती हरहर
पत्थर सी पीड़ा से दबकर मन कागज-सा कब उड़ पाता !
एक छहर बूंदों की पुलकित
पवन भर गया एक हहर सा
आखिर कब का तड़प रहा तूफ़ान
खिड़कियों पर आ बरसा
खिड़की खोलो कहा किन्तु मैं मन के बन्धन खोल न पाता।
दृप्त बिजलियों को बाहों में बाँह डाल यदि मैं चल पाता।

लेखनी चलती

अपने अन्धकार में ठिठुरी
उँगली के घेरे में सिमटी
अपनी छाया बिछा सामने
निज प्रकाश को पीती
लेखनी चलती
जब प्रकाश पीछे रहता है
छाया आगे जाती
जिसने मुंह मोड़ा प्रकाश से
अन्धकार का साथी
अक्सर आंखें मुद जाती हैं,
राह लुप्त ही रहती
लेखनी चलती
अन्धकार की क़ैद भोगती
मेरी एक लेखनी चलती
तीक्ष्ण प्रभा से आंख मिलाती
जीत रही है व्यूह अन्ध का
यह प्रयोग की धरती
लेखनी चलती!

●●

शम्भूनाथ सिंह

सड़क, पगडंडी और बैलगाड़ी

राजपथ सोया, हटा कंकरीट-चेतना उठी फन फैलाकर टेढ़ामेढ़ा। पहला अवचेतन मिट्टी का खुला, उतरा गयी राही पथ-भूला उस पर दीखा चलता पगडंडी ऊपर भुजंगिनी सी; उन्मना पद से कुमारी का विपद-मद दलता आदि भूमि क्वारी अनछूई विपदामयी नाथता भुजंगिनी को। पार्श्व-वन दहला;

पद-चिन्ह—गन्ध सूँघ 'मानव है' गुनते
आये अन्य खोजी, किन्तु वे न अब भटके।
आया एक दिन राज-रथ, राजा अटके;
हुक्म हुआ, 'पथ हो प्रशस्त', यह सुनते
टेढ़ापन सीधा हुआ, सम हुई धरती
राजपथ बना, रथ चला···किन्तु सहसा
टूटा स्वप्न; चेतना का कंकरीट विहँसा;
आती वह बैलगाड़ी चरंमरं करती !

यह और वह

खिड़की का द्वार खोल चूमो आकाश !
बाँहों मे भरो बन्धु किरणें, वातास !
दूरागत नीली गहराई की गूँज
कमरे में भरो कि बहरेपन की प्यास
बुझे; आँख मल देखो नीचे का स्वर्ग—
धूप की परी सी वह तैर रही घास !
अपने ही छवि-सागर बीच अनाद्यन्त
डूब रही धरती।···
पर यह कैसा हास——
लोलुप सा ? यह कैसी कातर चीत्कार ?
चीर-हरण का कोई करता अभ्यास !
एक शब्दवाण, एक नयन—अग्निवाण
वातायन से छूटे और अट्टहास।
थरथर हो व्योम थमक उठे किरण-यान;
हो नव अभियान।····
यहाँ आ मेरे पास
देखो वह धरती का खुला हुआ केश,
देखो वह नग्न वेश; वह लम्पट रास।

डाक

डाक सुनो प्रात का !
न समय रहा रात का
न समय रहा बात का
न समय रहा !
सिन्धुफेन से सपन विलीन हुए
पालहीन नाव ज्यों दिशाहारा मन
डूबा लहरों में,
ज्योतिक्षीण हुए दीप अन्धकार के
चेतन किरण-रथ चला घर्घर—
नभ में मनुजात का !
डाक सुनो प्रात का !
दीखता अनागत के यान का
अरुणध्वज,
लहरों के पीछे से झाँकता
जिसका मस्तूल;
महाप्राण का
शब्द मुखर स्वागत के हित तट पर।
परिवर्तन आँकता
लहरों पर विजय-चिह्न
पद के आघात का।
डाक सुनो प्रात का !
रात का प्रकाश-स्तम्भ
आँख मूँद कर सोया
दिन की उज्वल छाया में;
तट से सिर धुन कर टकराता ज्वार,
स्वर्ण किरणों में रंजित होकर खोया
प्राची का नभ।
पर अपने ही रँग लहराता
अग्निगर्भ शस्य
झेलकर झोंका
उद्धत निशि—वात का।
डाक सुनो प्रात का !

नीरज

गीत

अँधियारा जिससे शरमाये,
उजियारा जिसको ललचाये,
ऐसा दे दो दर्द मुझे तुम !
मेरा गीत दिया बन जाये !
इतने छलको अश्रु, थके हर
राहगीर के चरण धो सकूँ,
इतना निर्धन करो कि हर
दरवाजे पर सर्वस्व खो सकूँ,
ऐसी पीर भरो प्राणों में
नींद न आये जनम-जनम तक
इतनी सुध-बुध हरो कि
साँवरियाँ खुद बाँसुरिया बन जाये।
ऐसा दे दो दर्द मुझे तुम
मेरा गीत दिया बन जाये।

घटे न जब अँधियार, करे तब
जलकर मेरी चिता उजेला,
पहिला शव मेरा हो जब
निकले मिटनेवालों का मेला,
पहले मेरा कफ़न पताका—
बन फहरे जब क्रान्ति पुकारे,
पहले मेरा प्यार उठे जब
असमय मृत्यु प्रिया बन जाये।
ऐसा दे दो दर्द मुझे तुम
मेरा गीत दिया बन जाये ॥

मुरझा पाये फसल न कोई
ऐसी खाद बने इस तन की,
किसी न घर दीपक बुझ पाये
ऐसी जलन जले इस मन की,
भूखी सोये रात न कोई
प्यासी जागे सुबह न कोई
स्वर बरसे सावन आ जाये
रक्त गिरे गेहूँ उग आये !
ऐसा दे दो दर्द मुझे तुम
मेरा गीत दिया बन जाये।

उनकी लाठी बने लेखिनी
जो डगमगा रहे राहों पर,
हृदय बने उनका सिंहासन
देश उठाये जो बाँहों पर,
श्रम के चरण चूम आई
वह धूल करे मस्तक पर टीका,
काव्य बने वह कर्म कल्पना–
से जो पूर्व क्रिया बन जाये।
ऐसा दे दो दर्द मुझे तुम
मेरा गीत दिया बन जाये।

बहे पसीना जहाँ वहाँ
हरियाने लगे नई हरियाली,
गीत जहाँ गा आय वहाँ
छा जाये सूरज की उजियाली,
हँसदे मेरा प्यार जहाँ,
मुस्कादे मेरी मानव-ममता,
चन्दन हर मिट्टी हो जाये
नन्दन हर बगिया बन जाये।
ऐसा दे दो दर्द मुझे तुम
मेरा गीत दिया बन जाये।

मुझे शाप लग जाय, न दौड़ूँ
जो असहाय पुकारों पर मैं,

आँखें ही बुझ जायें, बेबसी
देखूँ अगर बहारों पर मैं
टूटे मेरी कलम न यदि यह
जुल्मों की तलवार मोड़ दे,
मेरा गाना पाप, अगर मेरे—
होते मानव मर जाये।
ऐसा दे दो दर्द मुझे तुम
मेरा गीत दिया बन जाये।

भजन

तुझसे लगन लगाई,
उमर भर नींद न आई।
साँस साँस बन गई सुमिरनी,
मृगछाला सब की सब धरिणी,
क्या गंगा, कैसो वैतरणी—
कुछ भी खबर न पाई
दहाई बनी इकाई !
दर्द बिछौना, देह अटारी,
रोम-रोम आरती उतारी,
पलक भिगोई, अलक सँवारी,
पर चाँदनी न छाई,
अमावस ऐसी आई !
साथी छोड़े, संगी छोड़े,
जनम-जनम के बन्धन तोड़े,
बदनामी से रिश्ते जोड़े
तब तुझ तक आ पाई,
न कर अब तो निठुराई !

रुबाई

रात इधर ढलती तो दिन उधर निकलता है
कोई यहाँ रुकता तो कोई वहाँ चलता है,
दीप औ' पतंगे में फर्क सिर्फ इतना है
एक जलके बुझता है, एक बुझके जलता है।

●●

वीरेन्द्र मिश्र

गीत

खड़ा उम्र की देहरी पर मैं सोचता—
एक फूल तेरी वेणी में गूँथकर
जीवन में कब ला पाया मधुमास मैं
फिर भी चलता ही जाऊँगा निशिदिन बारह मास मैं।
सदा रहा तुझको बिलखाता हँसते हुए जहान में
तुझे खींच ले गया दूर तक मैं आँधी-तूफान में
जितनी सिन्दूरी साधे थीं धरती से आकाश तक
एक-एक कर सब कुम्हलाईं, धूल हुईं वीरान में

आज स्वयम् मैं अपने से ही पूछता—
एक पीर अगणित पीरों में पूछकर
कितना तुझको दे पाया उल्लास में;
फिर भी चलता ही जाऊँगा निशि-दिन बारह मास में।
कभी सोचता था कि करूँगा होड़ गगन के चांद से
बांधूंगा मलयानिल तेरी सांसों के उन्माद से
रेशम के परिधानों में दुलहन नाचेगी झूमकर
मैं युग-युग तक प्यार करूँगा नई नवेली साध से।
और आज मैं आंख फाड़कर देखता—
पास पड़ा अमृत का प्याला छोड़कर
विष पीने का करता हूँ अभ्यास मैं;
फिर भी चलता ही जाऊँगा निशि-दिन बारह मास में।
प्राणों से प्यारे अरमानों पर मैंने वारा तुझे
तुझे प्यार कर भी रचना की दुनियाँ में हारा तुझे
फिर भी जीत मिली है जो, तेरे आगे कुछ भी नहीं
गीत और तू दोनों मेरे—और न कुछ प्यारा मुझे
मैं खुशियों का राज-सिंहासन छोड़ता—
एक गीत अगणित गीतों में जोड़कर
भोगे जाता हूँ आर्थिक बनवास में;
फिर भी चलता ही जाऊँगा निशि-दिन बारह मास में।
साध रँगी गेरू से तूने चला झुलसते पंथ पर
गांव, नगर नदिया, पर्वत के समारम्भ पर, अन्त पर
दरस-परस केवल पीड़ा का नहीं मिला सुख का तुझे
बैरिन हुई दिवाली-होली खिलते हुए वसंत पर
आंख भरे बादल नभ में है डोलता—
एक बूँद तेरे आंसू की चूमकर
सावन से कब रँग पाया आकाश में;
फिर भी चलता ही जाऊँगा निशि-दिन बारह मास में।
सारी बरबादी के पीछे भव्य सृजन की प्यास है
मिट्टी राख हुई तो क्या अब भी जीवित विश्वास है
तेरे स्वर में दृष्टि, दृष्टि में गीत, रूप में माधुरी
और चलाचल, आने वाला कल स्मारक इतिहास है

जीवन नदी-किनारे सूरा चोखता—
एक बार तेरी धड़कन पर झूमकर
जीवित कर दूँगा शमशानी लाश में ;
ऐसे चलता ही जाऊँगा निशि-दिन बारह मास में;
खड़ा उम्र की दहरी पर मैं सोचता—
एक फूल तेरी वेणी में गूँथ कर
जीवन में ले आऊँगा मधुमास में।
फिर तो चलता ही जाऊँगा निशि-दिन बारहमास में।

गीत

रो-रोकर सिन्दूर ढूँढ़ती मधुऋतु मेरे द्वार पर
बाग सजे क्या, दीप जले क्या, और मनें त्योहार क्या ?

(१)

सागर-दृग में नीर भरे वह व्योम है, यह धूल है
शबनम से बोझिल-बोझिल हर पात है, हर फूल है
घुटती-घुटती साँसों-सा रुक-रुककर चलता है पवन
धरती घूम रही लपटों में, करती सपनों का हवन
शरद निशाएँ गगन-सीखचों में युग-युग से बन्द हैं
हेमन्तों की गति-विधियों पर वासन्ती प्रतिबन्ध हैं
मन का उत्सव बलि देता धड़कन के हाहाकार पर
गीत छिड़े क्या, प्रीति हँसे क्या, रूप करे सिंगार क्या ?

(२)

उचटा-उचटा-सा है मनवा, धीमा-धीमा राग है
मद्धिम-मद्धिम गति जीवन की, फिर भी मन में आग है
मेरी उजली दोपहरी पर फिर सन्ध्या की छाँह है
सोच रहा जग मुझको मावस की कितनी परवाह है
मैं नर्कों की वट पूजा पर स्वर्गों का वरदान हूँ
झाँकी सजी दूर मन्दिर में, बिन-देखे हैरान हूँ
स्वप्न नहीं, आँसू प्रहरी हैं जब दृग वन्दनवार पर
दर्शन कठिन महाजन को, मुझ हरिजन का परिवार क्या ?

(३)

कभी-कभी मेरे सिरहाने आ जाती है चाँदनी
नींद भरे गुमसुम सपनों को मिल जाती है रागिनी

सोचा करता हूँ दुनियाँ में सुख का नहीं अभाव है
कहीं धूप का पलड़ा भारी, कहीं भयानक छाँव है
लेकिन अलग न हो सकता मैं, खुद अपनी आवाज से
वंचित करना बहुत कठिन है मुझे सिर्फ अन्दाज़ से
क्योंकि बहुत से हृदय भरोसा करते मेरे प्यार पर
उनका दरद भुलाकर मेरे जीने में है सार क्या ?
मिट्टी का रेशा-रेशा असहाय है, निरुपाय है
गिट्टी तोड़े जाता रोजी-रोटी का समुदाय है
कुंजी लिये तिजोरी की अन्याय देश में घूमता
कत्ल किये सच्चाई का ऐय्याश झूठ है झूमता
सोना-चांदी मखमल रेशम-सा बिकता ईमान है
धूल उड़ रही राहों में, भटका-भटका इन्सान है
अनगिन कल में आस लगाए खुले चोर बाजार पर
मुझको सपनों की छाया में रहने का अधिकार क्या ?

(५)

मरुथल समझ न पाता है, मेरी मधुमासी प्यास को
समय घसीटे लिये जा रहा मेरी जीवित लाश को
मैं बहार की करूँ कल्पना कैसे उस संसार में
जो अब तक मानव की किस्मत बाँधे है तलवार में
जहाँ मध्ययुग लौट रहा है सिद्धान्तों की आड़ में
नया-नया ईंधन पड़ता है सुलगे हुए पहाड़ में
मिट्टी की सुधियाँ साधे हैं ज्वालाओं के ज्वार पर
तट पर बैठा बह जाने दूँ मैं उनको मझधार क्या ?

●●

वीरेन्द्रकुमार जैन

यादों की नीली पहाड़ियों पर

समय के बिखरते बादलों के पार
यादों की नीली पहाड़ियों पर
सर्जना के नित नये झाड़ :
उनमें सरसराती चिर नवीना चेतना की
शीतल अंगूरी हवाएँ !
शाखान्तरालों मे झिलमिलाती
प्यार की बनप्सई झीलें :
उनके तटों में लहलहाती
सपनों के कास की रेशमी वनाली :
किसके अचीन्हें मासूम परस-दुलार

के ख़रगोश उसमें रिलमिला जाते !
अनामा घास के फ़ीरोज़ी फूलों में
किस अनामिका के मन को
आकुल दुपहरिया की एकाकिनी उमंगें !

×

सरदी के इस नीलमी सवेरे
पूर्वाचल का डाकिया
पहली किरन की रिबिन में बँधी
किसकी कुंकुमी पाती
डाल गया मेरी खिड़की पर !
कि पड़ौस की सब्ज़ी की बाड़ी में
गिलकी के पीले फूलों पर;
अपने झोंपड़ों के बाहर खड़ी
केश-जूड़ा बाँधती साँवली गठीली
कमाठिनों की पीली-काली चोलियों पर,
आकाश की अनन्तता को पीते
नारियल के नुकीले पत्रों पर—
खुल उठे उस पाती के अक्षर ?

×

लगा कि कोई ख़बर आई है
उस पाती में मानव के आगामी मनवन्तर
की।
अनदेखे लोकों के नीलाभ क्षितिज
बन गये हैं उस पाती की पंक्तियाँ।
उन क्षितिजों पर कभी
सूर्य-लोक का हिरण्य-गर्भ पुरुष
उदय होता-सा दीख जाता है
हिमालय की चूड़ा पर डग भरता हुआ।
चन्द्र-लोक के अमृत-सरोवरों में नहाती
अवसना यूरोपियन बालाएँ झलक जाती
हैं।
शुक्र-लोक की नीलमी छतों पर
बीणा औ' पियानों की सुरावलियों पर
अपूर्व कविता कला, गान की
झलमलाती मेहफ़िलें उतर आती हैं।
हिन्देशियन कुमारिकाओं के संग
नृत्य-गान लीन हैं, शुक्र-लोक के
आकाशी आँखों वाले मन-मोहन युवा।
कि मंगल-लोक की गुलाबी मानिक-
रेलिंग पर
कौन चमेली-सी गोरी चीना किशोरी
कर रही है इन्तज़ार—
दूर ते चिरन्तन प्रणय-मिलन के
गीत गाते आ रहे मंगल-कुमार का !
कि अनन्तों पर मशाल लिये जा रहे
रूसी युवा-युवति-युगल
खींच रहे समूचे खगोल को
अपनी हथेली पर !
मानव के चिर दिन के कल्पित स्वर्गों को
साकार कर रहे वे मर्त्यों की इस पृथ्वी
पर।
कि दफ़न हो रहे अमरीकी उदजन बम
प्रशान्त महासागर में :
कि शोषण का प्रेत सर पछाड़ कर
दम तोड़ रहा लिंकन महान की समाधि
पर।
हॉवर्ड फास्ट की वाणी के जलते अक्षरों
पर
उदय हो रहा नवीन अमरीका :
इमर्सन, थोरो औ' वॉल्ट ह्विटमैन का
अमरीका,
महर्षि आइन्स्टीन का अमरीका !
अपनी अणु-शक्ति की प्रयोग-शाला में
मानव के लिये सुख-ऐश्वर्य की

नई अलकापुरियाँ ढालता-सा अमरीका !

×

एक बरस हो गया तुम से बिछुड़े,
सोचा था, खो गईं तुम अतीत की
किसी तिमिरान्ध गुफ़ा के भीतर।
पर आज क्या देखता हूं अचानक
कि मुस्करा उठी हो तुम
अन्धकार की सांकलों को तोड़ कर
उदयाचल के शिखरों पर :
और फेंकी है तुमने यह
लवेण्डर-गुलाबी पाती
प्रथम किरण की रिबिन से बाँध कर
मेरी खिड़की पर !
बिखर पड़े हैं उसके अक्षर
केशर-कुंकुमी धूप के चुम्बन बन कर
मेरे आसपास के आकाश वातास पर
जन-जन के तन-मन घर-बार पर;
मानव के नये मनवन्तर की
ज्योतिर्मय झलकें लेकर।

×

समय के बिखरते बादलों के पार
यादों की नीली पहाड़ियों पर,
देख रहा हूँ मैं तुम्हारे-हमारे
चिर युवा स्वप्न की ऊगती उषा :
कि जब ऐसे ही एक दिन,
हिने के इत्र मे घुलते सरदी के सवेरे
तुम हम मिले थे प्रथम बार :
मैं आया था अतिथि बन कर
अचानक तुम्हारे द्वार !
एक सांवली, लीना, सरला बाला
खड़ी रह गई थी देहलीज में ठिठक कर,
प्रश्न-पूछती-सी आँखों से बेखबर।

कुछ ही बोलों में हम बन गये थे उस दिन
एक-दूसरे की आत्मा के आरपार दर्पण।
आँखों ही आँखों में
हमने कह दिया था एक-दूसरे से :
कि 'तुमको ही खोज रही थी मैं अब तक चिर दिन से !'
कि 'तुमको ही खोज रहा था मैं अब तक चिर दिन से।'
मिल कर हमने चुनौती दी थी
मानवी प्रणय से योगियों की निर्विकल्प समाधियों को !
मिल कर बुने थे हमने सपने उस दुनिया के,
जहाँ भगवान का योग,
मरण-विनाश-संघर्ष-ग्रस्त मानव की भंगुर धरती पर
उतर आयेगा अमृत का भोग बन कर।
जब मेरे चिरन्तन दर्द की आहें
'खंजर की हवाएँ बन कर'
बींध गईं थीं तुम्हारा कोमल कुंवरा अन्तर।
हमारे मिलन की उस परम उत्सव-वेला में
आ पहुंचा था स्वर्ण-मृग बन कर,
तुम्हारा मन मोहने को
धन का मारीच मायावी बाज़ीगर।
हरण कर ले गया था वह बलात्
युग के कवि की वल्लभा को
अपनी सोने की सांकलों से बांध कर।
तुम्हारी सरला चितवन पर
जड़ दिये थे उसने अपनी हवेली की

झूठी सुरक्षा के पत्थर।
अपनी प्रतिष्ठा के स्वर्ण-कुम्भ में
बन्दी कर लिया था उसने तुम्हारी आत्मा
के सत्य को।
कि जब तुम्हारे सपनों के फूलों की नाव
छिन्न-भिन्न हो गई थी
किसी के 'बेक-वैलेंस' की चट्टान से टक-
राकर।
कि तुम, ओ मेरी आत्मा की सौरभ,
जिसने उस मिलन के अन्तिम दिन
कोयल से टहुकते उस मीठे उन्मन तीसरे
पहर,
ढाल दिया था अपना विपुल केशभार से
छाया
विह्वल मुखड़ा मेरे चरणों पर,
और फिर झेल लिया था
सर मेरा अपनी गोदी पर।
वही तुम आत्मा की चिर काम्या,
कवि के सपनों की साकर वल्लभा,
उस दिन छोड़ गईं अपने प्यारे कवि को
अकस्मात
यूग के खूनी चौराहे पर,
और एक बार भी तुमने नहीं देखा
था मुड़ कर।
कि जब तुम्हारे-हमारे सपनों के पारि-
जातों को रौंदती
तुम्हारी बारात बड़े ठाठ-बाट से
विदा हो गई थी बैण्ड-बाजों के साथ
धरती-आकाश को हिलाती-कँपाती हुई
उस मध्य-रात्रि के पहर में!
दूर जाते जुलूस की उन विलय होती
गैस-बत्तियों
और बाजों की डूबती ध्वनियों के साथ
उस दिन कवि की चेतना खो गई थी
जाने किस रौरव-यंत्रणा के अतलान्त
पातालों में।
सोच लिया था तब यही भाग्य कवि का,
स्वप्न-दृष्टा का, प्यार का, गीत का।
पर रुंध नहीं सकीं मेरी रक्त-वाहिनियाँ
असत्य, अन्याय, निराशा, पराजय,
विफलता की उन दम घोटती फाँसियों में
खा-खाकर पछाड़े 'बैंक-बैलेंस' के
उन 'आइस-बर्गों' से—
मेरा एक-एक रक्ताणु हो उठा वह्निमान
कि अपनी ही भस्म की ढेरी मे से
उठा मैं बन कर अमर 'अनल-पंछी' नव
जीवन का
और छा लिया मैंने सकल सत्ता का
आसमान।
गूँज उठीं चुनौतियाँ मेरे ज्वालामय पंखों
कि मेरी चेतना के स्फुलिंगों से,
कि मेरी आत्मा के सार्वलौकिक दर्द में से
उतरेगी ऐसी एक दुनिया अखण्ड प्यार
की,
कि जिसमें धन नहीं होगा विधाता
मानव-भाग्य का।
कि जिसमें मानव की आत्मा होगी
शास्ता-नियन्ता इस अखिल भूत-सत्ता
की।
कि जिसमें कवि की वल्लभा का
अपहरण नहीं कर सकेगा
अत्याचारी, घमण्डी धन का देवता!

×

कि लो, मेरे पंखों की लपटों से फट पड़ा

तुम्हें मूर्छित कर देने वाला,
स्वर्ण-माया का आसुरी मोहान्धकार।
कि लो, देखता हूँ पूर्वाचल की चूड़ा पर
चला आ रहा है सूर्य-रथ तुम्हारा
जाज्वल्यमान,
अपनी अनन्त प्रभा के मण्डल से
सकल लोक को परिव्याप्त करता हुआ।
कि समय के बिखरते बादलों के पार
यादों की नीली पहाड़ियों पर
तुम्हारी नवीना पगतलियों की
जावक-ज्वाला झलमला उठी है!
कि सरदी के इस नीलमी सवेरे
पूर्वाचल का डाकिया
पहली किरन की रिबिन में बँधी
किसकी कुंकुमी पाती डाल गया है मेरी
खिड़की पर?
कि तुम्हारे विह्वल केश छाये
मुखड़े के समर्पण में से,
कि तुम्हारी गोद में डूबे
मेरे अश्रु-भीने तपते अंगारों-से ललाट
में से—
उदय हो रहा है मानव का नवीन
मनवन्तर:
इस चिट्ठी में आई है उसी की खबर।
कि आज जब मिलने जा रहे हैं धरती
और अम्बर,
तब कौन शक्ति है दुनिया की
कि जो तुमको-हमको रख सकेगी
बिछुड़ा कर

●●

रमानाथ अवस्थी

गीत

दिल डूब गया है जिसका मेरे दिल में,
आवाज़ उसी की ही होगी, पहचानो!
जिसके जीवन की रात मुझे चन्द्रमा बनाती है,
जिसके सोने के लिए रात आकाश सजाती है।
वह मुझे शूल के साथ, फूल-सा जीने को समझाता,
मैं उसी रूप के राग स्वरों में बाँध-बाँधकर गाता।
मेरी आँखों में जिसके अश्रु चमकते,
मैं उसी रूप का ताज मुझे पहचानो!
जिसके चरणों की धूल राह पर फूल बिछाती है,
जिसके प्राणों की प्यास मुझे बरसात बनाती है।
मैं उसे बाहु में बाँध काल से प्यार माँगता हूँ,
मैं उसे जीतकर आज उसी से हार माँगता हूँ।
मैं जिसका हूँ वह दूर नहीं मुझसे,
तक़दीर उसी की है मेरी पहचानो!

जो हँस-हँसकर मेरे दुर्दिन अपने सीने में भरता है,
जो मुझे हृदय में लेकर अपनी मंजिल तय करता है।
मैं उसे बुलाता लिख-लिख पाती सुधियों के पंखों पर,
मैं चलता उसे उठाकर अपनी कविता के कंधों पर।
जिसका यौवन काँटों को सेज समझता,
मैं उसी जवानी का जवाब, पहचानो !

असम्भव !

ऐसा कहीं होता नहीं
ऐसा कभी होगा नहीं।

(१)

धरती जले बरसे न घन,
सुलगे चिता झुलसे न तन।
बिजली गिरे काँपे न तम,
औ, जिन्दगी में हों न ग़म।
ऐसा कभी होगा नहीं,
ऐसा कहीं होता नहीं।

(२)

हर नींद हो सपनों भरी,
डूबे न यौवन की तरी।
हरदम जिये हर आदमी,
उसमें न हो कोई कमी।
ऐसा कभी होगा नहीं,
ऐसा कहीं होता नहीं।

(३)

सूरज सुबह आये नहीं,
औ' शाम को जाये नहीं।
तट को न दे चुम्बन लहर,
औ' मृत्यु को मिल जाय स्वर।
ऐसा कभी होगा नहीं,
ऐसा कहीं होता नहीं।

(४)

दुख के बिना जीवन कटे,
सुख से किसी का मन हटे।
पर्वत गिरे टूटे न कन,
औ' प्यार बिन जी जाय मन।
ऐसा कभी होगा नहीं,
ऐसा कहीं होता नहीं।

जाने वाले बादल के प्रति

ओ जाने वाले बादल !
मत जाओ, बरसाओ जल !!
दुनियाँ अब भी प्यासी है,
चारों ओर उदासी है।
फूलों का सुन्दर मुखड़ा,
लगता है उतरा-उतरा—
तड़प रहा प्यासा मरुथल,
छोड़ इसे देना मत चल !
ओ जाने वाले बादल !
मत जाओ बरसाओ जल !!
तुमको रात बुलाती है,
प्यासे स्वप्न दिखाती है।
सूरज आग बरसता है,
जग का आँगन जलता है।

मानव है दुख से घायल,
दो इसको थोड़ा सम्बल ।

ओ जाने वाले बादल,
मत जाओ बरसाओ जल ।

●●

नरेश मेहता

[यहाँ अपनी एक कृति 'सप्तमी' प्रधान शैली में दे रहा हूँ । 'सप्तमी' संस्कृत में, बंगला में तो है ही किन्तु बोलियों में भी है । विशेष रूप से 'मालवी' में इसकी प्रचुरता है । हिन्दी विश्लेषणात्मक एवं वियोगान्त भाषा बनी । उसका स्वर-संगीत अनेक प्रभावों से नष्ट होकर व्यंजन-संगीत के रूप में आया । ये कोई विशेषताएं हों ऐसा मैं नहीं मानता विशेषकर काव्य एवं संगीत की दृष्टि से । अपने 'बसन्तागमन' को इस दृष्टि से पाठकों के सामने रख रहा हूँ । स्वर-नाद ही संगीत की आत्मा होती है । यह प्रथम प्रयोग है; हो सकता है निखरा न हो किन्तु संगीत स्पष्ट हुआ है ।]

बसन्तागमन

दखिन दार उघाड़ी बसन्त आयो !!
हमाके पतझर नग्न कियो,
पुरान पाता झड़ि गियो,
सेरी बाटे जीर्ण जीवन,
बुहारी लिये जावै पवन ।
नतून खातिर मार्ग देवो,
ओ हमार मोह पुरातन !
गोपुरे शंख डाके सुनो सखि !
ऋतु श्रीमंत आयो !!
पीपल पाता, कांदो तुमि ना,
शितालो मन ! कांदो तुमि ना,
प्रभु अंचल में से,
एईखन बगरि जावे;
धरा ऊपरे अन्न,
मने गान, तने रंग
सब गोपी आँखें रास रस सपना,
टेसूवन टुशालों देखो सखि !
आये रसवन्त आयो !!
गृह दार खेत पलकन बुहारो,
सेरीजन ग्रामजन, जनजन गुहारो ।
फागुन राजा आयो राजरथे गगने,
वल्कल लेई, देवे परिधान अपने,
पाताक मुकुट बाँधि गाछे-गाछे,
सखि ! कन्त आयो !!

प्रार्थना

वहन करो,
ओ मन ! वहन करो पीड़ा !!
यह अंकुर है उस विशाल वेदना की,
तुम में थी जन्मजात
आत्मज है,
स्नेह करो
अंचल से ढँक कर रक्षण दो !!
वहन करो, वहन करो पीड़ा !!
सृष्टि प्रिया पीड़ा है कल्पवृक्ष,
दान समझ,
शीश झुका स्वीकारो
ओ मन ! करपात्री स्वीकारो,
मधुकरि स्वीकारो !!
वहन करो, वहन करो पीड़ा !!

चिरंजीत

कलम कुदाली

इस कलम-कुदाली से गोड़ूँ मैं खेत अनुर्वर जीवन के।

(१)

इन खेतों में नभ ने शत शत अमृत-धारायें बरसाईं,
जीवन-प्रद वरद प्रभातों ने संजीवनियाँ हैं बिखराईं,
औ' स्वर्गिक आशीर्वादों-सी षड् ऋतुएँ पुनः पुनः आईं,
पर ये न कभी भी हरे हुए, पर ये न स्वर्ण से खरे हुए,
धरती के मंगल आँगन में अस्तित्व बाँझ-सा धरे हुए,
झाड़ों झंखाड़ों विषबेलों पाषाणों से ये भरे हुए,
पर लहू पसीना एक किये मैं स्वप्न देखता नन्दन के।
इस कलम-कुदाली से गोड़ूँ मैं खेत अनुर्वर जीवन के॥

(२)

सारा दिन कड़ी मशक्कत कर मैं श्रान्त लौटता सान्ध्य समय,
मन मन के पाँव न उठ पाते, प्रति अंग शिथिल औ' पीडामय,
दोजख की आग उदर में जल हा, बचा-खुचा बल करती क्षय,
यों जीवित औ' शापित शव-सा मैं गलि-बाज़ारों में चलता,
अपनी नज़रों में गिरा हुआ, अपने को आप स्वयं छलता,
चम-चम करते धन-वैभव से चुंधियाई आँखों को मलता,
मैं फ़र्क ढूँढता अपने में औ-' उनमें जो स्वामी धन के।
इस कलम-कुदाली से गोड़ूँ मैं खेत अनुर्वर जीवन के॥

(३)

याँ-वहाँ जलूसों जल्सों में मैं 'शांति, शांति' का स्वर सुनता,
दीनों के दुख से दुखी जहाँ धनपति नेता सिर को धुनता,
बहुरूप स्वांग ये शोषक के मैं चल पड़ता मन में गुनता
मुझ जैसों के कंकालों पर निर्मित प्रासादों को लखता,
मधु पायल की झनकारों को चुन-चुन रीते उर में रखता,
प्यालों में ढलती हाला को मैं झूठ-मूठ मन में चखता,
जब घर आता तो रो पड़ते अरमान क्षुधित तन के मन के।
इस कलम-कुदाली से गोड़ूँ मैं खेत अनुर्वर जीवन के॥

(४)

प्रातः से निशि तक खेतों में धम-धमक कुदाली चलती यह,
दोपहर समय जब घाम प्रखर हो जाती ज्वाला-सी दुःसह,
तब सुखद कल्पना सुर-सरि में मैं अनजाने ही जाता बह,
ऊसर के प्रेत बगूले ये धरते आकृतियां महमिल[१] की,
हल रेखायें शिकनें बनतीं बारीक रेशमी अंचल की,
औ' लोह कुदाली की धम-धम बन जाती छम-छम पायल की,
—यह स्वप्न-ज्वार पल में हटती, उठते प्रस्तर-तट चेतन के।
इस कलम-कुदाली से गोड़ूँ मैं खेत अनुर्वर जीवन के॥

(५)

नैराश्य निशा काजल-काली, मैं आशा दीप जलाये हूँ,
यह शिशिर कभी तो बीतेगा, मधु ऋतु की आस लगाये हूँ,
जब हरी-भरी खेती होगी, उर में वह चित्र सजाये हूँ,
खेतों में सोना बरसेगा, यह श्रम मेरा फल लायेगा,
घर-बाहर सब भर जायेगा, खुशहाली का युग आयेगा,
ना दीन कहीं, ना धनी कहीं, यह भेद-भाव मिट जायेगा,
यह कलम लदी पुलकावलि से गायेगी बाँसुरिया बन के।
इस कलम-कुदाली से गोड़ूँ मैं खेत अनुर्वर जीवन के॥

(६)

बाहों में बल हो तो निश्चय गिरि भी आगे से हट जाता,
संकल्प सुदृढ़ हो तो निश्चय धरती पर स्वर्ग उतर आता,
विश्वास अटल हो तो निश्चय पत्थर भी ईश्वर हो जाता,
बस, आत्म-शक्ति, विश्वास और संकल्प अटल का ले संबल,
निज हाड-मांस की खाद डाल, निज रक्त-स्वेद से सींच सजल,
जीवन के बंजर खेतों को मैं बना रहा उर्वर-श्यामल,
दिन दूर नहीं, जब देख इन्हें ललचेंगे स्वामी नन्दन के।
इस कलम-कुदाली से गोड़ूँ मैं खेत अनुर्वर जीवन के॥

१—ऊंट के ऊपर कसी जाने वाली पालकी-सी, जिसमें बैठकर रेगिस्तानी प्रदेशों की स्त्रियां यात्रा करती हैं।

शम्भूनाथ 'शेष'

रुबाइयात

प्राणों मे नई चेतना भर जाते हैं !
नयनों में नये रूप निखर जाते हैं !
पृथ्वी का सहज सत्य करे जब विश्राम;
आकाश में कुछ स्वप्न बिखर जाते हैं !

\+ \+ \+

मानव को प्रकृति रूप में स्रष्टा पाया;
अनुराग ने सौन्दर्य का सरगम गाया !
पृथ्वी की सजगता की खिली जब मुसकान;
दिव् लोक से आलोक उतर कर आया !

\+ \+ \+

केन्द्रित है किसी रूप सें संसार का ध्यान !
अनुराग सरोवर में नयन श्री अम्लान !
खो जाता है मन शून्य में यों अपने आप--
ज्यों बाँसुरी की दूर से आती हुई तान !

\+ \+ \+

हेमन्त-तरल चाँदनी मधुवन भूले !
अनुराग के क्षण, अन्तः चेतन भूले !
यों भूलती है साध सलज दर्शन पा :
ज्यों नृत्य-रता कामिनी का तन भूले;

\+ \+ \+

मानस में ललित भावना लुक-लुक जाए !
अभिव्यक्ति के क्षण कामना रुक-रुक जाए !
बौराये हुये आम की डाली पर ज्यों;
फागुन की तरल चाँदनी झुक-झुक जाए !

ग़ ज़ ल

प्राण समान हुई जाती है, शाश्वत गान हुई जाती है !
एक मधुर-सी टीस हृदय का जीवन-यान हुई जाती है !
नभ में तारा, दृग में आँसू, जो धरती पर थी हिम कणिका,
वही बूंद दुर्दिन में जाने क्यों तूफ़ान हुई जाती है !

मृदु भावों की अवहेला पर फूट पड़े थे करुणा-सोते;
वह सुधि रूपसि के अधरों की मृदु मुसकान हुई जाती है !
रूप-सिन्धु में लीन हृदय की शाश्वत सृजन-कला तो देखो;
वह अमूर्त्त-सी भाव प्रेरणा अब छविमान हुई जाती है।
दृग में स्वप्न, हृदय में जिसने मीठी-सी अभिलाषा भर दी;
वह छवि छवियों के झुरमुट में अन्तर्धान हुई जाती है !
मेरे सूनेपन के सपनों, कौन करे शृंगार तुम्हारा;
रेगिस्तानी नदी राह में रेगिस्तान हुई जाती है !
मन के सुमन चढ़ा कर जिसका दृक्जल से अभिषेक किया था,
मेरी साधों की वह प्रतिमा फिर पाषाण हुई जाती है !
लाज भरी सौन्दर्य-मूर्त्ति के आत्म-ज्ञान ने ली अँगड़ाई;
राई सी अभिलाषा बढ़कर मेरु महान हुई जाती है !
कुहरे भरे क्षणों में गायक कौन सुनेगा मर्म व्यथाएं;
पाकर नभ का भेद रात भी स्वर्ण-विहान हुई जाती है।

●●

देवराज दिनेश

चुनौती

है उन्हें मेरी चुनौती !
जो कि मेरे रक्त से शृंगार करना चाहते हैं।
वेदना शर्मा रही है देखकर मुस्कान मेरी
मोम बनती जा रही है सुन रसीली तान मेरी
चाँद मेरा मीत है रवि से नहीं भयभीत हूँ मैं—
वे सुनें ललकार मेरी !
जो कि मेरी वक्ष पर अंगार धरना चाहते हैं।
जो कि मेरे रक्त से शृंगार करना चाहते हैं ॥
मैं जिया उनचास पवनों में प्रलय का गीत बनकर
घन घटाओं में रहा हूँ बिजलियों की जीत बनकर
आँधियों के श्याम कुन्तल प्यार से मैंने सँवारे
वे सुनें जयघोष मेरा !
व्यर्थ ही जो रक्त की नवधार वरना चाहते।
जो कि मेरे रक्त से शृंगार करना चाहते हैं ॥

रक्त मेरा पी बुझाना चाहते जो प्यास अपनी
एक मेरी बात मानें छोड़ दें अभिलाष अपनी
मित्र के हित पुष्प हूँ तो शत्रु के हित सर्प हूँ मैं
व सुनें फुंकार मेरी ।
जो कि मेरे सामने बेकार मरना चाहते हैं ।
जो कि मेरे रक्त से श्रृंगार करना चाहते हैं ॥
मैं उषओं में हँसा हूँ, मैं निशाओं में रहा हूँ
कूल के सँग-सँग चला हूँ प्रबल लहरों में बहा हूँ
हार से परिचय पुराना जीत नव-दुल्हिन बनी है
वे सुनें सन्देश मेरा !
जो कि मेरे प्यार का अधिकार हरना चाहते हैं ।
जो कि मेरे रक्त से श्रृंगार करना चाहते हैं ॥
प्रगति मेरी संगिनी बन साथ मेरे रह रही है
कल्पना अपने हृदय की बात मुझ से कह रही है
मैं किसी से क्यों डरूँ जब साथ है मेरे जवानी
सोच लें अपना भला वे !
जो प्रगति के पंथ की दीवार बनाना चाहते हैं ।
जो कि मेरे रक्त से श्रृंगार करना चाहते हैं ॥
भावना के शान्त सागर में अनेकों ज्वार आए
ये अनेकों ज्वार मेरी नाव को कब रोक पाए
साधना की नाव मेरी अनवरत चलती रहेगी
परख लें वे शक्ति अपनी !
जो कि मेरी राह में मँझधार बनना चाहते हैं ।
जो कि मेरे रक्त से श्रृंगार करना चाहते हैं ॥
मैं जिऊँगा क्योंकि जीने की प्रबलतम चाह मेरी
साफ़ करती जा रही हैं आपदाएं राह मेरी
प्यार से तूफान मेरे साथ चलते मुस्कराते
वे सुनें हुंकार मेरी !
जो हठीले मृत्यु से अभिसार करना चाहते हैं ।
जो कि मेरे रक्त श्रृंगार करना चाहते हैं ॥

गीत

रात आधी जा चुकी है दूर हैं सपने
और पंथी गा रहा है गीत जीवन का
वेदनामय स्वर बताता हाल तन-मन का
थक चुकी है राह पर राही थके कैसे
ढूंढ़ने हैं आज दुनिया में उसे अपने।
रात आधी जा चुकी है, दूर हैं सपने।

लोचनों में है सघन उन्माद सा छाया
चिर पुराना स्वप्न बरबस याद हो आया
स्वप्न भी था, जागरण भी था, निशा भी थी
जिन्दगी में थे अनेकों मीत बन्धु बने
रात आधी जा चुकी है, दूर हैं सपने।

चाँदनी रातें कभी अह्लाद लाईं थीं
जिंदगी में तरल तम उन्माद लाईं थीं
भावनामय गीत गाये थे सितारों ने
प्रकृति प्रांगण में बहे थे सुरभि के झरने
रात आधी जा चुकी है, दूर हैं सपने।

स्निग्ध शशधर मीत जीवन का कहाता था
भर सुधा के चषक मस्ती से पिलाता था
किन्तु अब साथी नही है साथ जीवन
लग गया है यह सुखद हिमवान भी तपने।
रात आधी जा चुकी है, दूर हैं सपने।

दूर की मंज़िल कभी तो पास आयेगी
प्रिय रुपहले स्वप्न अपने साथ लायेगी
यह मृदुल आशा पथिक को दे रही जीवन
देख बढ़ते चरण, चुभते शूल आज घने।
रात आधी जा चुकी है, दूर हैं सपने।

विष बुझे यह शूल ही बन फूल जायेंगे
और मधु के घूंट पंथी को पिलायेंगे

स्वयं काली रात मादक प्रात लायेगी
और पंथी गा उठेगा गीत स्नेह सने ।
रात आधी जा चुकी है, दूर हैं सपने ।।

सुखद मंज़िल दे पथिक को वस्तु मन-चाही
हँस कहेगी फिर नई मंज़िल बना राही
है वही जीवन निरन्तर गति रहे जिसमें
ज़िंदगी भर प्रिय तुम्हें नव पंथ है चुनने ।
रात आधी जा चुकी हैं, दूर हैं सपने ।।

●●

गोपालकृष्ण कौल

शरणार्थी !

इन्सानों की भीड़ में
इन्सानियत खो गई
जैसे मेले में
कोई अबोध शिशु
खो गया खिलौनों औ' तमाशों की खोज में
अंगुली पकड़कर चलने वाले स्नेह के हाथों से दूर
बिछुड़कर प्यार की गोद से
आँखों के आसमान से टूटे तारे की तरह
सिसक रहा मेले में—
अचंभित, अवाक्, भीड़ में अकेला !
है कोई ?
जो—
इस खोए, सिसकते हुए
प्यार के भूखे बालक को
उसके घर तक पहुँच दे ?
टूटे हुए तारे को सूने आसमान में
फिर से बसादे ?
आज—
इन्सानियत शरणार्थी है !

आदम के बेटों से

हर आँख नहीं करुणा से गीली होती
हर बूँद नहीं सीपी में बनती मोती
हर धरती पर फूल नहीं खिलते हैं
कितना ही शबनम रहे रात भर रोती ।

क्या जाने कब से गलता रहा हिमानी,
पर हर पत्थर कब गलकर बनता पानी ?
हर प्यास नहीं बुझती केवल अमृत से
विष भी पीकर खुश रहती यहाँ जवानी ।

हर साँझ नहीं उगता है चाँद गगन में,
हर सुबह जागरण जगा न पाती मन में ?
हर बदली कब सूरज का घूँघट बनती
हर घटा नहीं रुक पाती मुक्त पवन में ।

हर पग की छाया राह नहीं बन पाती
हर नई राह कब है मंजिल तक जाती ?
यों तो हर राही क़दम बढ़ाता है पर
हर एक क़दम को मंजिल सिर न झुकाती ।

इस तरह व्यक्ति की सत्ता अलग-अलग है
हर एक प्राण में अपना अहं सजग है
अस्तित्व अहं की छाया है, यह माना
पर एक पैर से चलता कब यह जग है ?

तुम एक बूंद को सागर माना करते
तुम एक फूल को उपवन जाना करते
तुम समझा करते एक लहर को सरिता
तुम एक साँस को जीवन माना करते !

यह है अनेक को भूल, एक का पूजन,
जग की पीड़ा से बचने का अवगुण्ठन
यों शुतुरमुर्ग भी गरदन छिपा रेत में
करता रहता है आत्म-तत्त्व का चिंतन !

तुम व्यक्ति-निष्ठ तुम अपने स्वयं पुजारी!
तुम को समष्टि से लगता है भय भारी,
जब दुनिया में आग लगा करती तब—
तुम हाथ सेकने की करते तैयारी !

तुम तर्क-पुष्ट, तुम सूनेपन का चिन्तन !
तुम एक नहीं सहते अनेक का बन्धन !!
जो बुझा न पाता प्यास किसी धरती की
तुम ऐसे बिन-बदली के सूने सावन !

बिन दो के होता प्यार नहीं धरती पर
यह दुनिया आदम के बेटों का है घर
यह धरती कितनी ही ऊँची-नीची हो
पर है इस पर सबका अधिकार बराबर।

●●

रामावतार त्यागी

गीत

दीप के समीप अंधकार घूमता
आरती सँभालकर उतारना !

साँझ ने विहंग को सितार दिया है
व्योम को स्वयंवरी सिंगार दिया है
सूंघने समीर लगा फूल-फूल को
नींद को शरीर ने पुकार लिया है
स्वर्ण के विमान सदाचार घूमता
तुम मुझे सँभालकर पुकारना !

प्यार को विनाश ने विराम दिया है
वृद्ध ने जवान पाँव थाम दिया है
लूट लिया फूल को बहार ने कहीं
बूंद को प्रवाह ने गुलाम किया है
शब्द का महान ग्रन्थकार घूमता,
गीत को सँभालकर उतारना।

चाँद को कुरूप ने खरोंच लिया है
मृत्यु ने सुहागबिन्दु पोंछ दिया है
जन्म के कपोल पर मशान का कलंक
भीति ने विकास को दबोच लिया है
भ्रान्ति का निशंक कलाकार घूमता,
वक्त को सँभालकर गुजारना।

जिन्दगी कगार पर खड़ी कतार म
पंथ के निशान खो गये गुबार में
ढोलकी उदास, नृत्य भी निराश है
व्यक्ति दबा राजनीति के तुषार में
वारुणी पिये हुए सुधार घूमता,
द्वार से सँभालकर निहारना।

गीत

रोग्रोगे अर्थी पर इतनी देर तो,
कौन जनम का स्वागत करने जायेगा ?

फूलों के सूखे, निर्जीव शरीर पर
शोक सुबह तक बैठे अगर मनाओगे ?
तो खिलती कलियाँ खुशियाँ जब माँगेंगी
तुम उनको क्या कह करके समझाओगे ?
सोओगे जो सिर को धरे मजार पर,
तो जीवन का उत्सव कौन मनायेगा ?

होगा चढ़ना कैसे उच्च पहाड़ पर
जो अपनी ऊँचाई से घबराओगे ?
सबके दुश्मन से कैसे लड़ पाओगे ?
जो अपनी परछाईं से भय खाओगे ?
मानोगे तारों का इतना हुक्म तो,
कौन सुबह का घर-घर गीत सुनायेगा ?

मान कहा मेधा का कितनी देर तक
बात हृदय की यों ठुकराई जायेगी ?
शब्दों के जादू से कितने वर्ष तक
मानवता की लाश छिपाई जायेगी ?
होओगे निष्फलता देख उदास जो,
कौन समय से जाकर आँख मिलायेगा ?

जो पगडंडी की उँगली को थामकर
है चलना तो कैसे राह बनाओगे ?
कोस रहे जो नभ को उनसे पूछना—
अपनी लघुता को किस रोज मिटाओगे ?
जोहोगे हर वक्त मलय की बाट को,
तो बर्बर आँधी को कौन चिढ़ायेगा ?

गीत

कहो जागरण से जरा साँस ले ले
अभी स्वप्न मेरा अधूरा-अधूरा ।

लकीरें बनी हैं न तस्वीर पूरी
अभी ध्यान है साधना है अधूरी
अभी कल्पना का हुआ है उदय ही
रहा साथ मेरे अभी तक मलय ही
मुझे देवता मत पुरस्कार देना
अभी यत्न मेरा अधूरा-अधूरा ।

अभी तारकों पर उदासी न छाई
दिये ने न माँगी अभी तक बिदाई
अभी चाँद का रथ हुआ है रवाना
कली को न आया अभी मुस्कराना
प्रभाती न गाओ, सुबह मत बुलाओ
अभी प्रश्न मेरा अधूरा-अधूरा ।

अभी आग है, आरती कब बनी है
अभी भावना भारती कब बनी है
मुखर प्रार्थना मौन अर्चन नहीं है
निवेदन अभी तक समर्पण नहीं है
अभी से कसौटी न मुझको चढ़ाओ
खरा स्वर्ण मेरा अधूरा-अधूरा ।

किरण फूल के कुन्तलों को खिलाए
पवन डाल के पायलों को हिलाए
भ्रमर जब चमन में मुरलिया बजाए
कभी जब तुम्हारी मुझे याद आए
तभी द्वार आकर तभी लौट जाना
हृदय भग्न मेरा अधूरा-अधूरा ।

प्रयागनारायण त्रिपाठी

तप्त कुण्ड

हिम-मण्डित शिखरों के आस-पास
जहाँ डोलता है क्रुद्ध हिम-वतास
जहाँ हर धारा हिम-शीतल है
जहाँ रुँध जाता है श्वास-श्वास
वहीं कहीं, किसी ठाँव, किसी मोड़
पत्थर की छाती को फोड़-फोड़
सहसा उमड़ता है तप्त कुण्ड
हिम का प्रत्युत्तर, प्रसन्न होड़।
तुम—जो हिम शीतल हो, उज्ज्वल हो, तुष्ट हो
तुम—जो गर्वीली निज हिमता में पुष्ट हो
तुम में भी निःशंसय फूटेगा तप्त कुण्ड
चाहे उसे हँस झेलो, चाहे व्यर्थ रुष्ट हो
उस विस्फोट से तुम्हारा यह हिम शरीर
यह गगनोन्मुख धरा का शुभ्र पिण्ड-नीर
पिघलेगा। फूटेंगी जल-धारायें अनंत
नयन चीर, श्रम-सीकर बन रन्ध्र-रन्ध्र चीर।

चार मुक्तक

खिलौना

कहती सुबह : किरन-गुड़िया लो, बड़ी नरम है, प्यार करो;
कहत दिवस : करम-पुतरी लो, गिरो नहीं, काँधा थामो;
कहती साँझ : खिलौना मोमी ले लो शान्ति, थकन भूलो;
कहती रात : नखत लो, चन्दा लो, ये सपने लो, खेलो;
मैं ऐंठा हूँ : क्यों न दे गईं मुझे खिलौना तुम कोई?

पहरुवा

कभी सुना था : शलभ दीप-लौ छुते ही जल जाता है;
कभी सुना था : रात-रात भर रटता पपिहा 'पीव कहाँ?'
कभी सुना था : मीन नीर बिन तड़प-तड़प मर जाता है,
सच हो शायद : पर न झूठ यह इस क्षण, जब तुम पास नहीं,
लगता है, पहरुवा प्राण का कहीं दूर जा सोया है।

मुस्कान

जड़ें काट दो और विहग से कहो : खूब निश्चिन्त जियो !
पंख तोड़ दो और विहग से कहो : गगन में झूमो तो !
रंग पोंछ दो और चित्र से कहो : दिखाओ तो झाँकी !
तार तोड़ दो और बीन से कहो : भैरवी छेड़ो तो !
सुधि है ? तुमने कहा था न ?---यह लो, मैं भी मुस्काता हूँ !

ब्याह

कहते हैं : चन्दा-कमोदेनी मिलें ब्याह तब होता है,
कहते हैं : सूरज-सरोजनी मिलें ब्याह तब होता है,
कहते हैं : कृत्तिका-रोहणीं मिलें ब्याह तब होता है,
होता होगा ; ब्याह गगन से गिरता होगा; खबर नहीं,
हम तो आग लगाकर घर में तुम्हें खोजने जाते हैं ।

●●

जगदीश बाजपेई

शिखरों : एक संबोध !

शिखर, जो बादलों से बात करते थे;
शिखर, जो दामिनी को अंक भरते थे;
शिखर, जो चन्द्रिका-चुम्बित रहे प्रति-पल
शिखर जो हिम-प्रभंजन से न डरते थे ।

दिवस बीते कि जब सम्मान होता था;
शिखर का भार सारा विश्व ढोता था;
धरा के पुत्र--जनपद, ग्राम जगते थे
शिखर, पर, चाँदनी की सेज सोता था ।

वही विद्रोह कर भू से हुए कंपित;
विजित हो घाटियों से आज चिर-शंकित;
सफलता, शक्ति जिनके चूमती थी पग--
विफलता सहचरी; वे आज भू-लुंठित ।

मगर अब काल बदला, भावना बदली;
गया मधुमास, बिखरी भ्रान्ति की बदली;
मुदित है पर्णिका, प्रासाद आतंकित;
सजग करती सभी को क्रान्ति की बदली ।

शिखर तब तक शिखर यदि घाटियाँ मानें;
शिखर ऊँचे अगर सरि, गर्त सम्मानें;
चुनौती दे चुका युग आज शृंगों; को
बचेगी लाज यदि युग-धर्म पहिचानें ।।

अहं को त्याग अणु से मित्रता कर लो;
गगन को भूल जग को अंक में भर लो;
इसी में हित निहित शिखरों तुम्हारा है;
झुको, झुक कर धरा की वन्दना कर लो !

इस समय कल मैं तुम्हारे पास था

(१)

साधना तब थी तिरोहित साध्य में;
भक्ति मूक विलीन थी आराध्य में;
बिन्दु का अस्तित्व तब था सिंधु में;
पंख में वन्दी विशद आकाश था।
इस समय कल...

(२)

कामना में तृप्ति खुद साकार थी;
याचना में पूर्ति की मनुहार थी;
शून्यता मानो मुखर थी राग में
एक तिनके में बँधा मधुमास था।
इस समय कल...

(३)

आज कितनी दूर शशि से चाँदनी;
आज कितनी दूर घन से दामिनी;
जग गया रंगीन सपना देखते
वह विगत उल्लास भी उच्छ्वास था।
इस समय कल ...

केदारनाथ सिंह

शरद् आशीः

उस पार मक्का के पके हुए खेत हैं ।
और इस पार मेरा गाँव,
न जाने क्यों मेरी आँखों में शरद तैर रहा है—
भोर के उजास भरे बादलों की तरह,
न जाने वे पगडण्डियाँ अब कहाँ होंगी—
जो मुझे आज भी उस छोर पर बेसाख्ता हाँक देती हैं,
न जानें इस साल उन पर वे घासें उगी होंगी कि नहीं
जिनकी नन्ही-नन्हीं पत्तियाँ—
आज भी मुझे दूर पर हिलते हुए हाथ की तरह बुलाती हैं,
न जाने उन किवाड़ों पर अब कौन-सी थाप पड़ती होगी
जो रास्ते की हर आहट पर पहले चीख-चीख उठते थे,
न जाने उन झरोखों से अब कौन-सी हवा टकराती होगी
जिनसे मेरी फसलों की शाम अक्सर उलझ जाती थी,
न जानें उन तलैयों से कौन-सा गीत उठता होगा;

जहाँ आज भी मैं—
नरसलों पर झुके हुए कुहरे की तरह काँप रहा हूँ !
उस पार मक्का के पके हुए खेत हैं,
और इस पार मेरा गाँव,
न जाने क्यों एक हाथ याद आता है—
जो हर साँझ उस घाट की टूटी सीढ़ियों पर एक दिया—
धर जाता था—शरद उस हाथ को तुलसी की नई पत्तियाँ भेंट करे।
उंगलियाँ याद आती हैं—
जो गुड़ियों की टोपियों में परियों की मासूम कहानियाँ—
बुन देती थीं—शरद उन उंगलियों को नई दूब की ताज़गी दे !
नाखून याद आते हैं—
जो अपने स्पर्श से रूमाल के बरीक धागों में—
किरन की धीमी गुनगुनाहट आँक देते थे—
शरद उन नाखूनों को वकुल की नई पँखड़ियों से रंग दे,
एक भाल याद आता है—
जिस पर जाड़ों की ढलती हुई धूप बरबस ठहर जाती थी
शरद उस भाल पर नये भोर की बेंदी लगा दे,
आँखें याद आती हैं—
जिनमें मैं समुन्दर की बेमाप ग़हराइयाँ बनकर खो गया था—
शरद उन आँखों को आदिम पूर्णिमाओं की तरह चमका दे,
बाल याद आते हैं—
जिनमें सर्द कछारों से आने वाली हवायें विश्राम करती थीं—
शरद उन बालों को चाँदनी के हल्के झोंको से सिहरा दे,
एक नाम याद आता है—
जो आज भी मेरी सिहरनों में हल्की गरमाहट की तरह—
बसा हुआ है—
शरद उस नाम को एक वैदिक ऋचा की तरह—
गँगा के कूलों पर बिखरा दे,
उस पार पक्का के पके हुए खेत हैं
और इस पार मेरा गाँव,
और इस पार मेरा गाँव,
न जाने क्यों—

मेरी रगों में शरद डूबता जा रहा है,
डूबता जा रहा है,
जैसे फैले कछारों में नई मिट्टी की गमक डूबती है—
धीरे, धीरे,

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

सुबह से शाम तक में

सुबह हुई—
धरती के सुनहरे चिकने फ़र्श पर
हरी मटर का गोल बड़ा दाना लुढ़कने लगा;
और उसके पीछे पीछे, भूरे पंख फड़फड़ाता,
गौरैये का एक बच्चा,
अपनी नन्हीं सी सुर्ख चोंच खोलकर,
उसे बार-बार पकड़ने का असफल प्रयास करता फुदकने लगा।
साँझ हुई—
दूर, आकाश के पीले रेगिस्तानी टीलों पर,
भूखे शिथिल ऊँट,
सुर्ख क्षितिज की ओर ऊपर सर उठाए,
पीठ पर चारा लादे,
किसी ओझल पड़ाव की ओर थके माँदे,
काले प्रश्न चिन्हों से रेंगने लगे।
सुबह से शाम तक में—
निज का प्रयत्न परवशता में बदल गया,
पेट इतना बढ़ गया
कि उसको ही चिन्ता में
सामने का चारा पीठ पर लादना पड़ा,
आप इसे प्रगति कहें!
मेरे लिए
स्वावलम्बी गौरैय्ये का बच्चा ऊँट हो गया।

मार्कण्डेय

रोड़े

यह पथ के रोड़े हैं
इनकी बातें बहुत बड़ी हैं,
ऊपर से चिकने पर,
इनकी छाती बहुत कड़ी है।
कितनों को मंजिल से रोका,
कभी नहीं पछताये,
फिर भी अपनी आदत से,
अब तक ये बाज न आये।
इन की साँसें तोड़ न देना,
इन्हें राह पर छोड़ न देना,
यह पत्थर के टुकड़े,
इन पर टाँकी मारो !
खून पसीना आँसू देकर,
इन्हें सवारों !

प्रकाश का प्यासा

हर खिलने वाला फूल
हर चुभने वाला शूल
प्यार है।
हर घुटने वाली साँस,
हर मिटने वाली प्यास
हार है।
हर हँसता आदम-जात,
हर गिरता पीला पात
आशा है।
हर उठती नभ की धूल,
हर ढहता सरिता कूल
क्रान्ति है।
हर प्रेमी की आस,
हर कैदी की साँस
बाधा है।
हर बन्धन की आग,
हर मानव की माँग
पूजा है।
हर बातों की तोल,
हर सौदे का मोल
कृपा है।
हर श्रम का दुर्वासा,
हर प्रकाश का प्यासा
मित्र है।

आदमी

बनता आदमी कुछ और
होता आदमी कुछ और

पत्थर में समाये प्राण,
प्राणों में बसे पाषाण।
कोई पूजता है प्राण,
कोई पूजता पाषाण।
बनकर आदमी हैवान,
कहता हूँ बना इन्सान।
कोई भीतरी हैवान,
कोई बाहरी हैवान।

कोई समझता कुछ और,
कोई मानता कुछ और।
बनता आदमी कुछ और,
होता आदमी कुछ और।

धरती पर जगा इन्सान,
पर क्या हैं नहीं वीरान
कोई ढूंढ़ता इन्सान,
कोई ढूंढ़ता वीरान।
जगता आदमी कुछ और।
सोता आदमी कुछ और।

सासों में बसी ललकार,
पर बेजान को क्या हार।
कोई दे रहा ललकार,
कोई खा रहा है हार
जिन्दा आदमी कुछ और,
मुर्दा आदमी कुछ और।

मुकुटबिहारी सरोज

गीत

दुनियाँ का दुख दर्द समझने वाले हर इन्सान को
नए स्वरों में आमंत्रित करना होगा भगवान को।

(१)

सदियों के यौवन से, पूजन में ऐसी गलती हुई
मानवता की ज्योति बुझा डाली बिल्कुल जलती हुई
इस गलती को भाग्य समझने वाले हर इन्सान को
नई तरह से अनुभव करना होगा अब अरमान को।

(२)

सोने का रनिवास, पसीने के दीपों से जल गया
किसी देव का पुण्य, किसी पापी पत्थर को मिल गया
इस पत्थर को देव समझने वाले हर इन्सान को
नई तरह से परिभाषित करना होगा शमशान को।

(३)

रोहिताश्व शैव्या खरीदकर, लोहा-चाँदी बन गया
घास-फूस के लिए पवन पतझर में आँधी बन गया
इस लोहे को सभ्य समझने वाले, हर इन्सान को
नई तरह से दुहराना होगा, धरती के गान को।

कमलाकान्त पाठक

जीवन के शोर में

प्राण-पिकी का का कलरव डूबा अब जीवन के शोर में ।
हिय के हँसते आँसू सूखे इन नयनों की कोर में ।
मानव ने जब आँखें खोलीं मन के स्थिर विस्तार में
उसे पराया कहीं न दीखा भूमा की रस-धार में
धरती अपनी, नभ भी अपना, जग जगता था प्यार में
हवा रोशनी–पानी समरस रहे चढ़ाव-उतार में
सात समुद्रोंवाली पृथ्वी तुलती स्नेह-निहोर में ।
मानव ने जब आँखें मूँदीं मन के अस्थिर देश में
बादल छाये काले-काले मतलब के आ-वेश मे
अपना गया पराया आया, व्यथा-कथा के श्लेष में
प्यास कंठ में, पानी नभ में प्यार पला विद्वेष में
हिममयी गई हो मानवता मन की मुँदी मरोर में ।
मानव की जब आँखें चमकीं बौद्धिक चरम विकास में
नव-नव छन्द बने करनी के कथनी के मधुमास में
बल-वैभव के गढ़ पर ऊगे कला-कलश अवकाश में
दुनिया सिमटी, मन भी सिकुड़ा, बँधा अहम के पाश में
दूर हटा मानव से मानव, झरा हृदय झकझोर में
मानव की अब आँखें झपकीं टेढ़ी-मेढ़ी चाल में–
विश्व-प्रेम के मधु सपनों को रखकर भाल विशाल में
खिल यंत्रों में झिल तन्त्रों में, दलित दलों के ख्याल में
तड़प तड़ित-सा-दमका-खोया, जल व्यवसायिक ज्वाल में
द्वन्द्वमयी आकृतियाँ झपटीं युग की नई हिलोर में,
बदले मनोवृत्ति के कपड़े भय के भटके भोर में।
प्राण-पिकी का कलरव डूबा अब जीवन के शोर में ।

शान्ति सिहल

गीत

अंतर की अपूर्ण साधों को चिर अपूर्णता का वर देकर
क्या तुमने कुछ भूल न की है ?
रोते देखा मैंने अंबर, फटती देखी भू की छाती,
केवल एक व्यथा मानव की, जग की आँखों से कतराती,
तुम्हीं बताओ अबल व्यथा को चिर लज्जा का भार सौंपकर
क्या तुमने कुछ भूल न की है ?
लज्जा-नत ये नयन कि जिनमें विषम वेदना नहीं समाती।
जीवन की परिभाषा जिनमें शतशत रूप लिए अकुलाती।
भू, नभ की संपूर्ण कथा को केवल करुणा का स्वर देकर
क्या तुमने कुछ भूल न की है ?
अंतर का उल्लास बदल जाता है फ़ीकी मुस्कानों में,
तिनके से विश्वास बिखर कर रह जाते हैं तूफानों में,
भ्रमित पथिक से मन-पक्षी को सीमा-हीन मार्ग में तज कर
क्या तुमने कुछ भूल न की है ?
कहने को तो स्वयं रहा है मानव अपना भाग्य विधाता !
क़िन्तु साथ ही भावी के भी साथ रहा है इसका नाता !
शाश्वत प्यास सौंप प्राणों को जीवन को खारा सागर कर
क्या तुमने कुछ भूल न की है ?

●●

नन्द चतुर्वेदी

पृथ्वी और बादल

खिल रही है धूप वर्षा के गगन में
और बादन माँगते अन्तिम विदा हैं।
तरु-शिखर पर आज विस्तृत वाष्प के कुछ कण
सजल हैं
बह रही पूरब दिशा से पवन चंचल
और,
पर्वत का शिखर आर्द्रित नयन से

सांझ को घेरे हुए
रंगीन मेघों का
सरल, सभार नत—सा मौन देखे जा रहा है ।
आज कुछ बेहोश सा स्वर घूमता है चातकी का
और, वे सतरंग सुर-धनु की
विलक्षण भंगिमायें
एक सूनी सी उदासी में सिमटकर
दूर जाने कौन स्वप्नावृत गगन की
नीलिमा में मिल रही है ।
आज बादल माँगते अंतिम विदा हैं;
और पृथ्वी की सजल दुख-भार से पलकें झुकी हैं ।
आज अधरों पर किसी का गीत मधुमय गुँजरित है ।
दूर पर्वत पार उड़ता जा रहा है मेघ का दल
और धरती डूबती ही जा रही है
एक ऐसे अर्थ के अस्तित्व में
जो कि कल ही मेघ ने उसको दिया है ।
उर्वरा है भूमि सुख-दुख सब सहेगी
किन्तु इस क्षण एक अनजाना विवश निरुपाय
जैसे दर्द छाये जा रहा है
और बादल माँगते अंतिम विदा हैं ।

राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह

गीत

नव युग का निर्माण करो हे !
रूढ़ि-निशा-तम दिशि-दिशि छाया,
गहन अंध-विश्वास बिछाया,
पथ भूले जन, ध्येय भुलाया,
स्वर्णिम दिव्य विहान करो हे,
नव युग का निर्माण करो हे !
जगे प्राण, नव गीत जगाओ,
जन-जन में नव-प्रीत जगाओ,
नव तूली से नभ रँग जाओ,
नव रवि-शशि-आह्वान करो हे,
नव युग का निर्माण करो हे !
नव पराग, नव-रस सरसाओ,
नव सर में सरसिज विकसाओ,
कुन्ज-कुन्ज में भ्रमर जगाओ,
गुञ्ज-गुञ्ज में प्राण भरो हे,
नव युग का निर्माण करो हे !

मृण-मृण में नव-शक्ति जगाओ,
तृण-तृण में नव बल बिखराओ,
सुप्त बीज को सजग बनाओ,
प्रकृति-नटी में तान भरो हे,
नव युग का निर्माण करो हे !
भू-मंडल को एक करो हे,
विश्व-प्रेम-अभिषेक करो हे,
मन मानव का नेक करो हे,
उच्चादर्शोंद्गान करो हे,
नव-युग का निर्माण करो हे !

असमर्थ

खेल न खेल और तू ऐसे,
सखे !आज तक रहा खेलता
सँग तेरे में जैसे-तैसे !
तू समर्थ है निपुण खिलाड़ी,
मैं असमर्थ, अतीव अनाड़ी,
तेरे इस क्रीड़ा-कौतुक में
संग-साथ दूँ कैसे ?
खेल न खेल और तू ऐसे !
तू असीम—मैं सीमाओं में
बंधा रात-दिन भव-भावों में,
तू निर्भय, मैं काँप रहा हूँ
देख, हार के भय से,
खेल न खेल और तू ऐसे !
अब तू मुझे छोड़ दे प्यारे,
विदा माँगता पाणि-पसारे,
दृष्टा ही बन कर देखूँ मैं
तेरे खेल, अभय-से,
खेल न खेल और तू ऐसे !

●●

देवेन्द्र सत्यार्थी

एक मुलाकात की वर्षगाँठ

केक का टुकड़ा नहीं थी वह, न कूजे से झरी मिस्री-डली,
न मधु का घूंट थी, कटोरी दूध से मुंह-मुंहभरी,
न थी वह सन्तरे की फांक रस के ज़ोर से छलकी हुई,
एक औरत—हूर सी, मासूम सी,
आज मुड़-मुड़ याद आ रही।
सिनिमा-घर के सामने पहली हमारी मुलाकात,
यों लगा कि फ़िल्म के पर्दे से उठकर आ गई
हीर वारिस शाह की।
आँख सीपियों मे कोई ढरकता इकरार,
ओंठ पातों में खिली फ़रियाद की कली,
मीलों लम्बे समय को कतरन कोई सुहासिनी,
या गगन-रेखा को छूती मुक्त पंखिनी घुघुती,

उभरती ज्यों शहर के आकाश पर
लाल सुर्ख़ी आज के अख़बार की।
रेडियो से आ रही वागेश्वरी,
घन्टी पहली पहले-पहले फोन की
दूर से आई हुई
चिर कँवारे की तरफ़ से
चिर कँवारी के लिए।
मधुकोष तरु फुनगी पै दूर—बहुत दूर,
गमले की खिली नरगिस—पास, बहुत पास,
किसी शालामार की सैर की हो तरसती।
है मुझे विश्वास कि औरत का प्यार
इस तरह नहीं कि ज्यों रावी की धार
बह रही, आती नहीं मुड़कर कभी।
है मुझे विश्वास औरत की नज़र
इस तरह नहीं कि ज्यों जही कोई
मुस्करा के मीच ले पलकें तुरत ही।
है मुझे विश्वास कि औरत की याद
इस तरह नहीं कि जैसे रेडियो-तरंग
एक बार घूमकर लौटती नहीं!
है मुझे विश्वास औरत की कोई मुस्कान
होती नहीं कभी ईथर में विलीयमान।
है मुझे विश्वास छाया चाँद-रात की
बार बार याद में बँधी सी लौटती
चूमने औ' गले लगने की नशीली साध में
धूल से भरी को बार बार ढूँढ़ती।
है मुझे विश्वास : मुलाकात वह अमर
है मुझे विश्वास : इसीलिए तो उद्विग्न हूँ।
दूर, बहुत दूर, दो देशों का फ़ासला!
दूर, बहुत दूर, दो धर्मों का फ़ासला!
दूर अपनी घर गृहस्थी में फँसी वह परेशान!
याद आ रही आज,
उस हूर की, उस परी की, याद आ रही है आज!
उसी मुलाकात की है वर्ष-गाँठ आज!

नलिन

बीत गये दिन

नव प्रवाल-सी शाम छलकती नीलम-घाटी की प्याली से ।
गिरा—वह गिरा अरुण पका नभ की डाली से ।
झिलमिल रेशम-सा झीन स्रोत भरमाता-सा,
ठोकर खाता टकराता-सा,
कुछ गाता-सा अस्फुट सरगम ।
टालें टलमल—
नभ की छाती पर खिचती शब्द-लकीर विरल ।
घाटी के वाम किनारे सन्ध्या-सुरा पी रहा प्यासा तम ।
नभ-शोभी हेम-सुमन-पिंगल,
लो, सहसा पर्वत-हिम-कंधों से गया फिसल ।
तरल मोम-सा गया पिघल गल,
स्वप्न-सजीला, आह आज भी दिवस गया ढल ।
आह आज भी खाली आंचल,
केवल दो सांसों की माया—
यह अभिलाषी 'आज' बन गया पछताता 'कल' ।
रूप की अमिटि निरंकुश प्यास,
आज भी सो जायेगी रो-रो विफल उदास ।
आह क्या तुम न मिलोगी—प्राण ?
चपल जर्जर जीवन की—आस–
बांध रख सकते केवल तव कोमल भुजपाश ।
चरण क्षत, साहस-गत मन-प्राण,
कुसुम-कोमल-केशर बन जायें—
तुम्हारा चरण-परस पाकर तीखे पाषाण ।
सामने मंजिल अगम असीम, पंथ अनजान ।
कहीं तुम इस घाटी के पार,
प्रिये करती होगी संगीत-सुगंधि विहार ।
सुमन-मद पूनम गदगद पुलकित कुञ्ज-कुटीर,
किरण कम्पित प्रतिहार समीर ।
गूंथती पारिजात के हार–

तुम्हारी पंखुरियों-सी अंगुलियाँ सुकुमार।
सरल मन को निश्चल विश्वास,
कहीं भूधर की पिछली ओर—
तुम्हारा स्वर्ण-रजत आलोक अधीर निवास।
चरण कर इस घाटी को पार,
विकल बाहें आलिंगन हेतु पसार,
प्राण, तुम चपल वासना-सी उद्दाम अधीर,
पगों में गीत, साँस में छन्द
चली आओगी सहसा विस्मय-सी अनजान।
बुदुर-बिल्लो-पाइन झुरमुट को चीर।
आज भी बीत गया दिन,
उमड़ा आता अंधकार का ज्वार,
निगल जायेगा पल में मुझे दानवाकार।
शीघ्र आ मुझे बचा लो प्राण,
क्षिप्र कस लो अपनी मृदु बाहों में सुकुमार !
चली आओ, कर इस घाटी को पार !

रामकृष्ण श्रीवास्तव

कलम के टुकड़े

हे कवि गुरु वाल्मीकि तुम जहाँ कहीं भी हो,
लो कलम कि इसमें अपनी करुण कथा भर दो !
इस धरती पर आज भी क्रौंचवध होता है—
लो हृदय कि इसमें अपनी मर्म-व्यथा भर दो !

हे कवियों के कवि कालिदास हो जहाँ कहीं—
फिर कलम पकड़ना आकर हमें सिखा जाओ,
नभ के दृग से फिर छलक उठो हे मेघदूत—
फिर किसी विरहणी का संदेश सुना जाओ !

संगीत काव्य के युगसृष्टा हे सूरदास,
लो कलम कि इसमें मंत्रमुग्ध संगीत भरो !
माँ की मिसरी ममता, बालक का माखन मन,
वह भंवरगीतवाली राधा की प्रीत भरो !

हे मीरा मा ! तुम अपनी चरण धूलि दे दो,
यह कलम हमारी नाच उठे जिसको छूकर
हँसते-हँसते विष का प्याला पीने वाले—
वे भजन तुम्हारे अबतक जिन्दा हैं भूपर !

हे तुलसी धर्म प्राण कविता के कल्पवृक्ष
शरणागत है यह कलम कि इसमें भक्ति भरो,
हम जीत सकें सोने के मृग की माया को
लो कलम कि इसमें रामबाण की शक्ति भरो!

दो टूक बात के धनी अरे फक्कड़ कबीर
लो कलम कि इस पर रंग चढ़ा दो मस्ती का!
जो भटक रहे हैं मन्दिर-मस्जिद में उनको
रास्ता दिखा दो इंसानों की बस्ती का !

हैं कहाँ कलम के धनी आज इस दुनिया में
जिसको देखो वह कलम बेचता फिरता है,
जब कलम गुलामी की सूली पर चढ़ती है—
आज़ादी की आँखों से लोहू गिरता है !

यह कलम नहीं, इज़्ज़त है बड़े बुज़ुर्गों की
इसकी रक्षा करना कर्तव्य हमारा है—
यह कलम नहीं, वाणी है भारत माता की
इसका हर टुकड़ा हमे प्राण से प्यारा है !

जो लिखा आज तक कलम तोड़नेवालों ने
वह पढ़ते-पढ़ते हमने कलम ऊठाई है,
तू बनी टूट जाने को मत रुकना-झुकना
ऐ कलम लिखे जा तुझको रामदुहाई है !

ऐ सोनेवालो, जाग उठो अब देर न हो
जिन्दा रहने के लिए हमें मरना होगा,
मर नहीं गये हम जिन्दा हैं इस दुनिया में
हमको अपना अस्तित्व सिद्ध करना होगा!

जीने को वैसे जीती हैं मक्खियाँ यहाँ
कल्पना जिन्दगीकी यह अशिव-असुन्दर है,

हम जिन्दा हैं यह सच है लेकिन दुनिया में
बेमतलब की जिन्दगी मौत से बदतर है !

जीना है हम सबको, मुझको भी, तुमको भी
तो आओ जिलकर इंसानों की तरह जियें—
दुनिया के सिर पर मौत अगर मंडराती हो
तब भी न मरें हम बलिदानों की तारह जियें !

हे कवियों के राजा रवीन्द्र हो जहाँ कहीं,
लो कलम कि इसमें चिर यौवन की प्यास भरो !
हम जीत सकें मृत्यु को तुम्हारी तरह यहाँ
स्वर्णिम प्रकाश से आत्मा का आकाश भरो !

हिन्दी-गंगा के भागीरथ हे भारतेन्दु,
हम बेज़बान हैं हमें बोलना सिखला दो—
जो अंग्रेजी के अंध भक्त हो गये उन्हें,
है कहाँ मातृभाषा का मन्दिर दिखला दो !

हे श्रद्धा के सुत मानव कवि जयशंकर जी
लो कलम इसे अपने आंसू से नहला दो,
मिल जाय बुद्धिको हृदय, हृदय को बुद्धि मिले
श्रद्धा माता को घायल मनु तक पहुँचा दो !

नरकाव्य प्रणेता अपराजेय निराला जी
तुम जिन्दा महाकाव्य हो इसमें क्या शक है,
आशीर्वाद दो हमें अभय के छन्दों का
यह कलम तुम्हारे चरणों में नतमस्तक है!

जो कलम सरीखे टूट गये पर झुके नहीं
उनके आगे यह दुनिया शीश झुकाती है,
जो कलम किसी कीमत पर बेची नहीं गई
वह तो मशाल की तरह उठाई जाती है !

यह कलम वही जिसने गीता के श्लोक लिखे,
द्रौपदी सती की जिसने लाज बचाई है—
वह भटक रही है आज अंधेरी गलियों में
जो दुनिया को रास्ता दिखाती आई है !

राजेन्द्र यादव

घिर आई रे बदरिया सावन की

पुलका मेरा हृदय, सावनी-बदली झुक आई है !
तप-तप कर धरती की आशा सिन्धु खींच कर लाई
मेरे मन का कालिदास फैला पंखों को नाचा
मुग्ध चातकी-सा यौवन का वैभव देख रहा हूँ
सुनसान बौर पर झूला डाले कजली झुक आई है !
मन की धरती पर बूँद बूँद फिरकी-सी नाच रही है
बिजली की छुरियों से चीरे कौन हिया देता है
खुली आँख-सी खिड़की पर लहराती चिक बौछारी
पुरवइया में सिहर याद कुछ पिछली झुक आई है।
सुरमई चीर पर इन्द्रधनुष की गोट उठा हौले से—
किरनों की स्वर्णिम उँगली से,
टुक झलक दिखा चन्दा की
साँसें कानों में गमक रहीं,
फैली अलकों की नागन
कन्धे पर धर चिबुक,
कौन यह पगली झुक आई है ?

एक क्षण

आज तेरी गोद में यह रात शायद बीत जाए !
देख लथपथ-सा शिथिल श्लथ—
शीत जल से काँपता तन।
आ रहा हूँ ठेलता भीषण—
प्रलय संघर्ष के क्षण।
झाँक ले इस कक्ष से कैसा—
प्रभंजन घोर वर्षा।
इस अँधेरे में लगा था—
एक पल को भार जीवन।
यह विकट अभिमान मेरा
भय बना झकझोरता है !
दे सरस वरदान यह भय कण्ठ में बन गीत जाए।

पृथुल मांसल गोद में सिर
श्रौर यह संसार सुन्दर।
प्रणय का वात्सल्य मुद्रित–
खिल रहा सस्मित कलाधर।
थपकियाँ देकर सुलादे
सच सुमुखि मैं थक गया हूँ!
हूँ तुझे आश्वस्त करता
मैं चला बन मूक पत्थर!
तप्त चुम्बन एक केवल
झुक इधर कर अधर अपने
श्रान्त पत्थर का हृदय पिघले कि बन नवनीत जाए।
कल उठा देना मुझे तुम
जब दिवस का श्वास जागे!
पंथ है, चलना मुझे–
क्या तुम चलोगी त्रास-त्यागे!
खैर छोड़ो बात कल की
सो रहा विश्वास भरकर
स्नेह की इस अरुण लौ में
नव उषा का हास जागे!
स्वर्ण सपनों में विहँसती
आज की वह नींद लेकर।
कल चुनौती है नियति को, हार लाए, जीत लाए!

रामानन्द 'दोषी'

गीत

आज बीच मँझधार खड़ा मैं सोच रहा हूँ––वह भी सच
था, यह भी सच है।

एक रोज मेरे आँगन में पर फैलाए
सपनों के कलहंस कहीं से तिरते आए
मैंने अंतर का सब नेह उंड़ेला उन पर
लेकिन जब छूना चाहा वे हाथ न आए

मेरी पीड़ा ने मेरा अंतर मथ डाला
और मिला चलने को पथ ये काँटोंवाला
पाँवों की काँटों से लेकिन प्रीत हुई जब
मेरी बाधा ही मेरा पथ-गीत हुई जब

तब फिर मुझको छलने आये स्वप्न सहज सुकुमार
खड़ा मैं सोच रहा हूँ—वह भी सच था, यह भी सच है।

शायद तुमको याद न होगी बीते कल की
थी मेरी हर साँस टेर चातक घायल की
नवधा भक्ति-भरी मेरे प्राणों की गागर
शत-शत धाराओं में इन चरणों पर ढलकी

लेकिन तुमने एक बार भी अपने कर से
मेरी श्रद्धा के प्रसून के गाल न परसे
आखिर मैंने सारा विष पी अपने मन में
सोच लिया—यह भी होना था इस जीवन में

वही मगर तुम आज खोजते आए मेरा द्वार
खड़ा मैं सोच रहा हूँ—वह भी सच था, यह भी सच है।

नौका ने उत्ताल तरंगों से घबराकर
लाख-लाख तट से विनती की हा-हा खाकर
लेकिन तट ने बार-बार उसको ठुकराया
कोटि-कोटि व्यंग्यों की भाषा में मुसकाकर

जब कोई बे-आस-सहारा हो जाता है
संघर्षों से लड़ना भी आ ही जाता है
लहरों ने आखिर नौका को गोद उठाया
भँवरों ने स्वागत में मंगल-गान सुनाया

और मिलन आलिंगन आतुर है हर कूल-किनार
खड़ा मैं सोच रहा हूँ—वह भी सच था, यह भी सच है।

इस पथ के हर राही का विश्वास अलग है
सब का अपना प्याला अपनी प्यास अलग है
जीवन के चौराहे खंडहर पर मिलते हैं
पतझर सबका एक महज मधुमास अलग है

यों तो इस अम्बर से अविरल मधु झरता है
लेकिन प्याला किसी किसी का ही भरता है
मेरा पूर्ण चषक पतझारों ने उलटाया
आखिर मैंने अपनी तृष्णा को समझाया

आज मगर मधु-भीगे-भीगे हो आए पतझार
खड़ा मैं सोच रहा हूँ—वह भी सच था, यह भी सच है।

कलियों का अपने ही दिल पर राज न होता
केवल भूत-भविष्यत् होता, आज न होता
सच कहता हूँ बहुत ठोकरें खाती दुनिया
अगर प्यार का रूप कहीं मुहताज न होता

उसी प्यार को लेकिन गुंजलिका में कसकर
उस दिन रूप हँसा था भोलेपन से डसकर
दबी-दबी आहों की तब जुड़ आई लड़ियां
छन्द-सूत्र में पिरीं, बनीं गीतों की कड़ियाँ

रूप उन्हीं गीतों का बनकर आया पहरेदार
खड़ा मैं सोच रहा हूँ—वह भी सच था, यह भी सच है।

●●

रामदरश मिश्र

मौसम बदला है

मौसम बदला है
लगता है मौसम बदला है
तभी तो घरों की दीवारों के भीतर से
बाहर कढ़ने को पग बार-बार हो रहे
तभी तो डरे प्राणों के सहमे गीत
बन्द ओठों के दरवाजे
तोड़-तोड़ देने को अँगड़ाई ले रहे।
मौसम बदला है
ओलों की ठंडी चट्टानें
जिनके नीचे
धरती के फूलों की हँसी दबी सोई थी
टूट रही शीशे सी।
किरणों के हलके से गरम-गरम होने में
कुहरों का मादक तम
जिसकी छाया में
पगडंडी खेतों की
अपने ही पथिकों की आँखों में भरमाई थी
फटता है अजगर से दिन की।
खिलती हिलती साँसों से
मरघट का सन्नाटा छाती में बाँध
जमी थीं बदली की जो
काली-काली छायाएँ

काँप-काँप झरती हैं टूटे पक्षी-पर सी
हफ्तों के बाद
सड़क इतनी आबाद हुई है
हँस-हँस के हवा गले मिलती है
खुली साँझ के दिल की धड़कन पर
बजते हैं पाँव।
मुक्त आँखों में
तैरतीं बिजलियों की धाराएँ
हँस-हँस के हवा गले मिलती है
दृग-दृग से मिलते हैं
मन-मन से मिलते हैं
मन के सारे दुराव
आँखों के भेद-भाव
को हँसनी हवा गुदगुदा करके
मुक्त खिलखिलाहट में लोटपोट कर देती
झर झर झर
पेड़ झाड़ते मन की सिकुड़न को
जर्जर पत्ते तन की ऐंठन से टूटते
डालों की भीतर से
प्राणों के स्वर जैसे
कोमल गंधों के दल के दल हैं फूटते।
महकते गुलाबों की हँसी
झील कमलों का
पूनम के सागर के ज्वार
उठन लहरों की
पाँवों की ध्वनि की बारात ले
बिजलियों की आँखों की छाया में
सड़क बढ़ी जा रही
किनारे पर गंगा के।
मौसम बदला है
गंगा के तट पर गूँजी फिर से
झाँझ औ' मृदंग संग
चंडिदास की कविता
झनन झनन राधा के नूपुर
वंशी मुखरित नटवर की—
गंगा के उर-उर में गूँजी
नावों से उठती
विरह फगुवा की अल्हड़ तानें
मौसम बदला है।

●●

राजीव सक्सेना

मुक्ति-गीत

ओ मुक्ति !
मैं हूँ कि आलिंगन-आतुर बाँहे फैलाये हुए,
तेरे ही पीछे बावले बैशाख-समीरण-सा,
घूम रहा हूँ जाने किस पल से,
समय की सीमा कुछ याद नहीं।
मेरा एक डग आह सदियाँ कहा जाता है,
मेरा हर अगला क़दम—नये युग का प्रवेश है,
मेरी पेशानी के पसीने की बूँदों में कितने चाँद और सूरज

खण्ड-खण्ड होकर घुल मिल गये रज-कण में;
हाँ, मेरी भौंहों के ऊपर काली घटाएँ भी छायीं,
जिनकी गूँज आज इतिहास कहलाती है,
हाँ, मेरी साँसों में उलझ कभी गीतों की कड़ियाँ झनझना
उठीं--
और हृदय का राग गल महाकाव्यों में ढल गया,
गुफाओं से निकल मैंने ही गगनचुम्बी इमारतें उठायीं हैं,
देखो ना, मंजिल के हर मील पर, ये सारे चरण-चिह्न
मेरी ही यात्रा की गाथा आज गा रहे !
ओ मुक्ति !
हर एक पग एक कड़ी टूटी है
पर अगले ही चरण नये बंधन ने पंथ रोक डाला है,
अनवरत संघर्ष जीवन की गति मेरी !

(२)

हाँ, एक दिन वह भी था
द्विपद जन्तु के रूप में 'मैं' ने जब जन्म लिया !
मैं था उन्मुक्त, किन्तु,
यह भोला-सा आसमान ऊपर गिरा पड़ता था,
यह सुकुमारि धरती मुँह बायें निगलने को थी,
पानी की नादान लहरों में दिल डूबा-सा जाता था,
पेड़ों के मासूम पत्तों में जाने किसकी भूखी निगाहें छिपी थीं,
फूलों की लहकती महक साँसों में सँपोलों सी सरकती थी,
चारों ओर से ये सरला प्रकृति महाकाल-सी खड़ी थी;
तभी मैंने सामाजिक बन्धन अंगीकार किए
और प्रकृति-भय से विमुक्त हुआ !
मेरी सामाजिकता एक बन्धन है,
मुक्ति भी !

(३)

प्रकृति के विरुद्ध युद्ध करने के हेतु--
मैंने सामाजिक बन्धन का अस्त्र लिया,
पर संगठित मनुष्यता की शक्ति है इतनी कि
कुछ लोग प्रकृति से रक्षा का भार-साले, दूसरे मनुष्यों को

स्वार्थ-जालमें फँसाने लगे !
मैं हूँ कि आँखों के सामने देखा है,
सरे बाज़ार आदमी-आदमी को बेचता था,
बैलों की जगह पर खेतों में इन्सान जोता जाता था,
और उधर क़बीलों के सरदार मूछों पर ताव दिया करते थे !
हाँ, मुझ से पूछो कि किस तरह,
आधे गुलाम, कृश कृषकों के सीनों पर,
हीरों के भारी सिंहासन चमचमाते थे,
और जहाँ ऐंठे हुए बैठे सामंत और सम्राट,
नंगी तलवारों के साये में,
आध्यात्मिक शान्ति का उपदेश दिया करते थे,
उनकी जिह्वा पर ईश्वर के वचन थे !
आओ, मैं बताऊँगा कि किस तरह
गोरे पूँजीपति दुनिया को मंडी समझते थे,
और हर चीज़ भाव-ताव से चलाते थे,
काली जातियों को 'सभ्य' करने के लिए वे काले साम्राज्योंका
'बोझा' सँभाले थे,
दुनिया में शान्ति की स्थापना का लक्ष्य ले, वे दोनों
पक्षों को युद्ध के अस्त्र बेचा करते थे,
जनता के खून-खराबे से वे 'निर्लिप्त' थे !
ओ मेरी मुक्ति !
आ देख, मेरे सीने पर कितने ही घाव हैं,
यहाँ क़बीलों के तीर दर्द बनकर समा गये,
यहाँ चंगेज़ों औ' तैमूर के तेग़ों की धार कुन्द हुई,
यहाँ चक्रवर्तियों के घोड़े, मनुष्यता को रौंदते चले गये,
यहाँ डायरों की गोलियों में कलियाँ भी भुन गयीं,
यहाँ अमलनेरों में मनुष्य के खून से होलियाँ खेली गयीं,
मेरे सीने से खून की बूंदे भी बहुत गिरीं, और सभी जगह
अमर शहादत के स्मारक उठ खड़े हुए,
मगर मैं आगे बढ़ता ही गया, कहीं रुका नहीं,
ज़ुल्मों के दुर्ग बालू के ढेरों से ढह गये ।

(४)

ओ मेरी मुक्ति !
आज तो और भी महान विश्वास के पंख लगा
मेरे पैर उठते हैं——बढ़ते हैं,
इतिहास के अनुभव से गुज़र कर मैंने देख समझ लिया,
आगे समता के उपवन हैं,
हवा के झोंके आज उधर से सुगंध के संदेश लिए आ रहे,
आज सभी मार्ग उसी ओर बढ़े जाते हैं,
मैं हूँ कि इसीलिए आज भी आलिंगन-आतुर बाँहे फैलाये हुए,
तेरे ही पीछे बावले वैशाख-समीरण-सा घूम रहा !

●●

भवानीप्रसाद मिश्र

छाँह चाहिए !

तुमने कैसे समझ लिया था।
मैं पीछे हूँ;
एकबार मुड़कर क्यों देखा ?
तुमने कैसे समझ लिया था
एक बार से अधिक देखना
नहीं जरूरी !
सदा खींचती मुझे रहेगी–
वह चितवन वह रेखा ?
कितने दिन हो गये
निरंतर चलते चलते,
मुझको, तुमको भी;
पथ पर तुम रुक जाओ,
दूरी कम हो !
या कि घूम कर ऐक बार फिर देखो
जलते पथ पर छाँह चाहिए,
चितवन-पवन चाहिये,
तेरा बाँह चाहिए !

●●

ओंकारनाथ श्रीवास्तव

पहाड़ी यात्रा

आगे बढ़ना ऊपर चढ़ना समानार्थ है
पीछे फिरना, नीचे गिरना एक बात है;
यह पहाड़ है
यहाँ अर्थ ही आगे बढ़ने का ऊपर चढ़नाहै।
हम इस पर चढ़ते जाते हैं,
हम इसके ऊपर प्रतिपल चढ़ते जाते हैं
ऊपर से बर्फीले झोंके आते हैं
हम सहम ठिठक कर रह जाते हैं
कभी-कभी कुछ कह जाते हैं
पर ज्यादातर सह जाते हैं
झोंके खाकर सहमे ठिठके रह जाते हैं।
रह जाते हैं——

इसीलिए तो बार-बार आगे बढ़ते हैं
इस दुर्गम के गौरव का मर्दन करते हैं।
पद-चिह्नों में अपने बीते पल संचित हैं
हम थकते हैं तो छाया में रुक जाते हैं
सुस्ताते हैं
भूल गए कुछ तो
पग दो पग लौट,
लौटकर बीते पल में,
नीचे जाकर
उस भूले को ले आते हैं।
सब कुछ लेकर
यानी मंज़िल को यह अपना सब कुछ देकर
(उस मंज़िल को सब कुछ देकर
जो इस अपनी धरती का सर्वोच्च शिखर है
जिसके ऊपर जो है, वह केवल ऊपर है)
हम भारी भरकम बोझा ढोते
आगे बढ़ते जाते हैं
हम ऊपर चढ़ते जाते हैं।
पदचिह्नों में अपने बीते पल संचित हैं
हम न कभी उनसे वंचित हैं
वे हममें जीवित हैं, हम उनमें जीवित हैं
हम जीवित हैं,
हुआ अभी तक जो,
उससे मिलकर जीवित हैं।
पीछे रह जाने के,
नीचे रह जाने के,
भाव अगर आते हैं
तो हम एक एक झोंके को
सौ-सौ झोंके मान-मान कर सह लेते हैं
मामूली अनुभव को भी उद्गार बनाकर
कह देते हैं सपनों में भी रह लेते हैं।
वे आगामी पल वे जो हम में जीवित हैं
ये हम जो उनमें जीवित हैं,
हम जीवित हैं,
हुआ अनहुआ जो, उससे मिलकर जीवित हैं।
अंकित और अनंकित पदचिह्नों में अपने
ये पथधूल भरे श्रमलीन चरण निश्चित हैं।
हम आगे बढ़ते जाएंगे
हम ऊंचे चढ़ते जाएंगे
पिछड़े रह जाने के भाव कभी आएंगे
तो हम सपने देखेंगे,
उद्गार करेंगे, ज़ोरों से गाएंगे
दुर्दम पिछड़ेपन को हर कोशिश से पार करेंगे।
किंतु कभी हम थक जाएंगे
तो थोड़ा सा रुक भी लेंगे
सुस्ताएंगे।
छायावासी किन्हीं सुरक्षित पदचिह्नों को
और अधिक गहरा कर लेंगे
किसी किसी पल और अधिक रह लेंगे
लौट तनिक रह लेंगे
क्योंकि हमें आगे बढ़ना है,
हमें बहुत सहना है
हमको बहुत बहुत रहना है।

सुरेश अवस्थी

अभिव्यक्ति

अगणित दुख झेले
भाव-प्रजनन के कष्ट सहे,
शब्द का जन्म हुआ,—
एक शब्द—'पीड़ा' का ।
जग का, भाषा का व्यवहार :
एक शब्द का
एक अर्थ से परिणय हुआ ।
(वह दुख जो मैंने पाया
क्या वह व्यर्थ हुआ ?)
शब्द चिर है, ब्रह्म है;
मेरे भाव उसी से प्रादुर्भूत
उसी में समाहित हैं ।
(तब क्या मेरा दुख कुछ न हुआ
दुख की कथा नश्वर है ?)
शब्द की विशाल बाहें
घेरे हैं भावों के क्षितिज-छोर
शब्द के कगार कूल
बाँधें हैं अन्तर का भाव-स्रोत ।
(तब क्या मेरा दुख झूठा है
दुख की अभिव्यक्ति निरी ओछी है,
अशक्त है ?)

× × × ×

भाव और शब्द के बीच खड़ी
दुख की अभिव्यक्ति की कामना
श्वेत प्रस्तर मूर्ति-सी
जैसे किसी पुरालेख की साक्षी हो ।

रमाकान्त श्रीवास्तव

वर्षान्त के बादल

ग्लानि पश्चात्ताप से भर
जा रहे वर्षान्त के बादल ।
वहाँ बरसे
जहाँ तन के बहुत उजले
मगर मन के बहुत काले ।
वहाँ बरसे
जहाँ सीमेन्ट के आँगन,
जहाँ सीमेन्ट की छतें,
जहाँ सीमेन्ट की गलियाँ,
जहाँ सीमेन्ट की ज़ड़ता,
दिलों की नर्म सतहों पर जमी बैठी ।
वहाँ बरसे
जहाँ माटी नहीं मिलती
मगर बिकती ।
अनेकों भाव की माटी,
अनेकों किस्म की माटी,
तालाब की माटी,
नापदान की माटी,
उजड़ते गाँव की माटी,
(उजड़ता इसलिए कि वह बनेगा शहर की
बस्ती,
नई बस्ती)
वहाँ बरसे
जहाँ बरसात के रंगीन मौसम
वासना की प्यास बढ़ती है ।
नहीं बरसे वहाँ पर यह

जहाँ पर माटियाँ अंदर छिपाए बीज बैठी थीं
कि जितने बूँद यह बरसे
नए अँखुए निकल उतने
करें शृङ्गार धरती का,
करे शृङ्गार खेतों का।
नहीं बरसे वहाँ पर यह
जहाँ पर आम की हर डाल से
कजली मुखर होकर
चतुर्दिक गूँजने को बहुत ही बेताब बैठी थी
नहीं बरसे वहाँ पर यह
जहाँ पर बँदियाँ माथे लगाने के लिए
छोटे-बड़े परिवार खेतिहर राह तकते थे।
और अब वह गलतियों पर सोचते-से
बूँदियों के प्रति
असीमित दुःख से मरते हुए-से
ग्लानि पश्चात्ताप से भर
जा रहे वर्षान्त के बादल

●●

सुरेन्द्र तिवारी

इन दिनों पर

यह घायल कर जाने के दिन !
हँस-हँसकर मर जाने के दिन !!

जिसको दर्शन समझा हारा
वह बतला गया अचानक ही
मुसका कर टूटा जो तारा
यह बनकर मिट जाने के दिन !
यह मिटकर मुस्काने के दिन !!

सुन रहा पुरवाई का गीत
गा रही जो धीमे-धीमे
तुम्हारी तरुनाई का गीत
यह गीत नये गाने के दिन !
यह तुमको अपनाने के दिन !!

मुस्काती कलियों से पूछो
जल चुके हजारों फूल जहाँ
उन उजड़ी गलियों से पूछो
यह खिलकर झर जाने के दिन !
यह झर कर खिल जाने के दिन !!

कितने सुन्दर तुम, जाना तब
उस रोज अचानक कहकर कुछ
शरमा कर मुस्काये तुम जब
यह हरदम मुस्काने के दिन !
कुछ कहकर शरमाने के दिन !!

जब से तुम हो मुझको सपना
दुनियाँ भर में ढूँढ़ा मैंने
कोई न मिला मुझको अपना
खुद ही में खो जाने के दिन !
शायद पथ भरमाने के दिन !!

●●

मधुर शास्त्री

गीत

ज़िन्दगी के ही लिए तो गीत गाता हूँ, इस
लिए यह ज़िन्दगी मधुमास है।...
मौत का संकेत किस क्षण में नहीं होता,
दु:ख का सन्देह किस मन में नहीं होता ?
जानकर भी दु:ख मेरे पंथ में आए,
मुस्कुराए प्राण पर जीवन नहीं रोता।
मुस्कुराहट के लिए ही गीत गाता हूँ, इस
लिए मेरे अधर पर हास है।...
मौत से लड़कर यहाँ जीता रहा हूँ मैं,
जानकर भी तो ज़हर पीता रहा हूँ मैं।
मीत मेरा ही कलेजा चीरता आया,
किन्तु बारम्बार ही सीता रहा हूँ मैं।
मीत के ही तो लिए मैं गीत गाता हूँ, इस
लिए वह मीत मेरे पास है।...
छीन लाया चाँद से ऊषा सुराही को।
औ' पिलादी है विकम्पित आज राही को।
रख लिया है सर हथेली पर यहाँ जिसने,
रोक सकता कौन उस लड़ते सिपाही को ?
उस सिपाही के लिए ही गीत गाता हूँ, इस
लिए ही चल रही यह साँस है।...

तुम उसे स्वर दो !

अर्थ को तो शब्द मैंने दे दिया, तुम उसे स्वर दो !
ले हृदय की प्यास जीवन की व्यथा,
है लिखी मैंने चमन की यह कथा,
बाद युग के यह बता पाया तुम्हें—
फूल को तो रूप मैंने दे दिया, तुम सुरभि भर दो !
अश्रु से मेरी कहानी धुल गई,
गाँठ जो भी थी तड़प से खुल गई,
रात ही अब तक लुभा पाई मुझे—
स्वप्न को तो सत्य मैंने दे दिया, तुम अमर कर दो !
मुसकराहट से मिली यह साँस है,
हो रहा मेरे नयन में रास है,
तृप्ति से परिचय हुआ अब तक नहीं—
प्यास को तो प्राण मैंने दे दिया, तुम अधर धर दो—

[आधुनिक कविता में हास्य और व्यंग्य अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व बना रहे हैं। इस काव्य-प्रकार के रूप-निर्माण में अपने-अपने स्तर और अपने-अपने ढंग से हरिशंकर शर्मा, बेढब बनारसी, गोपालप्रसाद व्यास, बेधड़क बनारसी, वंशीधर शुक्ल, रमई काका और केशवचन्द्र वर्मा आदि ने योग दिया है। हास्य-व्यंग्य की प्रस्तुत कविताओं में व्यासजी का व्यंग्य उनके अपने दृष्टिकोण का परिचायक है।]

गोपालप्रसाद व्यास

छेड़ करता हूँ मैं....

(१)

गलत न समझो, मैं कवि हूँ प्रयोग-शील,
खादी में रेशम की गाँठ जोड़ता हूँ मैं।
कल्पना कड़ी से कड़ी, उपमा सड़ी से सड़ी,
मिल जाय पड़ी, उसे नहीं छोड़ता हूँ मैं॥
स्वर को सिकोड़ता, मरोड़ता हूँ मीटर को,
बचना जी, रचना की गति मोड़ता हूँ मैं।
करने को क्रिया-कर्म कविता अभागिनी का,
पेन तोड़ता मैं, दवात फोड़ता हूँ मैं॥

(२)

श्रोता हजार हों कि गिनती के चार हों,
परन्तु मैं सदैव तार-सप्तक में गाता हूँ।
साँस खींच, आँख मीच, जो भी लिख देता उसे,
खुदा की कसम, नई कविता बताता हूँ॥
ज्ञेय को बनाता अज्ञेय, सत्-चित को शून्य,
देखते चलो मैं आग पानी में लगाता हूँ।
अली की कली की बात बहुत दिनों चली,
अमाँ, हिन्दी में देखो छिपकली भी चलाता हूँ॥

(३)

मुझे अक्ल से आँकिये हाफ़—हूँ मैं,
　　　　जरा शक्ल से जाँचिये साफ़ हूँ मैं।
भरा भीतर गूदड़ ही है निरा,
　　　　चढ़ा ऊपर साफ़ गिलाफ़ हूँ मैं॥
अपने मन में बड़ा आप हूँ मैं,
　　　　अपने पुरखों के खिलाफ़ हूँ मैं।
मुझे भेजिए जू में बिलम्ब न कीजिये,
　　　　आदमी क्या हूँ, ज़िराफ़ हूँ मैं॥

(४)

बच्चे शरमाते, बात बकनी बताते जिसे,
　　　　वही वही करतब अधेड़ करता हूँ मैं।
बिना बीज, जल भूमि, पेड़ करता हूँ, और—
　　　　फूंक मार बकरी को भेड़ करता हूँ मैं॥
बिना व्यंग्य अर्थ की उधेड़ करता हूँ, और—
　　　　बिना अर्थ शब्दों की रेड़ करता हूँ मैं।
पिटने का खतरा उठाकर भी कामरेड,
　　　　काँगड़े की छोरियों से छेड़ करता हूँ मैं॥

नागार्जुन

बड़ा साहब

छोटे-छोटे बाल छँटे हैं, चिकनी-मोटी गर्दन
सिर पर हैट, सिगार का धुआँ छूट रहा है छन-छन
बूट-पैंट मानिला शर्ट से ढका हुआ सारा तन
उतरे हैं देवता स्वर्ग से धरती पर अफसर बन !
गांधी-नेहरू से गुंजित है मन-मन्दिर का आँगन
यही चलाते पटना-दिल्ली का हकूमती इंजन।
पहले के आई-सी-एस ठहरे, हो आए हैं लन्दन
पहली को पाते हैं साहब तीन हजारी वेतन।
मुन्सिफ बना दमाद, भतीजे ने पाया प्रोमोशन
बेटे ने पकड़ा दामोदर वैली-कार्पोरेशन

डेरे पर भी फोन लगी है, घंटी बजती टन-टन
स्टेट्समैन गीता है, रामायण इंडियन नेशन।
एस-डी-ओ थे ब्यालिस में, गोली चलवाई दन-दन
अब तो करते रहते निश-दिन नेताओं का कीर्तन।
कुछ इनमें साहित्यिक भी हैं, लिखते हैं अभिनंदन
प्रजा और राजा दोनों के दिल का करते रंजन।
चापलूस करते गंगा की मिट्टी से दंत-मंजन
बदल गया है भीतर-भीतर नित्त नेम का बन्धन।
मुंह पर मलते हैं लॉयल्टी का ही ये गुलरोगन
जैसा मालिक, वैसी सर्विस कैसा बढ़िया स्लोगन।
छोटे छोटे बाल छँटे हैं चिकनी-मोटी गर्दन
उतरे हैं देवता स्वर्ग से धरती पर अफसर बन !

●●

केशवचन्द्र वर्मा

प्रेम-काव्य

उस रात सिनेमा से आकर
कुछ भावुक हो,
जैसे अपने को समझ लिया उस प्रेम–
कथा के 'हीरो' सा !
मैं उन्मन-सा
खोया-खोया
पलकें भारी
रह-रह करता धुक-धुक-सा
रजाई में लेट 'चीप' उपन्यास पढ़ने की-
हाजत
यानी सब लक्षण वही जो कि होते हैं
सिद्ध प्रेमी जन के !
मैं बैठा
(बैठा क्या ढुनँग पड़ी मेरी काया !)
मैं भरमाया-सा शरमाया
कुछ अलसाई सी करवट ले
महाकाव्य की एक भूमिका के स्वर में
धीरे से उनको गोहराया
'रहने भी दो पान-सान यह
आओ, बैठो !
यह देखो दूधिया चांदनी
आज बिखेरी है धरती पर
शुद्ध वनस्पति घी सी जिसमें रंग न अब
तक मिल पाया है;
देख-देख तुमको हँसती है . . .'
कहते-कहते, मेरा गला अचानक ही भर
आया !
प्रेम-काव्य था !
पर वे तो बस काठ सरीखी बैठीं
उन पर नहीं तनिक भी
जादू छाया !!
तब मैंने नम्बर दो मन्तर मारा–

'तुम कितना अच्छा गाती हो !
हर सुबह शाम
हरमुनियाँ ले तुम छत पर घूँघट निकाल
कुछ गाना सा जब गाती हो
तब पास-पड़ोस मुहल्ले वाले
अपनी छत से
कैसी-कैसी नजरोंसे तुमको देखा करते हैं!
(यहाँ मैंने एक गर्म निश्वास भी छोड़ी!)
बहुत 'पापुलर' हो तुम प्यारी
तुम पर वारी
मैं बलिहारी...।'
उनके होठ खुले
मैं जीत गया तब !
मैंने सोचा
आखिर को मैं भी तो कवि हूँ
कवि-स्वर्गिक कल्पनाकार !
जब चाहूँ तो जिसका तैसा मूड बना दूँ!
पर वे केवल इतना बोलीं—
'आप नहीं लाए वह कपड़ा धोने वाला
साबुन !'
फिर इस पर
कोई भलमानुस क्या कह पाता ?
मैं जैसे सचमुच खिसिया कर
आसमान में लगा देखने
अब कि झेंप वाली जमुहाई
मुझको आने लगी बराबर!
करवट लेकर
लेट गया।

× ×

लगा
सामने की इलमारी पर रक्खी
ये पंत निराला
शेली, कीट्स
ये देव बिहारी सभी झूठ हैं !
केवल सच है
वही हमारी कपड़ा धोने वाली टिकिया !

●●

गोपालकृष्ण कौल

कैंचीकट गोंद्पुत्र

(१)

बाजार में हिन्दी के बिगड़े सपूत अब
हाथ की सफाई औ' तमाशा दिखाते हैं।
कैंची है इनकी माँ, गोंद इनके पिता जी,
दूसरों की काट कर अपने चिपकाते हैं।

(२)

काटते जरूर हैं दरजी नहीं है किन्तु,
दफ़्तरी नहीं, लेकिन काम चिपकाने का।
लेखकों की भीड़ में श्रेय सिर्फ इनको है,
प्रतिभा के बिना ही कमाल दिखलाने का।

(३)

छूते नहीं कलम, सम्हाल कर रखते हैं,
कागज का धवल मुख काला बनाते नहीं।
छपते हैं इतना, टाइप घिसे जाते हैं,
लेखनी को लेकिन बिलकुल घिसाते नहीं।

(४)

लेते हैं कम दाम, देते है मक्खन साथ,
होड़ में होता बुरा हाल दूसरों का है,
आर्डर पर करते हैं माल सपलाई यह,
लेबिल इनका किन्तु माल दूसरों का है।

(५)

दृष्टिकोण इनका है, छपने पर एक बार,
जो कुछ निरर्थक है सार्थक बन जाता है,
औ' छापेखाने से रद्दी की दुकान तक,
जो कुछ छपता है जरूर बिक जाता है।

(६)

किन्तु गोंदपुत्र को क्रोध लेखकों पर है,
उनकी रचना का वे लोहा मानते नहीं।
अण्डा रोज देने वाली मुर्गी का हाय,
लेखक-निरामिष कुछ महत्व जानते नहीं।

●●

चिरंजीत

सर्दी आई है !

सुरसा-सी यह रात कि सर्दी आई है !

लम्बी शैतानी अँतड़ी-सी
रात मारवाड़ी पगड़ी-सी,
लम्बी नेता के भाषण-सी,
बंबइया बरसात कि सर्दी आई है !
सुरसा-सी यह रात कि सर्दी आई है !

झंकृत काया, बजे बतीसी,
जीभ जाप करती है 'सी सी'
अरे, ठंड के कीर्तन से तो—
हरि-कीर्तन भी मात कि सर्दी आई है !
सुरसा-सी यह रात कि सर्दी आई है !

रात रुपहली तारों वाली,
चन्द्रमुखी मुग्धा मतवाली,
रूप प्रकृति का लखते छतपर—
लगा नमुनिया हाथ कि सर्दी आई है !
सुरसा-सी यह रात कि सर्दी आई है !

घर में कोट न गर्म रजाई,
नहीं कोयला, हीटर भाई,
आग उगलने वाला कवि भी—
काँप रहा ज्यों पात कि सर्दी आई है !
सुरसा-सी यह रात कि सर्दी आई है !

प्रगतिशील यदि कवि हम होते,
नर्म-गर्म बिस्तर पर सोते,
लगते, ओढ़ दुशाला करते—
फुटपाथों की बात कि सर्दी आई है !
सुरसा-सी यह रात कि सर्दी आई है।

सोच रहा कवि हालावादी,
मिले कहीं से बोतल आधी,
आज न कवि-सम्मेलन कोई,
वर्ना बनती बात कि सर्दी आई है !
सुरसा-सी यह रात कि सर्दी आई है !

सोच रहा कवि छायावादी,
बड़ी भूल की, करी न शादी,
समझ रहा, सपने में घर का—
पक जायेगा भात कि सर्दी आई है !
सुरसा-सी यह रात कि सर्दी आई है !

सर्दी में, प्रेमी कवि कहते,
विरही जन ही रक्षित रहते,
सर्दी में भी विरह ज्वाल से—
भुन जाता है गात कि सर्दी आई है !
सुरसा-सी यह रात कि सर्दी आई है !

अरे, न हम प्रेमी दीवाने,
लिखे पड़े हैं गीत पुराने,
इन्हें जला कर चाय बनायें–
और सेंक लें हाथ कि सर्दी आई है !
सुरसा-सी यह रात कि आई है !

सावधान, सर्दी के कारण,
क्रुद्ध क्षुब्ध है आलोचक-मन,
देखें, किस कवि लेखक पर–
होता सपिल घात कि सर्दी आई है !
सुरसा-सी यह रात कि सर्दी आई है !

विनोद शर्मा

नये सूत्र : एक व्यंग्य

आज की ये जिन्दगी,
धोखा दिखावा
और छलना के सिवा कुछ भी नहीं।
झूठ बोलो !
छिपा रहने दो हृदय का सत्य,
भूल से भी उसे मत खोलो !
और यदि तुम कह गए कुछ सत्य तो
फिर तुम असभ्य,
समाज से अनभिज्ञ,
अनसोशल कहाओगे।
हो भले तुम,
किन्तु, सारी ज़िन्दगी भूखे मरोगे,
जूतियाँ चटखाओगे।
है अभी काफी समय–
यदि चेत जाओ !
क्या सही है इसे छोड़ो !
जिस तरह भी बने
अपने पर मुलम्मे को चढ़ाओ !
ये समय की माँग है
ये नाइन्टी परसैन्ट लोगों के दिमाग़ों का
निचोड़।
बहुत भावुकता सचाई से लिया है काम
अब तक किन्तु उसमें क्या कमाया नाम ?
फिर वो भावना-युग की पुरानी बात थी
जिसकी कहानी मात्र हो तुम।

क्यों अकेले व्यर्थ तुम यूँही बजाते–
पीपणी ये भावना की बेसुरी ?
फेंक दो !
ये आज के इन्सान को डिस्टर्ब करती है,
नहीं क्या जानते तुम,
आदमी अपने प्रगति के मार्ग पर–
कितनी तरक्की कर गया !
वो नया है, अतिनया !
उसका पुराना सभी कुछ तो मर गया।

× × ×

आदमी औरत कि औरत आदमी है।
झूठ सच है, बुरा अच्छा है,
कि हिंसा प्यार से बेहतर कहीं बेहतर।
हृदय की बात कहना मूर्खता है।
रहें भ्रम में लोग,
मत दो भेद अपना !
छलो जितना छल सको संसार को !!
तोड़ दो तुम जहाँ पाओ प्यार के आधार
को !!!
सूत्र हैं ये नये मानव की विकासोन्मुख
अनोखी बुद्धि के
बुद्धिवादी नरो !
इन पर अमल करने का अभी व्रत लो !
कि ये भी आर्ट है।
प्रैक्टिल बनने सुधरने का—
अनूठा चार्ट है।

[हिन्दी-क्षेत्र की जनपदीय बोलियों में कविता के नए रूप का विकास हो रहा है। हम चाहते थे कि इन सभी बोलियों की वर्तमान कविता के प्रतिनिधि नमूने यहां देते; लेकिन अवधी, राजस्थानी और पंजाबी की कुछ कविताएँ ही दे पा रहे हैं। अगले भाग में मूल्यांकन-सहित जनपदीय बोलियों की अधिक कविताएं प्रस्तुत की जाएंगी।]

अवधी

रमई काका

गाँव कै धरती

गाँव छोड़ि कै चल्यो नगर का,
धरती तुमका टेरि रही है।
बिसरि न जायो भुइयाँ देवी, जहिकै धूरि अंग लपिटायो,
खेलि कूदि कै कुलकि कुलकि कै, जहि की गोदी मोद बढ़ायो।
पुरिखन के ई ख्यात न बिसरयो, अन्नदेव कै दीरघ दाया,
जिनका रकतु नसन माँ व्यापा, रिनियाँ जिनकै कंचन काया।
जिनके मधुरे फल खायो है, बैठि सीतली छाहँ जुड़ायो,
ब्यार आँव अंबरूद अंबिलिया, कइथा जमुनी बिसरि न जायो।
अँगवा कै निंबिया तुम तन, उचकि उचकि कै हेरि रही है।
धरती तुमका टेरि रही है।

बिसरयो ना बजरङ्गबली का, भैरव बाबा सितला मइया,
जिनकै मान मानता कीन्हें, तुम जनम्यो है कुवँर कन्हइया।
बिसरयो ना चउरी सत्तिन कै, जो पति पूजति वनि कै गउरा,
जहाँ पंचपरमेसुर बइठैं बिसरि न जायो गांधी चउरा।
तुलसी गाछ न बिसरयो, जहिकी लिह्यो आरती दूनौं बेरिया,
बिसरि न जायो कुवाँ मिठउवा, जहिकी घूम्यो सात भँवरिया।
गावँ जग्य का कुण्डु न भूल्यो, जहि पर प्रीति घनेरि रही है।
धरती तुमका टेरि रही है।

तुम बाट छहँगरी झाँड़िन के, बिसरयो ना नाचु पुछारी का ,
लहे लहे धान की म्याड़न पर, सारस की जोड़ी न्यारी का ।
लपलपे घाम हन्ना कूदति, झुपझुपे बिरिछ पंछी कुलकनि ,
गहगहे ताल कै कवँल खिलनि, झुम्फन-झुम्फन भवँरा गुंजनि ।
महमही गमक माँ बउरन की, कुहकुही कोयलिया कै बोली ,
चुचुहात सहत के छत्तन पर, भनभनी ममाखिन कै टोली ।
दमकनी गुजुनुवाँ नदी तीर नित साँझ आरती फेरि रही है ।
धरती तुमका टेरि रही है ।

राजस्थानी

रेवतदान कल्पित

बिरखा बीनणी

लूम झूम मदमाती मन बिलमाती
सौ बल खाती गीत प्रीतरा गाती
हँसती आवै बिरखा बीनणी . .

चौमासे में चँवरी चढ़नै सांबण पूगी सासरे
भरे भादवै ढली जवांनी आधी रहगी आसरे
मन रो भेद लुकाती नैणां आँसूड़ा ढलकातो
रिमझिम आवै बिरखा बीनणी . . .

ठुमक ठुमक पग धरती, नखरो करती,
हिवड़ो हरती, बींद पगलिया भरती
छमछम आवै बिरखा बीनणी. .

तीतर बरणी चूंदड़ी नै काजलिया री कोर
प्रेम डोर में बँधती आवै रूपाली गणगोर
झूठी प्रीति जताती झीणै घूँघट में शरमातो
ठगती आवै बिरखा बीनणी. .

घिर घिर घूमर रमती रुकती थमती
बीज चमकती झब झब पलका करती
भंवती आवै बिरखा बीनणी . . .

आ परदेसण पांवणी जी पुल देखे नीं वेला
अलो जा रे आंगणा में करै मना रा मेला
भिरमिर गीत सुणाती भोले मनड़े ने भरमाती
छलती आवै बिरखा बीनणी. .

लूंब भूंब मदमाती, मन बिलमाती
गीत प्रीतरा गाती हँसती आवै बिरखा बीनणी।

राजस्थानी

गजानन वर्मा

बाजरे की रोटी

बाजरै की रोटी पोई,
फोफलिया[1] को साग जी।
जीमण बैठी गोरड़ी[2] जद
बोलण लाग्यो काग[3] जी।
झुक-झुक झोला[4] खावै म्हारो
खेत खड़्यो हरियालो जी
उन्याले[5] कै तावड़े[6] में—
तनड़ो पड़ग्यो कालो जी।
बाजरै की रोटी पोई,
बाजरै की रोटी।
हुलस-हुलस म्हारो हिवड़ो रोवै,
के जाणो अणजाण जी
खड़ी उड़ीकै गोरड़ी, थे
ऊंटां कसो पलाण[7] जी।

बाजरै की रोटी पोई,
बाजरै की रोटी।
पुरवाई लहरावै खेतां में—
अब पकी जुंवार जी।
आता ल्याज्यो दांतिया[8], थे—
करके तीखी धार जी।
बाजरै की रोटी पोई,
बाजरै की रोटी।
खलो[9] बुहर्‌यो झाड्यो ढोला,
हे कद को तैयार जी
वेगा पाछा बावड़ो[10] तो—
अन-धन भरां भंडार जी।
बाजरै की रोटी पोई,
बाजरै की रोटी।

---

[1] टिंडो नामक फल जिसकी सब्जी बनती है।
[2] गौरी (स्त्री)।
[3] कौवा।
[4] लहरना।
[5] गर्मी की ऋतु।
[6] धूप।
[7] ऊंट की काठी।
[8] हंसिया।
[9] खलिहान।
[10] लौटाना।

पंजाबी : अनुवाद

करतार सिंह दुग्गल

दो कविताएँ

कभी तुम बहुत दूर लगती हो,
बरस चुके बादलों के पीछे
जैसे एकाकी तारा,
या दूर छितिज पर
सुस्ता रही कोई तितली ।
कभी तुम बहुत पास लगती हो
दुख की किसी तह में
बैठी हुई, छिपी हुई
दिल की धड़कन हो जैसे
कोई गुप्त कंपन ।
और वासना के भूखे मेरे आलिंगन
ढूँढ़ते रहते हैं तुझे
भुजाओं की पहुँच के बीच
कदमों की दूरी में
मेरे वासना के भूखे आलिंगन ।

(२)

कोका कोला जैसा हुस्न
बुझा-बुझा-सा लाल-लाल-सा
चिउगम जैसी मुहब्बत
फीको-फीकी-सी मीठी-मीठी-सी
लोशनों डाइयों की मदद से
धुला-धुला-सा रँगा रँगा-सा निखरा-
निखरा-
तेरे केशों का लच्छा-लच्छा
हर लच्छे का बाल-बाल ।
तेरे नयनों पर सोये पड़े रँगीनी चश्मे
नीचे आँखें जान-जान कर
लाखों जाल बुन चुकी हैं ।
तेरे आकार पर कोई और आकार
दरजियों द्वारा कल्पित
तेरे उरोजों पर कोई और उरोज
किसी कामना के प्रतीक
फिर सिगरेटों के धुयें में
तुम अपना आपा छिपा लो,
फिर छोटे बड़े जाम में
तुम अपनी मुस्कान डालती रहो !
बार-बार तुम अपने होठ सिकोड़ो !
बार-बार तुम अपनी रूप-शिखा को ढूँढ़ो!
कल हुस्न को तुम्हारी तलाश थी—
आज तुम हुस्न की तलाश में भटक रही
हो !

जगन्नाथ आज़ाद

आधुनिक उर्दू-कविता

आजकल जब किसी से उर्दू की आधुनिक कविता का ज़िक्र होता है तो अनेक विचित्र बातें सुनने में आती हैं। कुछ लोग उर्दू की आज़ाद नज़्म (मुक्त छन्द) और मुअर्रा नज़्म (अतुकान्त कविता) को उर्दू की नई कविता कहते हैं। कुछ लोग मुक्त-छन्द के साथ किसानों, मज़दूरों या नारी-जीवन की विषय-वस्तु का संबंध जोड़ते हैं, और इसे नई कविता समझते हैं, मानो उनकी दृष्टि में नई कविता का आधार जीवन का राजनीतिक, आर्थिक या सेक्स-सम्बन्धी पहलू ही प्रमुख माना जा सकता है। एक दल ऐसा भी है जो यह समझता है कि एक विशेष सीमित ढंग के राजनीतिक दृष्टिकोण को कविता में प्रस्तुत करना ही नई कविता है। लेकिन यह सब सतही बातें हैं। बुनियादी तौर पर नई कविता प्रत्येक उस अच्छी कविता को कहा जा सकता है, जिसमें तात्कालिक और आन्दोलन-परक प्रभावों से हटकर किसी बात को अनुभव करने, सोचने और अभिव्यक्त करने का नया ढंग मिलता हो। अगर कोई कवि पुराने ढंग की रूढ़ियों के बन्धनों से अलग रह कर किसी अनुभूति, भाव या विचार की अभिव्यक्ति में अपनी विशिष्टता को प्रकट करता है, तो वह नया कवि और उसकी कविता नई कविता है, और जिस युग में यह विशेषता सामान्य रूप से विद्यमान हो, वह निस्सन्देह कविता का नया युग कहलाया जा सकता है।

यों तो प्रत्येक युग अपने समय के लिए नया युग और भावी युग के लिए पुराना युग होता है। उदाहरण के लिए आज से सौ साल पहले का युग आज से सौ साल पहले के लोगों के लिए नया युग था। लेकिन हमारे लिए वह पुराना हो चुका है। बिल्कुल उसी तरह, जिस तरह हमारा युग हमारे लिए नया है, लेकिन आज से सौ साल बाद आने वाले लोगों के लिए पुराना कहलायेगा। और जहाँ तक उर्दू कविता का सम्बन्ध है, यह सही है कि उसके विभिन्न युग एक-दूसरे के साथ इस तरह संबंधित हैं कि किसी जगह पर रेखा खींच कर पुराने युग से आधुनिक युग को अलग करना कठिन ही नहीं, असंभव भी है। और यह विकास-क्रम इक़बाल के इस शेर को चरितार्थ करता है;

ज़माना एक, हयात एक, कायनात भी एक,
दलीले-कमनज़री, क़िस्सा-ए-क़दीमो-जदीद।

मगर इसके बावजूद हमारी कविता के मार्ग में एक ऐसा पड़ाव भी आता है, जहाँ शेर-सुख़न का क़ाफ़िला एक नया मोड़ लेता हुआ दिखाई देता है, और वह पड़ाव है, हमारे देश की एक बहुत बड़ी सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्रान्ति। जब तक किसी देश का जीवन सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति में से नहीं गुज़रता, तब तक उस देश के साहित्य में ऐसे दृष्टिकोण स्थान

नहीं पा सकते, जो नई चेतना के प्रकाश से जगमगा रहे हों। लोगों के जीवन में छोटे-बड़े उलट-फेर तो हुआ ही करते हैं, सल्तनतें बना-बिगड़ा करती हैं, लेकिन आर्थिक और सांस्कृतिक आधारों में परिवर्तन के बिना कोई विशेष सामाजिक परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता। हकूमत का केवल एक परिवार या वंश से दूसरे परिवार या वंश के हाथों में चला जाना साहित्य और ललित कलाओं पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल सकता। लेकिन जब देश एक नयी सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति में से गुजरता है तो क्रान्ति देश के साहित्य और ललित कलाओं पर एक ऐसा प्रभाव छोड़ती है, जिससे नये जीवन और नयी सामाजिक चेतना के सोते फूटते हैं।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में, देश में एक सामाजिक ढांचा खत्म हो रहा था, और दूसरा बन रहा था। यह समय दो सभ्यताओं का एक विचित्र संगम था, जो एक-दूसरे का विरोध भी कर रही थीं। पुराने विचारों की दुनिया नये विचारों की दुनिया से टकरा भी रही थी, और दोनों एक-दूसरे से प्रभावित भी हो रही थीं। देश के इस मिले-जुले सामाजिक और बौद्धिक वातावरण में मानो उस क्रान्ति की नींव पड़ गयी थी, जो बाद में १८५७ की आज़ादी की लड़ाई के रूप में सामने आई। १८५७ का स्वाधीनता संग्राम अपने समय की परिस्थितियों से असम्बद्ध, क्षणिक और सामयिक घटना नहीं था, बल्कि उस सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगति-धारा का स्वाभाविक परिणाम था, जो उन्नीसवीं सदी के आरंभ में ही भारत की भूमि पर वह निकली थी। सन् १८५७ की क्रान्ति, जिसकी जड़ें अतीत में गहरी जा चुकी थीं, हमारे देश के इतिहास में एक ऐसी ही सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति थी, जिसने उर्दू-कविता में पहली बार सामाजिक-बोध को जन्म दिया। देश ने जब इस क्रान्तिकारी वातावरण में प्रवेश किया उस समय उर्दू-कविता को अपनी रोशनी बिखेरते हुए कोई पांच सौ वर्ष बीत चुके थे। लेकिन इस दीर्घ अवधि में कविता के क्षेत्र में कोई ऐसे नये विचारों की लहर नहीं दिखाई देती जिसकी वजह से किसी नये सामाजिक या सांस्कृतिक जीवन का निर्माण होता। सबसे पहला शायर, जिसने कविता में चिन्तन और विचार को स्थान दिया, और जिसके चिन्तन में पुराने वातावरण का निर्माण करने की आकांक्षा रह-रह कर करवट लेती नज़र आती है, वह ग़ालिब है। यह सही है कि ग़ालिब की कविता में उस वर्ग-चेतना का रूप स्पष्ट नहीं होता, जिसे आज हम बड़ी आसानी से अपनी कविता का अंग बना सकते हैं। लेकिन ग़ालिब की कृतियों में उसके विचारों और प्रवृत्तियों के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उसके विचार कविता में और साथ ही साथ जीवन में एक नये लक्ष्य की खोज में तत्पर थे।

१८५७ की आज़ादी की लड़ाई इस देश की सबसे बड़ी राजनीतिक घटना है, जो ग़ालिब के जीवन-काल में ही घटित हुई थी। लेकिन प्रत्यक्ष रूप से ग़ालिब की कविता पर इस इतनी बड़ी क्रान्ति की कोई छाया नहीं दिखाई पड़ती। अब इससे यह परिणाम निकालना ठीक नहीं कि वह इस परिवर्तन से सन्तुष्ट थे, बल्कि इससे तो हम केवल इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि राजनीति के बारे में ग़ालिब अपना कोई स्पष्ट अभिमत नहीं रखते थे और उनके सामने कोई नया सामाजिक वातावरण नहीं था। जहाँ तक सामाजिक वातावरण से असन्तोष का सम्बन्ध है, वह ग़ालिब की कविता में तीव्रता से झलक रहा है। और इस राजनीतिक चेतना के प्रस्फुटन का ही परिणाम है कि इस उत्कट बेचैनी ने विभिन्न अवस्थाओं में अतीत की 'मरसिया ख्वानी' (शोक-कविताएँ) का रूप अपनाया। यह पूरी ग़ज़ल—

ज़ुल्मतकदे में मेरे शबे-ग़म का जोश है,
इक शमा है दलीले-सहर, सो ख़मोश है!

ने मज़्दए-विसाल, न नज़्ज़ारए-जमाल,
मुद्दत हुई कि आश्तीए चश्मो-गोश है!
ए ताज़ा वारदाने—बिसाते—हवाए—दिल,
जिनहार अगर तुम्हें हवसे—नायो-नोश है!
देखो मुझे जो दीदए—इबरत निगाह हो,
मेरी सुनो जो गोशे—नसीहत न योश है!
साक़ी ब-जल्वा दुश्मने-ईमानो-आगही,
मुतरिब ब-नग़मा रहज़ने-तमकीनो-होश है!
या शब को देखते थे कि हर गोशए-बिसात,
दामाने-बाग़बानो-कफ़े-गुलफ़रोश है!
लुत्फ़े-ख़रामे-साक़ी-ओ ज़ौक़े-सदाए-चंग,
यह जन्नते-निगाह, वो फ़िरदौसे-गोश है!
या सुबहदम जो देखिए आकर, तो बज़्म में,
ने वह सरूर-व-सोज, न ज़ोशो-ख़रोश है!
दाग़े फ़िराक़े-सोहबते-शब की जली हुई,
इक शमा रह गई है, सो वो भी खमोश है!

इस मानसिक उद्वेलन की एक रोशन मिसाल है। इस प्रकार के उदाहरण ग़ालिब की कविता में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। जहां तक भविष्य की कल्पना का सम्बन्ध है, ग़ालिब ने असीम निराशापूर्ण राजनीतिक वातावरण में एक अस्पष्ट, किन्तु उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत किया है! यदि कला की बारीकियों के साथ-साथ ग़ालिब ऐतिहासिक, सामाजिक और वर्ग-चेतना की दौलत से भी मालामाल होते तो अतीत की 'मरसियाख्वानी' में उन्हें कभी संतोष न मिलता, और

लाज़िम नहीं कि ख़िज्र की हम पैरवी करें,
माना कि इक बुज़ुर्ग हमें हमसफ़र मिले!

कह कर ही सन्तुष्ट न हो जाते, बल्कि हमें एक निश्चित लक्ष्य का पता देते। किन्तु स्पष्ट लक्ष्य का पता न देने के बावजूद ग़ालिब की यह बेचैनी उर्दू-साहित्य की इतनी बड़ी पूंजी है कि अगर यह बेचैनी साहित्य के रक्त में प्रविष्ट न कर जाती तो हाली इससे आगे की मंज़िल तक हमारी रहनुमाई न कर सकते।

हाली ने अपनी रचनाओं से वातावरण को इस सीमा तक प्रभावित किया कि उनका चिन्तन आज के कवियों के लिए भी उसी तरह मार्ग-दीप का काम दे रहा है, जैसा कि वह उनके ज़माने के लोगों के लिए दे रहा था।

हाली अपने प्रतिक्रियावादी राजनीतिक दृष्टिकोण के बावजूद भारत के जीवन, नैतिक-मूल्यों, समाज-व्यवस्था, आर्थिक और राजनीतिक दशा के सर्वोत्कृष्ट व्याख्याकार और चितेरे हैं। और आपने 'मुकद्दमा-ए-शेरो-शायरी' में व्याख्यान और आलोचना को एक-दूसरे में समोकर एक ऐसी पुस्तक रची है कि समय और काल का परिवर्तन शायद ही इस पर कुछ प्रभाव डाल सके। मनुष्य का बौद्धिक-विकास कितनी ही ऊंचाई तक क्यों न पहुँच जाये, हाली पढ़नेवाले का हमेशा साथ देंगे, और कुछ परिस्थितियों में मार्ग-प्रदर्शन और नेतृत्व भी करते रहेंगे। सांसारिक स्वार्थ, नस्ल व रंग

और समय-काल के बन्धनों से मुक्त होकर किसी ऐसी कृति की रचना कर लेना अत्यन्त कठिन काम है कि हर युग के आलोचक उस कृति पर फिर-फिर नये सिरे से शोध करते रहें और हर काल के विद्यार्थी उससे लाभान्वित होते रहें।

हाली ने बुद्धि-तत्व के माध्यम से कविता और समाज का सम्बन्ध जोड़ने की कोशिश की। काव्यालोचना की बुनियाद सबसे पहले हाली ने भौतिक परिस्थितियों पर रखी और बताया कि शायरी भौतिक परिस्थितियों के अनुसार अपना रूप-रंग बदलती है। हाली ने केवल आलोचना के द्वारा ही नहीं, बल्कि अपनी कविता के द्वारा भी उर्दू-काव्य के सम्मुख नये मार्ग खोले। 'मुसद्दस-ए-हाली' कई दृष्टियों से उर्दू का पहला काव्य-ग्रन्थ है जिसे हम आधुनिक साहित्य का एक पथ-दीप ठहरा सकते हैं। सामन्ती युग के पतन का चित्र हाली ने इस सफलता के साथ अंकित किया है कि यह कविता हमारे साहित्य का अनश्वर अंग बन गई है। यद्यपि इस कविता में केवल मुसलमानों को संबोधित किया गया है, लेकिन वास्तविकता यह है कि इसमें एक ऐसे सहृदय और दर्दमंद हिन्दुस्तानी शायर की आत्मा फ़रियाद कर रही है, जो देश की दशा पर तड़प रहा है। उस जमाने में जब ग़ालिब की क्लिष्ट कविता वातावरण पर छायी हुई थी, यह कारनामा कुछ कम तो नहीं कि फ़ारसी और अरबी का सहारा लिए बग़ैर हाली ने विशुद्ध उर्दू भाषा में यह काव्य प्रस्तुत करके यह बात व्यावहारिक रूप में बतायी कि उर्दू में कितनी विकास-संभावनाएँ हैं।

किन्तु हाली के इस कारनामे का प्रभाव प्रथम महायुद्ध से पहले की उर्दू-कविता पर अधिक गहरा नहीं पड़ा था। पहले महायुद्ध ने समय की गति बहुत तीव्र कर दी और फ़ासलों को बहुत कम कर दिया। हमारे देशवासी नये-नये ख़तरों और उम्मीदों से इस तरह परिचित हुए कि सदियों की सुप्त भावनाएं और अनुभूतियाँ सहसा जाग्रत हो गईं। भारत और शेष विश्व की समस्याएँ लगभग एक हो गईं। कविता इन परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकती थी? इक़बाल को, जिन्होंने महायुद्ध से पहले पश्चिमी जातियों को इन शब्दों में सम्बोधित किया था,

कि दयारे-मग़रिब के रहने वालो, ख़ुदा की बस्ती दुकाँ नहीं है,
खरा जिसे तुम समझ रहे हो, वो अब ज़रे-कम अयार होगा।
तुम्हारी तहज़ीब अपने ख़ंजर से एक दिन ख़ुदकशी करेगी;
जो शाख़े नाज़ुक पे आशियाना बनेगा नापायदार होगा।

विश्व की परिस्थियियों ने अपनी कविता में ऐसे विषय प्रस्तुत करने पर विवश किया जिनसे उर्दू कविता उस समय तक अपरिचित थी। पूँजी व उद्योग का संघर्ष इक़बाल की कविता का विशिष्ट अंग बन गया और इक़बाल ने यह कहकर—

ख़्वाब से बेदार होता है ज़रा महकूम अगर-
फिर सुला देती है उसको हुक्मराँ की साहिरी;
ऐ कि तुझको खा गया सरमायादारे हीलागर
शाख़े-आहू पर रही सदियों तलक तेरी बरात,
दोस्त दौलत आफ़री को मिज़्द यूँ मिलती रही
अहले-सरवत जैसे देते हैं ग़रीबों को ज़कात!
नस्ल, कौमीयत, कलीसा, सल्तनत, तहज़ीब, 'ग
ख़्वाजगी ने ख़ूब चुन-चुन कर बनाये मस्करात!
मक्र की चालों से बाज़ी ले गया सरमायादार

इन्तहा-ए-सादगी से खा गया मज़दूर मात!
उठ कि अब बज़्मे जहाँ का और ही अन्दाज़ है
मशरिक़ो-मग़रिब में तेरे दौर का आग़ाज़ है।

उर्दू शायरी में एक बिल्कुल ही नया अध्याय जोड़ा। और कुछ मुद्दत बाद १९३४ में जब 'बाले-जबरील' प्रकाशित हुई तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—

उट्ठो, मेरी दुनिया के ग़रीबों को जगा दो,
ख़ाके-उमरा के दरो-दीवार हिला दो;
जिस खेत से दहक़ाँ को मयस्सर न हो रोज़ी,
उस खेत के हर ख़ोशए-गंदुम को जला दो।
सुल्तानी-ए जम्हूर का आता है ज़माना
जो नक़्शे कुहन तुमको नज़र आये मिटा दो!

पहले महायुद्ध के बाद हमारे देश में फिर एक इन्क़लाब आया। यह इन्क़लाब विचारों का इन्क़लाब था। हमारे स्वतन्त्रता-आन्दोलन की धारा क्षण-प्रतिक्षण फैलती और गहरी होती गयी। इस अवसर पर ब्रजनारायण चकबस्त, ज़फ़रअली खाँ, दुर्गासहाय 'सरूर' और तिलोकचन्द 'महरूम' की कविता में हिन्दुस्तान की आशाएँ, उमंगें और संकल्प आकर सिमट गये। अकबर इलाहाबादी की व्यंग्यात्मक कविता ने वह काम किया जो शायद कोई गंभीर कविता के द्वारा न कर पाता। इस विद्रोह के युग ने विशुद्ध रोमानी (स्वच्छन्दतावादी) कवि जोश मलीहाबादी को इन्क़लाब का प्रमुख कवि बना दिया, और 'जोश' ने हिन्दुस्तान के राजनीतिक जीवन की इस ईमानदारी, जोश और गहराई के साथ अभिव्यक्ति की कि हिन्दुस्तान का स्वाधीनता-आन्दोलन और 'जोश' की कविता एक ही भावना के दो नाम हो गये। 'जोश' ने सीधे अंग्रेज़ी शासन और साम्राजी दमन शक्ति से टक्कर ली और 'शिकस्तेज़िन्दां का ख्वाब', 'वफ़ादाराने अज़ली का पयाम शहंशाहे-हिन्दुस्तान के नाम', 'जश्ने ताजपोशी', 'नवाए-इन्क़लाब', 'बग़ावत', और 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी के फ़र्ज़न्दों के नाम' की तरह की नज़्मों की एक फ़ौज मैदान में उतारी। ये कविताएँ युद्धभूमि में बड़ी जिगरदारी से लड़ीं और राजनीतिक क्षेत्र के अतिरिक्त साहित्यिक-क्षेत्र में इन कविताओं का कारनामा यह है कि उर्दू में ओजपूर्ण और राष्ट्रीय संघर्ष की व्यंजना करनी वाली कविता की बुनियाद पड़ी।

१९२४ के लगभग भारत की दशा एक बंदीगृह से कम नहीं थी। 'जोश' की नज़्म 'शिकस्ते ज़िन्दां का ख्वाब' में हमें उस काल की जनता के हृदय की धड़कनें स्पष्ट सुनायी दे रहीं हैं;

क्या हिन्द का ज़िन्दां काँप रहा है, गूँज रही हैं तकबीरें,
उकताए हैं शायद कुछ क़ैदी और तोड़ रहे हैं ज़ंजीरें,
दीवारों के नीचे आ-आकर यों जमा हुए हैं ज़िन्दानी,
सीनों में तलातुम बिजली का आँखों में झलकती शमशीरें,
भूखों की नज़र में बिजली है, तोपों के दहाने ठंडे हैं,
तक़दीर के लब को जुम्बिश है दम तोड़ रही हैं तदबीरें,
आँखों में गदा की सुर्ख़ी है, बेनूर है चेहरा सुल्तां का,
तख़रीब ने परचम खोले हैं, सजदे में पड़ी हैं तामीरें!
क्या उनको ख़बर थी ज़ेरोज़बर रखते थे जो रूहे मिल्लत को,

उबलेंगे ज़मीं से मारे सियह, बरसेंगी फ़लक से शमशीरें !
क्या उनको ख़बर थी सीनों से जो ख़ून चुराया करते थे,
इक रोज़ इसी ख़ामोशी से टपकेंगी दहकती तक़रीरें !
संभलो कि वह जिन्दां गूंज उठा, झपटो कि वह क़ैदी छूट गये,
उट्ठो कि वह बैठीं दीवारें, दौड़ो कि वह टूटी ज़ंजीरें !

दूसरे महायुद्ध के दौरान में 'शायरे इन्क़लाब' का स्वर यह रंग ले चुका था :

सांस क्या उखड़ी कि हक़ के नाम पर मरने लगे,
नौए-इन्सां की हवा ख़्वाही का दम भरने लगे !
जुल्म भूले रागिनी इन्साफ़ की गाने लगे,
लग गई है आग क्या घर में कि चिल्लाने लगे !
मुजिरमों के वास्ते ज़ेबा नहीं यह शोरो-शैन,
कल यज़ीदो शिम्र थे, और आज बनते हो हुसैन !
ख़ैर ऐ सौदागरो, अब है तो बस इस बात में,
वक़्त के फ़रमान के आगे झुका दो गरदनें !
इक कहानी वक्त लिक्खेगा नये मजमून की !
जिसकी सुर्ख़ी को ज़रूरत है तुम्हारे ख़ून की !
वक्त का फ़रमान अपना रुख़ बदल सकता नहीं,
मौत टल सकती है, अब फ़रमान टल सकता नहीं !

(ईस्ट इण्डिया कम्पनी के फ़रज़न्दों के नाम)

नज्म (वर्णनात्मक कविता) तो ख़ैर नज्म है, इस युग में ग़ज़ल ने अपनी मादकता, मधु-प्रियता और मस्ती के बावजूद सामाजिक और राजनीतिक वेदना को अपने दिल में जगह दी ! सौन्दर्य के कवि फ़िराक गोरखपुरी ने—

मेरे कलाम में ऐ राग-रंग के आशिक,
तेरी हँसी न सही दर्दे कायनात तो है !

कह कर ग़ज़ल की विस्तृत संभावनाओं को प्रकट किया, और अपनी ग़ज़ल में क्लासिकी गांभीर्य अक्षुण्य रखते हुए एक नया स्वर प्रदान किया। ग़ज़ल के अलावा आपने रुबाई के चेहरे को भी निखारा और उस युग में जब कि रुबाई उर्दू कविता से लगभग ख़त्म हो चली थी, आपने कविता के इस रूप-प्रकार में नया जीवन, देने का सफल प्रयास किया। हिन्दी के सुन्दर शब्दों को उर्दू कविता में समोना आपका एक बड़ा कारनामा है, जिसके कारण उर्दू कविता में एक नया सौन्दर्य जागा।

इन्ही दिनों देश में बंगाल का भयानक अकाल आया। इसकी विध्वंस लीला को देखकर जिगर और अख्तर शीरानी जैसे आपने में मस्त और मगन रहने वाले शायर भी अपनी कविता की धारा मोड़ने पर मजबूर हो गये। 'जिगर' की ग़ज़ल ने उस समय—

बंगाल की मैं शामोसहर देख रहा हूँ।

का रूप धारण किया और फ़ैज़, साहिर लुधियानवी और वामिक जौनपुरी ने नई भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए नज्म को चुना।

ये हसीन खेत फटा पड़ता था जोबन जिनका,
किस लिए उनमें फ़क़त भूख उगा करती है ?
(फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़')

मिलें इसी लिए रेशम के ढेर बुनती हैं,
कि दुख़्तराने वतन तार तार को तरसें !
चमन को इस लिए माली ने ख़ूं से सींचा था,
कि उसकी अपनी निगाहें बहार को तरसें !
(साहिर लुधियानवी)

नदी, नाले, गली डगर पर, लाशों के अम्बार,
जान की ऐसी मँहगी शै पर, उलट गया व्यौपार !
मुट्ठी भर चावल से बढ़कर सस्ता है यह माल,
रे साथी सस्ता है यह माल !
भूखा है बंगाल रे साथी भूखा है बंगाल !
पुरखों ने घरबार लुटाए छोड़ के सब का साथ,
माएँ रोईं बिलख बिलख कर बच्चे भये अनाथ !
सदा सुहागिन विधवा बाजे, खोले सर के बाल,
रे साथी खोले सर के बाल !
भूखा है बंगाल रे साथी, भूखा है बंगाल !

इस हृदय-द्रावक घटना के कुछ बाद ही दूसरा महायुद्ध समाप्त हुआ और भारत के क्षितिज पर आज़ादी का सूरज उदय हुआ। देश में सर्वत्र आशा और पुलक की एक लहर दौड़ गई, लेकिन करोड़ों इन्सानों की फ़रियादों के तूफान में यह लहर दब के रह गई। विदेशी शासन की समाप्ति ने हमारे देश में ऐसा भयानक और दर्दनाक अध्याय खोल दिया जिसकी याद सहज ही भुलाई नहीं जा सकेगी। घोर विषम परिस्थितियों का एक अजब दौर था :

बाजे बजे तो शोरे फ़ुग़ां दूर तक गया,
कश्ती मिली तो ख़ैर से दरिया पिचक गया !
शबनम गिरी दिले समनो-सर्व पक गया,
बूंदें पड़ीं तो और भी गुलशन धधक गया !
अपना गला ख़रोशे तरन्नुम से फट गया, तलवार से बचा तो रगे-गुल से कट गया !
दौलत मिली तो और भी नादार हो गए,
सेहत हुई नसीब तो बीमार हो गए।
उतरा जो बार और गरांबार हो गए,
आजाद यूं हुए कि गिरफ़्तार हो गए !
पिघला जो आसमां तो ज़मीं संग हो गई, पौ यूं फटी कि सुबहे-चमन दंग हो गई !
(जोश मलीहाबादी)

ये दाग़ दाग़ उजाला, ये शब गज़ीदा सहर,
वो इन्तजार था जिसका ये वह सहर तो नहीं !
(फ़ैज़ अहमद फ़ैज़)

कौन आजाद हुआ,
किसके माथे से स्याही छूटी।
मेरे सीने में अभी दर्द है महकूमों का,
मादरे हिन्द के चेहरे में उदासी है वही।
ख़ंजर आज़ाद हैं सीनों में उतरने के लिए,
मौत आज़ाद है लाशों पे गुज़रने के लिए।
चोर बाजारों में बदशक्ल चुड़ैलों की तरह,
कीमतें खाली दुकानों में खड़ी रहती हैं।
हर ख़रीदार की जेबों को कतरने के लिए॥
(अली सरदार जाफ़री)

लेकिन इन समस्त परिस्थितियों के बावजूद उर्दू-कवि भविष्य से निराश नहीं हुआ। वह जानता है कि हिन्दुस्तान का प्राचीन इतिहास एक महान और उज्ज्वल भविष्य का दर्पण है। हिन्दुस्तान सदा से शान्ति और संस्कृति का घर रहा है, और वह समय दूर नहीं जब एकबार फिर इस देश का वातावरण ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, संस्कृति और शान्तिमय जीवन की किरणों से जगमगा उठेगा। इसलिए 'मजाज़' ने बहुत सोच-समझ कर ठीक समय पर निर्देश किया :

है पाक अब्रे ग़ुलामी से आसमाने वतन,
ये काम कर गये आख़िर बलाकशाने वतन।
अभी तो ख़ैर से दहचन्द होगी शानेवतन,
अभी तो और भी महकेगा बोस्तानेवतन,
कि यह बहार पयामी-ए-सद बहारां है।
ये इन्क़लाब का मज़दा है, इन्कलाब नहीं,
ये आफ़ताब का परतौ है, आफ़ताब नहीं।
वह जिसकी ताबो तवानाई का जवाब नहीं,
अभी वो सई-ए-जनूं ख़ेज कामयाब नहीं,
ये इन्तहा नहीं आग़ाज़े कारे मरदां है।

गोपाल मित्तल ने इन्क़लाब का यूँ मूल्यांकन किया :

ये जो इक नूर की हल्की सी किरन फूटी है,
कौन कहता है इसे सुबहे दरख़्शां ऐ दोस्त।
मुझको एहसास है बाक़ी शबेतार अभी,
लेकिन ऐ दोस्त मुझे रक्स तो कर लेने दे!
कम से कम नूर ने उल्टी तो है इकबार नकाब,
एक लमहे को तो टूटा है तिलिस्मे शबे तार।
इससे साबित हुआ सुबह भी हो सकती है,
सुबहे काज़िब भी तो है अस्ल में दीवाचा-ए-सुबह।
सुबहे काज़िब भी तो है सुबहे-दरख़्शां की नवेद,
एक ऐलान की हंगामे विदा-ए शब है।

क़ाफ़िला नूरे सहर का है बहुत ही नज़दीक,
जल्द होने को है ख़ुरशीदे दरख़्शां की नमूद।

स्वतंत्रता अपने साथ एक और विषय भी लायी, और वह है देश के बंटवारे का विषय। मैं समझता हूं कि यह विषय उर्दू-कविता के रगों में जितनी गहराई तक गया है उतना शायद ही इसने नये हिन्दुस्तान की किसी और भाषा की कविता को प्रभावित किया हो। इस विषय ने उर्दू कविता को संपूर्णतः करुणा और वेदना से भर दिया है। और उर्दू-कविता की यह कितनी बड़ी सफलता है कि बंटवारे की दुर्घटना में आग और ख़ून की बाढ़ को पार कर आने वाले कवियों के स्वर घृणा और विद्वेष की कटुता से संकीर्ण और साम्प्रदायिक नहीं बने। जहां तक उर्दू-कविता के इस प्रसंग का सम्बन्ध है, यह अभी तक लगातार लिखा जा रहा है, और पांच बरस की मुद्दत गुज़र जाने के बावजूद न कवियों की आंख के आंसू सूखे हैं, न क़लम की स्याही! इस प्रसंग में एक नज़्म की कुछ पंक्तियां देखिए :

हमने यह माना तेरे अपने सख़ुनवर कम नहीं,
अपने जाने से तेरी बज़्मे सख़ुन बरहम नहीं।
हम भी तेरे ही नवासंजे चमन थे ऐ वतन,
अन्दलीबे-नग़मए-हुब्बे-वतन थे ऐ वतन।
तेरी आज़ादी के सदक़े में हमें हिजरत मिली,
जज़्बए-जौक़े-वफ़ा की हमको यह क़ीमत मिली।
अलविदा ऐ अर्ज़े-पाकिस्ताँ हमेशा के लिए,
याद रखेंगे तेरे एहसाँ हमेशा के लिए।
जाए-सामाने-मईशत दाग़े-हसरत ले चले,
सब्ज़ए-बेगाना थे हम तेरे गुलशन से चले।
तू फले-फूले रहे तुझपर करम अल्लाह का,
दूर दामन से तेरे शोला हमारी आह का।
तू हुआ दुश्मन हमारा, हम तेरे दुश्मन न थे,
तू हुआ क्यों हमसे बदज़न, तुझ से हम बदज़न न थे।
अब भी हैं आबाद तुझ में अपने प्यारे सैकड़ों,
जानने-पहचानने वाले हमारे सैकड़ों,
जो मुसलमां थे मगर कहते न थे काफ़िर हमें,
अपनी मजलिस में बिठाते थे जो आंखों पर हमें,
आह ऐसे मुख़लिसों से भी जुदा होना पड़ा,
वह वफ़ापरवर थे हमको बेवफ़ा होना पड़ा।
दाग़ हैं उनकी जुदाई के दिले-ग़मनाक में,
बादे-मुर्दन भी रहेंगे जो हमारी ख़ाक में।
हम बुरा चाहें तेरा, मुमकिन नहीं, मुमकिन नहीं।
तेरे हक़ में बद-दुआ मुमकिन नहीं, मुमकिन नहीं॥
यह दुआ मांगा करेंगे हम ख़ुदाए-पाक से,
जौहरे-इन्सानियत चमकाए तेरे ख़ाक से!

नाखादारी का काँटा तेरे गुलशन में न हो,
औ तअस्सुब की नजासत तेरे दामन में न हो !
ख़ैर से तुझको मुहब्बत, और शर से आर हो,
ताकि पाकिस्तान कहलाने का तू हक़दार हो।
(तिलोकचन्द 'महरूम')

देश का विभाजन होते ही वह मातम की शाम आई, जब हिन्दुस्तान की राजधानी में मानवता के सबसे बड़े संरक्षक को मौत के घाट उतार दिया गया। चालीस करोड़ इन्सानों के पथ-प्रदर्शक की हत्या ने इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया कि हिन्दुस्तान को साम्प्रदायिकता और संकुचित धार्मिकता से बड़ा ख़तरा है। 'जोश', 'मजाज़'' 'जोश' मलिसयानी, 'वामिक़', 'मुल्ला', 'महरूम', 'रविश', 'अर्श' मलिसयानी, गोपाल मित्तल, 'क़तील' शफ़ाई, 'सुहेल' और अन्य कवियोंने इस विषय को लेकर रचना की, और केवल गांधी जी का मातम ही नहीं किया; बल्कि गांधीजी के आदर्श को भी पेश किया और असत्य की शक्तियों से संघर्ष करने का संकल्प भी पैदा किया।

हमें क्या हो गया था हाय, यह क्या ठान ली हमने
खुलूसो-आश्ती के देवता की जान ली हमने
जो दौलत लुट चुकी अब लौटकर वापिस न आएगी
हज़ारों साल रोकर भी उसे दुनिया न पाएगी
ये अच्छी क़ौम है जो क़ौम के सर्दार को मारे
ये अच्छा धर्म है जो धर्म के अवतार को मारे
निगाहे-अहले-आलम में मलामत का हदफ़ हम हैं
हमीं ने क़त्ल बापू को किया है नाख़लफ़ हम हैं
हमीं हैं मसलके-मोहसिनशनासी छोड़ने वाले !
किनारे पर पहुँचते ही सफ़ीना तोड़ने वाले !
('अर्श' मलसियानी)

इस समस्त संघर्ष-काल में शृंगार भी उर्दू कविता में निरंतर मुखरित होता रहा। 'जोश' 'जज़्बी' और जा निसार अख़्तर की रोमानी शायरी और जिगर, फ़िराक़ और अदम की ग़ज़लें इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। विषय और अभिव्यक्तिके क्षेत्रमें व्यापकताके साथ-साथ रूप-सम्बन्धी प्रयोग भी जारी हैं। मुक्त छन्द और अतुकान्त कविता भी बराबर विकास कर रही है। यद्यपि इस प्रकार की कविताओं की अब वह भरमार तो नहीं है जो १९३५ से १९४० तक रही, लेकिन इतना कहा जा सकता है कि उर्दू में अब इस प्रकार की कविता के क़दम जम चुके हैं, और सरदार जाफ़री, अख़्तर-उलईमान, मीराजी, मुनीबुर्रहमान, नन मीम राशिद, बलराज कोमल और तसद्दुक़ हुसैन की नज़्मों में यह स्पष्ट हो चुका है कि इस प्रकार की कविता में जीवित रहने की क्षमता है। प्रतीक और संकेत-बहुल कविता, जिसका आरम्भ मीराजी और उनके साथियों ने किया था, समय का आघात न सह सकी और कुछ ही वर्षों में उसकी परम्परा ख़त्म हो गई। इस रुग्ण-मानस की कविता को आधुनिक युग के उन तक़ाज़ों ने ख़त्म किया, जो प्राणवान अनुभूतियों को अपने दिल में लिए आगे बढ़ रहे थे, और इन्हीं प्राणवन्त अनुभूतियों से उर्दू-कविता को परिपूर्ण रखना चाहते थे, और जिनकी यह आकांक्षा थी कि प्रतीक और संकेत के परदे में पथभ्रष्ट प्रवृत्तियाँ पनप न सकें। इन तक़ाज़ों ने उर्दू-कविता को जीवनकी उन वास्तविकताओं से संबद्ध किया जो दिन के प्रकाश के समान हमारे सामने

हैं। यही कारण है कि हमारी वर्तमान कविता में हमारे सामाजिक जीवन का संघर्षपूर्ण चित्र दिखाई देता है। इसमें राजनीतिक चेतना की झलकियां हैं, आर्थिक परिस्थितियों के चिह्न हैं, बदलते हुए सांस्कृतिक स्तर की करवटें हैं। सौंदर्य और प्रेम की कपोल-कल्पनाएं नहीं; बल्कि उनके सजीव और यथार्थ चित्र हैं। शोधात्मक चेतना रचनात्मक भावना के साथ-साथ चलती है और कवि की कल्पना आसमान की बुलन्दियों में खो जाने की बजाय, ज़मीन के विस्तार नापने, जानने और अणु-अणु की गहराइयों की खोज लगाने में संलग्न है। अंत में, आधुनिक उर्दू कविता के कुछ और प्रतिनिधि नमूने नीचे देकर हम इस निबंध को समाप्त करते हैं :—

जोश मलीहाबादी

रुबाइयात

(१)

ऐ पिछले पहर क्यों है यह ज़ुल्मत घर में
इकतरफ़ा ग़नूदगी है बामो-दर में
शायद कोई नातमाम ख़्वाबे-सहरी
बेतरह उलझ के रह गया है सर में।

(२)

डूबें कि उभर जायें न पूछो हमसे
ठहरें कि गुज़र जायें न पूछो हमसे
आलामे-हयात उठाएं और ज़िन्दा रहें
या चैन से मर जायें न पूछो हमसे !

(३)

साहिल, शबनम, नसीम, मैदान, तयूर
ये रंग, ये झुटपुटा, ये ख़ुनकी, ये सरूर
ये रक़्से-हयात और दरिया के उधर
टूटी हुई क़ब्रों पे सितारों का ये नूर।

(४)

ये मौत, ये ज़िन्दगी, ये पीरी, ये शबाब,
इबरत के ये ख़ेमें, ये तमन्ना ये हुबाब
किसको समझाऊँ और समझूं किससे
ताबीर भी एक ख़्वाब है, ख़्वाब तो ख़्वाब।

जिगर मुरादाबादी

ग़ज़ल

फ़िक्रे जमील ख़्वाबे परीशाँ है आजकल
शायर नहीं हैं वह जो ग़ज़ल-ख़्वाँ है आजकल।
इन्सानियत कि जिससे इबारत है ज़िन्दगी
इन्साँ के साए से भी गुरेज़ाँ है आजकल।
दिल की जराहतों से खिले हैं चमन-चमन
और उसका नाम फ़स्ले-बहाराँ है आजकल।
जम्हूरियत का नाम है जम्हूरियत कहाँ
फिस्ताइयत, हक़ीक़ते-उरियाँ है आजकल।
कैसा ख़ुलूस किसकी मोहब्बत कहाँ का दर्द
ख़ुद ज़िन्दगी मताए गुरेज़ाँ है आजकल।
जो था ज़ुबान पर वह हवा बनके उड़ गया
जो दिल में था हक़ीक़ते-उरियाँ है आजकल।
काँटे किसी के हक़ में किसी को गुलो-समर
क्या ख़ूब एहतमामे-गुलिस्ताँ है आजकल।
है ज़ख़्मे-कायनात जो हिन्दू है इन दिनों
है दाग़े-ज़िन्दगी जो मुसलमाँ हैं आजकल
कहते हैं जिसको सूरते-आज़ादिए-वतन
दर-असल एक पैकरे बेजाँ है आजकल।
कुछ रहबराने ख़ास जो मुख़लिस हैं वाक़ई
इनका चिराग़ भी तहे दामाँ है आजकल।
इससे तो ख़ुदक़शी ही ग़नीमत है ऐ जिगर
जो मसलहत के पेशए मर्दां है आजकल।

फिराक़ गोरखपुरी

पाँच रुबाइयां

(१)

इक नुक़्तए तस्वीर तो तस्वीर नहीं
इक हल्क़ए जंजीर तो जंजीर नहीं
तक़दीर तो क़ौमों की हुआ करती है
इक शख़्स की क़िस्मत कोई तक़दीर नहीं ।

(२)

हर ज़र्रे से इक दरसे-नुमूं लेता हूं
लबरेज़ कई जामो-सुबू लेता हूं
ऐ जानेबहार तुझ पे पड़ती है जब आंख
संगीत की सरहदों को छू लेता हूं ।

(३)

हर साज़ से होती नहीं यह धुन पैदा
होता है क़िस्मतों से यह गुन पैदा
गहवारए तहज़ीब में सदियों पलकर
होता है हयात में तवाज़ुन पैदा

(४)

सहरा में ज़मां मकां की खो जाती हैं
सदियों बेदार रह के सो जाती हैं
अक्सर सोचा किया हूं ख़ल्वत में फ़िराक़
तहज़ीबें क्यों ग़ुरूब हो जाती हैं ।

(५)

शायर के तसव्वुरात हैं कितने हसीं
एक आलमे रंगो-नूर रक्सां है कहीं
जैसे दमे सुबह लहलहाती किरनें
जब चूम रही हों वो हिमालय की जबीं

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

तौक़ व दार का मौसम

रविश रविश है वही इन्तजार का मौसम
नहीं है कोई भी मौसम बहार का मौसम
यही जनूँ का यही तौक़ व दार का मौसम
यही है जब्र यही अख्तियार का मौसम
जहाँ है दिल पै ग़मे रोज़गार का मौसम
है आज़माइशे हुस्ने निगार का मौसम
यह दिल के दाग़ दिखते थे यूँ भी पर कम कम
कुछ अबके और है हिज्राने यार का मौसम
क़फ़स है बस में व लेकिन तुम्हारे बस में नहीं
चमन में आतिशे गुल के निखार का मौसम
सबा की मस्तख़रामी तहे कमन्द नहीं
असीरे दाम नहीं है बहार का मौसम
बला से हमने न देखा तो और देखेंगे
फ़रोग़े गुलशन व सौते हज़ार का मौसम

●●

इसरारुल हक़ मजाज़

आज

कारफ़र्मा फिर मेरा ज़ोके ग़ज़लख्वानी है आज
हर नफ़स का साज़ गर्मे शोला अफ़शानी है आज
फिर निगाहे शौक की गर्मी है और रूये निगार
फिर आलूदा इक काफिर की पेशानी है आज
फिर इधर लब पर क़सीदे हैं लबो रुख़सार के
फिर इधर चेहरे पै ताबानी सी ताबानी है आज
हुस्न इस दर्जा निशाते हुस्न में डूबा हुआ
अंखड़ियाँ बेख़ुद शमीमे जुल्फे दीवानी हैं आज
लर्जिशे लब में शराबो शेर का तूफान है
जुंबिशे मज़गां में अफ़सूँने गज़लख्वानी है आज

वह नफ़स की ज़मज़मा संजी नज़र की गुफ़्तगू
सीनये मासूम में इकतर्फ़ा तुग़यानी है आज
यां बई आलम ग़रूरे सूफ़ियत भी नहीं
वां जुलेखाई ब अज़्मे चाक दामानी है आज
वां इशारे में बहक जाना ही एने होश है
होश में रहना यक़ीनन सख़्त नादानी है आज
वह लबों से अंगबीं पोने की सरकश आरज़ू
किस क़द्र आज़ाद उन जुल्फ़ों की ज़िन्दानी है आज
कशमकश सी कशमकश है हर मज़ाक़े आशिकी
कमरां सी कमरां हर सई इमकानी है आज
हुस्न के चेहरे पे है नूरे सदाक़त की दमक
इश्क के सर पर कुलाहे फ़ख्रे इनसानी है आज
शौक से मौक़ाशिनासी की तवक़्क़ो भी ग़लत
मैंने उनकी शक्ल भी मुश्किल से पहचानी है आज ।।

●●

साहिर लुधियानवी

आहंग इन्क़लाब

मेरे जहां में समन्ज़ार ढूंढ़ने वाले
यहां बहार नहीं आतशीं-बगोले हैं।
धुनक के रंग नहीं सुरमई फ़िज़ाओं में
उफ़क़ से तावा उफ़क़ फांसियों के झूले हैं।
फिर एक मंज़िले ख़ूंबार की तरफ़ है रवां
वह रहनुमां, जो कई बार राह भूले हैं।
बुलन्द दावए जम्हूरियत के पर्दे में
फ़रोग मजलिस-ओ-ज़िन्दां हैं ताज़ियाने में
बनामे अम्न हैं जंगो-जदल के मन्सूबे
ये शो रे-अदलत तफ़ावत के कारख़ाने हैं
दिलों पे ख़ौफ़ के पहरे लबों पे क़ुफ़्ले-सकूत
सरों पे गर्म शलाख़ों के शामयाने हैं
मगर मिटे हैं कहीं जब्र और तशद्दुद से
वह फ़िलसफ़े कि ज़िला दे गए दिमाग़ों को

कोई सियाह-सितम पेशा-चोर कर न सकी
बशर की जागी हुई रूह के अभागों को।
क़दम-क़दम पे लहू नज्र दे रही है हयात
सियाहियों से उलझते हुए चिराग़ों को।
रवाँ है क़ाफ़िलाएँ इर्तिक़ाए-इन्सानी
निज़ाम-आतिशो-आहन का दिल हिलाए हुए।
बग़ावतों के दहल बज रहे हैं चार तरफ़
निकल रहे हैं जवाँ मशलें जलाए हुए।
तमाम अर्जे-जहाँ खौलता समन्दर है
तमाम कोह-बियाबाँ हैं तिलमिलाए हुए।
मेरी सदा को दबाना तो ख़ैर मुमकिन है
मगर हयात की ललकार कौन रोकेगा ?
हसीने आतिशो-आहन बहुत बुलन्द सही
बदलते वक़्त की रफ़्तार कौन रोकेगा ?
नए ख़याल की परवाज़ रोकने वालो
नए अवाम की तलवार कौन रोकेगा ?
पनाह लेता है जिन मजलिसों की तेरा निज़ाम
वहीं से सुबह के लश्कर निकलने वाले हैं।
उभर रहे हैं फ़िज़ाओं में अहमरी परचम
किनारे मशरिक और मगरिब के मिलनेवाले हैं।
हज़ारों बर्क़ गिरें, लाख आँधियाँ उट्ठें
वह फूल खिलके रहेंगे जो खिलने वाले हैं।

जगन्नाथ 'आज़ाद'

ग़ज़ल

जो दिल का राज़ बे आहओं फ़ुग़ाँ कहना ही पड़ता है
तो फिर अपने क़फ़स को आशियाँ कहना ही पड़ता है
तुझे ऐ तायरे इशाखे नशेमन क्या ख़बर इसकी
कभी सैयाद को भी बाग़बाँ कहना ही पड़ता है
यह दुनिया है यहाँ हर काम चलता है सलीक़े से
यहाँ पत्थर को भी लाले गराँ कहना ही पड़ता है

बफ़ंज़े मसलहत ऐसा भी होता है ज़माने में
के रहज़न को अमीरे कारवाँ कहना ही पड़ता है
मुरव्वत की क़सम तेरी ख़ुशी के वास्ते अक्सर
सरावे दश्त को आवे रवाँ कहना ही पड़ता है
ज़बानों पर दिलों की बात जब हम ला नहीं सकते
जफ़ा क्यों फिर वफ़ा की दास्ताँ कहना ही पड़ता है
न पूछो क्या गुज़रती है दिले ख़ुद्दार पर अक्सर
किसी बेमहर को जब महरबाँ कहना ही पड़ता है

●●

विजय चौहान

आधुनिक अंग्रेज़ी कविता

भारतीय पाठक उन्नीसवीं शताब्दी की अंग्रेजी कविता के, जिसमें वर्ड्सवर्थ, शैले, कीट्स, बायरन, टैनीसन, और ब्राउनिंग जैसे महाकवि हुए, प्रशंसक रहे हैं। प्रशंसक ही नहीं, आधुनिक हिन्दी कविता, या कहें आधुनिक भारतीय कविता पर अंग्रेजी कविता के इस रोमांटिक युग का गहरा प्रभाव पड़ा है, और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से लेकर हिन्दी के प्रसाद, पंत और निराला तक ने इस कविता से प्रेरणा लेकर अपने काव्य का रूप-संस्कार किया है। राष्ट्रीय जागृति और मुक्ति-आन्दोलन के जिस वातावरण में आधुनिक भारतीय कविता का विकास हुआ, उसकी उदात्त भावनाओं की अनुरूपता हमारे कवियों को अंग्रेजी की रोमान्टिक कविता में मिली। लेकिन आधुनिक अंग्रेजी कविता ने युद्धोत्तर युरोप के जिस सामाजिक वातावरण में जन्म लिया है उससे हमारे देश की परिस्थितियां एक बड़ी सीमा तक विपरीत हैं। इस कारण आधुनिक अंग्रेजी कविता भारतीय पाठकों को विचित्र-सी लगती है।

लेकिन पाश्चात्य पाठकों के लिए भी वह विचित्र ही रही है, क्योंकि चौसर से लेकर रोमान्टिक युग तक की काव्य-परम्परा से आमूल विच्छेद करके आधुनिक अंग्रेजी कविता ने एक नई राह पकड़ी है। केवल जान डन, वेब्स्टर और सत्तरहवीं शताब्दी के अन्य अध्यात्मवादी कवियों को ही टी. एस. ईलियट तथा अन्य कवियों ने अपनी प्रेरणा का स्रोत माना है, अन्यथा समूची अंग्रेजी कविता को "बचकाना" 'ऐन्द्रिक' या 'भावुकतापूर्ण' कह कर लांछित किया है, यहां तक कि मिल्टन और शैले जैसे लोकप्रिय कवि भी इस प्रहार से नहीं बच पाये।

इस परम्परा-विच्छेद के दो मूल कारण बताये जाते हैं। पहला तो यह कि विज्ञान ने जीवन को इतना गतिमय बना दिया है कि अब वर्ड्सवर्थ की तरह 'शान्तिपूर्ण क्षणों में बीती अनुभूति की स्मृति को जगाकर' कविता लिखने का समय नहीं रहा। ग्राम जीवन की निश्चलता का स्थान नागरिक जीवन के कोलाहल ने ले लिया है, नगरों का दृश्य-पट विज्ञान की नित नई ईजादों के कारण निरन्तर बदलता और कृत्रिम बनता जा रहा है। रोमान्टिक कवियों की तरह प्राकृतिक दृश्य आज के कवि के सहचर नहीं रहे, इस कारण कविता के पुराने उपमान भी आधुनिक जीवन के उपयुक्त नहीं रहे। आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम बने रहने के लिये नई कविता को पुरानी कविता की भावसंवलित शैली और भावुकता को त्याग कर बौद्धिक बनना होगा, क्योंकि आधुनिक जीवन के वैज्ञानिक साधनों के साथ मनुष्य का रागात्मक संबंध अभी नहीं बना है; और जब तक वह नहीं बन जाता तब तक कविता हरी घास, झरनों, पर्वतों और मेघों के भावुक और काल्पनिक गीत गा कर जीवित नहीं रह सकती; परम्परा का पिष्टपेषण जीवन और प्रगति का चिन्ह नहीं है। बर्ट्रेण्ड रसेल

न अपनी पुस्तक 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' में एक स्थान पर आधुनिक कवि की कठिनाइयों पर विचार करते हुए लिखा है कि पुराने समय में कवि जिस जीवन का चित्रण करता था, वह उसे और उसके पूर्वजों तक का जाना-पहचाना होता था। जिन वस्तुओं के चिर-संसर्ग में उसने अपना जीवन बिताया था, उनके विषय में प्रचलित भाषा का शब्द-भंडार भी उतना ही समृद्ध और भावमय होता था। लेकिन आज यह स्थिति नहीं है। कवि के सामने आज यह समस्या है कि या तो वह नित्य-परिवर्तित आधुनिक जीवन को छुए ही नहीं, या अपनी कविता में दैनिक भाषा में से नीरस और कर्णकटु शब्दों की भरती करे। तात्पर्य यह आधुनिक अंग्रेजी कविता की भाषा और शैली की विचित्रता, दुरूहता, रसहीनता और अनगढ़ता का मुख्य कारण आज का यह विज्ञान युग है।

दूसरा कारण पहले महायुद्ध को बताया जाता है, जिसने पाश्चात्य बुद्धिजीवियों के मन में पहले तो नई आशाओं का संचार किया और बाद में उन्हीं आशाओं पर निर्मम कुठाराघात किया। इंगलैंड और फ्रांस की जनता ने जनतंत्र की रक्षा और 'युद्धों का अन्त करने के लिये युद्ध' के सपने जगा कर उस नरसंहार में भाग लिया था। लेकिन ये दोनों सपने युद्धोत्तर राजनीति के यथार्थ ने चकनाचूर कर दिये। साथ ही युद्ध ने परम्परागत जीवन की समस्त मर्यादाओं, नैतिक धारणाओं और धार्मिक आस्थाओं को भी तोड़ डाला। युद्ध से लौटे आहत और विकलाङ्ग सैनिकों की भाँति कवियों की पुरानी जीवननिष्ठा, सौन्दर्यबोध और अनुभूति भी मर्माहित हो गई और उसका स्थान अनास्था, अनिश्चितता, कुंठा, आकुलता और मानवद्रोही व्यक्तिवाद ने ले लिया।

यीट्स ने प्राचीन रोम, और ग्रीस की कला और सौन्दर्य-प्रियता की तुलना में आधुनिक जीवन की छुद्रता को खेद भरे स्वर में व्यक्त किया—

"परम्पराएँ टूट रही हैं, संसार में घोर अशान्ति है,
रक्त की नदियाँ वह निकलीं, जिसमें मानव की निर्दोषता डूब गई है,
बुद्धिवादियों के पास आस्था नहीं, बुद्धिहीन अन्धी कट्टरता में फँसे हैं!"

यीट्स बीसवीं शताब्दी के संभवतः सबसे बड़े अंग्रेजी कवि हैं। उन्होंने महायुद्ध से पहले आयर्लैण्ड की लोक-परम्परा के पुनरुत्थान में योग दिया था, वे न तो आधुनिक काव्य को रसहीन और बौद्धिक बनाने के लिये दिये गये 'वैज्ञानिक यथार्थ' के तर्क से सहमत थे, और न युद्ध को कारण मानकर अनास्था और अनैतिकता के पक्षपाती बन सके, उन्होंने लिखा है 'मेरी पानी की परिभाषा, वैज्ञानिकों की परिभाषा से अलग है। मेरा पानी उस शान्त सरोवर का जल है, जिसमें रंगबिरंगी मछलियाँ तैर रही हों।" यीट्स ने यह भी कहा कि "काव्य कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति (जैसा कि नये अनास्थाशील कवि प्रतिपादित कर रहे थे) बल्कि एक आध्यात्मिक क्रिया है जिसमें कवि के आत्म-विकारों का प्रशमन होता है। व्यक्तिगत जीवन में कवि चाहे कितना ही छुद्र क्यों न हो, लेकिन उसकी रचनाएं महान और उदात्त हो सकती हैं। 'आत्म और अनात्म' के इस संघर्ष को यीट्स ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

आत्म—यथार्थ को ढूँढो, प्रत्यक्ष को छोड़ो!
हृदय—क्या कहा? फिर गीत कौन-से गायें॥

(अन्तर्द्वन्द्व)

आधुनिक सभ्यता पर व्यंग्य करते हुए यीट्स ने लिखा—

"आधुनिक सिंहासन पर बैठ कर सरस्वती के स्वर बन्द हो जाते हैं।"
"मैं अतीत के गीत गाता हूँ, मुझे आपकी सफलताओं से डर लगता है।"

मैं यहां यीट्स के नियतिवाद का उल्लेख आवश्यक समझती हूं, वे पूरी तरह युद्धोत्तर कालीन कविता की अनास्था और निराशा के स्वर में स्वर मिलाकर नहीं गा सके, यहां इतना जानना ही पर्य्याप्त है।

विल्फ्रेड ओवेन, सिगफ्रिड संसून, और रूपर्ट ब्रुक ने युद्ध को नजदीक से देखा-पहचाना था। ओवेन ने अपने कविता-संग्रह की भूमिका में लिखा, "इस संग्रह में कवितायें नहीं हैं इसका विषय है, युद्ध और युद्ध की विभीषिका। इस विभीषिका में ही सारी कविता छिपी है।"

"यदि भविष्य में इस हत्याकांड की पुनरावृत्ति न हुई तभी हम समझेंगे कि हमारा दुःख दर्द सार्थक हुआ।"

सिगफ्रिड संसून ने युद्ध का गौरव गाने वालों को धिक्कारा —

"मूर्खों ! तुम युवकों को मार्च करते देखकर जयकार करते हो,
फिर घर में दुबक कर प्रार्थना करते हो
तुम उस नर्क को क्या जानों,
जहाँ यौवन और हँसी जलकर भस्म हो जाती है।"

एक और उदाहरण देखिये—

ओ जर्मन माँ !
तुम अंगीठी के पास बैठी अपने बेटे के लिये ऊनी मोज़े बुन रही हो,
तुम्हें क्या पता,
तुम्हारा बेटा इस समय,
किसी खँदक में औंधा पड़ा है।

विल्फ्रेड ओवन ने युद्ध के प्रशंसकों की भर्तसना की—

काश ! तुम वहाँ मौजूद होते,
जब हम लोगों ने उसकी तरुण देह को गाड़ी पर लादा था।
काश ! तुम भी उसकी निष्प्राण पुतलियों को देखते,
तो फिर इतने जोश से बच्चों को युद्ध की कहानियाँ न सुनाते।"

युद्ध की विभीषिका ने इन कवियों के स्वप्न भंग कर दिये और इससे उनके मन में जो कटुता आई, वह कविताओं के रूप में व्यक्त होकर भी मानववादी पथ का अनुसरण कर सकती थी। अंग्रेजी कवि और उनकी कविता युद्ध के मूर्त्त कारणों का मूर्त और भावमय उद्‌घाटन करके मनुष्य की चेतना को गहरा बना सकती थी, ताकि इतने भीषण नरसंहारों के आयोजनों को रचने वाले केवल कुछ आकर्षक नारों का प्रचार करके लोगों में मिथ्या भ्रम और सपने न जगा पाते, और मनुष्य अपने भविष्य में पूरी आस्था रखकर शान्ति-संस्थापन के संघर्ष में भाग लेते। लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ। जिन कवियों ने युद्धोत्तर-कालीन कविता के मंच पर अपना पूरा अधिकार और प्रभाव जमा लिया, वे जीवन का एक दूसरा दृष्टिकोण लेकर सामने आये थे। उनकी चेतना पर फ्रायडीय मनोविज्ञान से लेकर, कैथोलिकमत और नीत्शे के प्रतिक्रियादी विचारों की छाप थी, जिसके कारण वे आधुनिक सभ्यता के ह्रास को ही समग्र मानव-जाति के ह्रास का प्रतीक मान बैठे। डी. एच. लारेन्स के विचार में आधुनिक सभ्यता की थोथी पोलिश मनुष्य को पौरुषहीन बना रही है, जिससे उसके मन में अनेक ग्रन्थियां पड़ जाती हैं, आधुनिक संस्कृति कृत्रिम है और मनुष्य की सहज वृत्तियों के विकास में बाधा डालती है। लारेन्स के 'प्रकृति की ओर लौट

वलो' का नारा दिया था। उस की दृष्टि में प्रकृति का का अर्थ है, यौन सम्बन्धों की स्वच्छन्दता।

लेकिन आधुनिक अंग्रेज़ी काव्य का रूप-निर्धारण वास्तव में एज़रा पाउंड और टी. एस. ईलियट ने किया। एज़रा पाउंड ने एक प्रारंभिक कविता में लिखा—

"हे ईश्वर ! हे ठगों के देवता मर्करी !
मुझे एक तम्बाकू की दुकान खोल दो !
मैं लेखक बनने से बाज़ आया !
यहाँ दिन-रात मगज़पच्ची करनी पड़ती है।"

एज़रा पाउंड ने सबसे पहले कविता में शहरी और टकसाली भाषा का प्रयोग किया। पाउंड क्षुद्र विचारों को भी दार्शनिक ढंग से कहने का प्रयास करता है, लेकिन उसका जीवन-दर्शन बोसीदा और मानवद्रोही है। पाउंड की कविता में एक ऐसे अनास्थाहीन व्यक्ति का ओछापन है जो किसी वस्तु को पवित्र नहीं समझता, जिसने मानवीय शील और मर्यादाओं को तिलांजलि दे दी है। अपनी प्रसिद्ध कविता में Scstina Altaforte में दांते का उद्धरण देकर दार्शनिक बनने का उसने ढोंग रचा है, किन्तु स्पष्ट शब्दों में युद्ध की हिमायत की है—

'भाड़ में जाओ सब ! हमारे दक्षिणी प्रदेश में शान्ति की दुर्गन्ध आती है।
अबे सूअर के बच्चे पैपियोंलस, इधर आ..........
मुझे केवल तलवारों की खड़ खड़ में ही जीवन का आभास होता है।"

टी. एस. ईलियट ने एज़रा पाऊन्ड को अपना साहित्यिक गुरु माना और उसे 'वर्तमान युग का सबसे बड़ा जीनियस' कहा है। ईलियट की सबसे प्रसिद्ध रचना 'दी वेस्टलेंड' (ऊसर भूमि) है। इस लंबी कविता में आधुनिक युग के नैतिक पतन, खोखलेपन, निष्प्रयोजनता और आध्यात्मिक कुंठा का नग्न चित्रण है। ऊसर भूमि एक संतप्त देश है, जिसके निवासी पानी की कमी से अभिशप्त हैं। अपने पापों के फलस्वरूप उन्हें तड़प-तड़प कर मरना पड़ता है। इस भूमि का ऊसरपन आध्यात्मिक है। पृष्ठभूमि में सूखी चट्टाने हैं। इस संतप्त देश का वर्णन ईलियट कभी निराशा से, कभी विक्षिप्त होकर और कभी दार्शनिक ढंग से करता है। कथावस्तु प्राचीन ईसाई 'ग्रेल की गाथा' से ली गई है। ऊसर भूमि के निवासी आस्थाहीन, दुराचारी और दुर्बलमन हैं। उनकी इच्छा-शक्ति को लक़वा मार गया है। वे चाहते हुए भी अपनी इच्छाओं को कार्यरूप में परिणत नहीं कर पाते। एक अज्ञात निरर्थकता की भावना उनके व्यक्तित्व को कुंठित और क्षुद्र बनाये हुए है। वेस्टलेंड एक विशाल रेगिस्तान है जिसमें हरियाली का नाम-निशान नहीं। ऊसर भूमि के अभागे निवासी यह नहीं जानते कि पानी उनके कितना नजदीक है (अर्थात् उनकी मुक्ति कितनी सरल है।)

ईलियट ने दिखाया है कि धनोपार्जन और सेक्स की इस युग की मुख्य प्रवृत्तियां हैं, लेकिन इन प्रवृत्तियों से आत्मा को शान्ति नहीं मिलती और सत्य की उपलब्धि नहीं होती (अर्थात् भौतिक समृद्धि और यौन-स्वच्छंदता से ऊसर देश की मुक्ति नहीं हो सकती, जो कि लारेंस के जीवन-दर्शन की आलोचना है।)

ऊसर देश की मुक्ति दया और प्रेम से ही संभव है, लेकिन सारे ऊसर देश में मुक्तिदूत को एक भी ऐसी स्त्री नहीं मिलती जिसका प्रेम वासना और पाप की छाया से मुक्त हो। इस कविता में कई स्त्रियां आती हैं, फूलों और गहनों से लदी रूपगर्विता साम्राज्ञियां और आधुनिकाएं जो दिन भर मनोरंजन और शृंगार में ही लगी रहती हैं। जिनके जीवनमें एक ही गंभीर समस्या है—'कल मैं अपने बाल किस ढंग से संवारूंगी। कल क्या करूंगी ?" एक घरेलू स्त्री है जो घरेलू क्षुद्रताओं में आकंठ

डूबी है और जो युद्ध से लौटे पति का ठीक से स्वागत नहीं कर पाती। एक टाइपिस्ट लड़की है जो बैंक के क्लर्क को आत्मसमर्पण करती है—लेकिन उसके आत्म-समर्पण में प्रेम नहीं, वासनाजन्य यांत्रिकता है। ईलियट ने उस क्षुद्रता का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है जो चरित्रहीनता से आती है। उसे मनुष्य की 'खोई हुई अबोधता' पर विक्षोभ है। टेम्स नदी लाशों से पटी है, इसी टेम्स के किनारे कभी सम्राज्ञी एलिजाबेथ और लार्ड लीसेस्टर का प्रेमालाप हुआ था। लेकिन टेम्स का गौरव नदी की पुत्रियों के रोदन में बदल जाता है।

ऊसर भूमि की शुष्कता बढ़ती जाती है। पर्वतों पर बादल गरजते हैं, लेकिन वे वर्षा के बादल नहीं। स्थिति की विडंबना को और गहरा बनाने के लिये एक पक्षी का टप-टप-टप शब्द सुनाई देता है । आखिरकार मुक्तिदूत नदी में कूदकर आत्महत्या कर लेता है। उसकी मृत्यु पर रोनेवाला भी कोई नहीं। पूंजी, सेक्स और साहस के टोटके असफल हो जाते हैं। सहसा बादलों के गर्जन में उपनिषद् का यह वाक्य सुनाई देता है। 'दत्ता, दयावान, दम्पत' (दान, दया, संयम)

कविता के एक भाग में भगवान बुद्ध के उपदेश हैं। वासना के नर्ककुंड में जलती हुई आत्माओं को बुद्ध का संदेश है, "अपने ऊपर संयम रखो!" लेकिन लोगों के स्वार्थ की आदतें पक चुकी हैं, व्यक्तिवाद ने उन्हें इतना अहंप्रिय बना दिया है कि वे अपने घोंघे से निकलकर एक दूसरे का दुःख नहीं बटाना चाहते।

'प्रफ़ोक का प्रेम-गीत' ईलियट की सबसे पहली महत्वपूर्ण कविता है। ऊसर देश की तरह इस रचना का भी आधुनिक कवियों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। इसमें ईलियट ने स्वीनी नाम के एक दुराचारी और क्षुद्र व्यक्ति के वासनापूर्ण प्रेम-संबंध को दिखाकर क्लासिकल सौन्दर्य और आधुनिक जीवन की आचारभ्रष्टता का वैषम्य चित्रित किया है। प्राचीन प्रेम-गाथाओं की बुलबुल का मधुर संगीत स्वीनी के लिये नहीं है। वह अपनी साधारणता से तंग है, फिर भी वह अपनी दैनिक क्षुद्रताओं से ऊपर नहीं उठ पाता—वह अपने से पूछता है, "क्या संसार के विधान में हस्तक्षेप करने साहस मुझमें है?" वह अपने जीवन को 'काफ़ी के चम्मचों में नाप चुका है।' उसके सामने एक ही समस्या है—

"मैं बूढ़ा हो रहा हूँ,
क्या मुझे अपनी पतलून मोड़ कर पहनना चाहिए?
बालों में माँग कैसे काढूँ? क्या नाशपाती खाना ठीक रहेगा?
मैं सफ़ेद फ़लालैन की पतलून पहनकर समुद्र के किनारे घूमने जाऊँगा।
सुनते हैं—समुद्र की परियाँ अलौकिक संगीत सुनाती हैं।
लेकिन मैं जानता हूँ—वह संगीत मुझे सुनाई नहीं देगा।"

इसी कुंठा और प्रयोजनहीनता का एक चित्र वेस्टलैंड में मिलता है। मनोरंजन के साधन, शतरंज का खेल और रेस्त्रां बन्द हो जाने के बाद आधुनिक व्यक्ति सटपटाता है। वह कोरे शब्दों का आश्रय लेता है,

'गुडनाईट बिल, गुडनाइट लू, गुडनाइट मे, गुडनाइट
टा! टा! गुडनाइट! गुडनाइट!
गुडनाइट, प्रिय महिलाओ!" (वेस्टलैंड)

आधुनिक चेतना में जो भय, विक्षिप्ति और अनास्था व्याप्त है, जिसमें व्यभिचार, भ्रूण-हत्या और स्वार्थलोलुपता का बोलबाला है, उसका ईलियट ने विशद चित्रण किया है।

'ऊसर देश' में ईलियट ने एक नये टेकनीक का प्रयोग किया। आधुनिक चित्रकला की भाँति कविता में भी तीनों तिम्तें (Three dimensions) पैदा करने की कोशिश की, जिसमें परं-परागत एक-देशीय सामंजस्य नहीं है, बल्कि अनेक पहलुओं से यथार्थ को चित्रित करना चाहा है। जेम्स जॉयस ने भी इस टेकनीक का प्रयोग अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'युलिसिस' में किया है, उसमें निम्न मध्यवर्गीय युवक की चौबीस घंटे की जिन्दगी का अत्यन्त विस्तृत विवरण है। 'ऊसर देश' में भावों का वैविध्य है, अतीत की परंपरा और आधुनिक जीवन की कुत्सा, काव्य के सुनहले आदर्श और जीवन के यथार्थ का वैषम्य दिखाने के लिये ईलियट ने अनेक लेखकों और ग्रन्थों के उद्धरणों का प्रतीकात्मक प्रयोग किया है। 'ऊसर देश' का हर वाक्य एक दृश्य-चित्र है और चित्र-पट के दृश्यों की तरह इस कविता के दृश्य भी बहुत जल्दी बदलते हैं। पाठक को उनमें अक्सर कोई संगति और तारतम्य नहीं दिखाई देता फिर भी सम्पूर्ण कविता में एक संगति है।

ईलियट ने अपने एक लेख (ड्राइडन को श्रद्धांजलि) में लिखा कि आधुनिक सभ्यता संश्लिष्ट है, इसलिए कवि को भी अन्योक्ति कथन द्वारा संश्लिष्ट चित्रण करना चाहिए। यदि आवश्यकता पड़े तो भाषा को तोड़ने-मरोड़ने से हिचकिचाना नहीं चाहिए। सत्रहवीं शताब्दी के कवि जॉन डन और अपने समकालीन कवि एज़रा पाउण्ड की तरह ईलियट की भाषा भी दुरूह और क्लिष्ट है। बहुधा विषम और विरोधी चित्रों के प्रयोग से यह दुरूहता और भी बढ़ जाती है। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि शब्द को माध्यम या साधन न मानकर साध्य मान लेने से कवि शब्दों की दासता से मुक्ति नहीं पा सकता, विशेषकर तब तो और भी जब उसके पास कहने को नया कुछ न हो।

ईलियट ने पाउण्ड से अन्य कवियों की रचनाओं के उद्धरण लेना सीखा। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि वेस्टलैंड में पैंतीस कवियों के उद्धरणों और छै विदेशी भाषाओं का प्रयोग किया गया है, जिनमें उपनिषद् से लेकर आधुनिक मनोविज्ञान के पारिभाषिक शब्द भी सम्मिलित हैं। कुछ आलोचकों ने ईलियट पर आरोप लगाया है कि उसकी कविता को समझने के लिए विश्वकोष का साथ रखना जरूरी है। स्वयं ईलियट ने भी सुझाया कि जैसी वेस्टन की प्रसिद्ध पुस्तक 'From Ritual to Romance' को पढ़े बग़ैर वेस्टलैण्ड समझ में नहीं आ सकती। ईलियट की क्लिष्टता के विषय में एक अंग्रेज आलोचक ने कहा था :

"मैं कई दिनों से ईलियट के नाटकों की प्रशंसा सुनता आया हूँ, लेकिन आज तक किसी लेखक ने यह बताने का कष्ट नहीं उठाया कि ईलियट की रचनाओं की विषय-वस्तु क्या है ?

ईलियट को शब्दों की ध्वनि से मोह है न कि उसके पीछे छिपी अनुभूति से। काव्यानुभूति की कमी वह अन्य प्राचीन कवियों के उद्धरण लेकर पूरी करता है। इसीलिए प्राचीन साहित्य से अपरिचित पाठकों को ईलियट की रचनाएँ स्वतंत्र और मौलिक दिखाई देती हैं। स्वयं ईलियट ने इस रचना-पद्धति का समर्थन किया है—"नौसिखिये कवि नक़ल करते हैं, और प्रौढ़ कवि चुराते हैं।"

ईलियट का जीवन-दर्शन मानवद्रोही और अनास्थावादी है। अभिशप्त मानवता के लिए, इसमें आशा की कोई किरण नहीं। वर्तमान युग के बुर्ज्वा जीवन-मूल्यों और संस्कृति के विघटन और कुत्सा का चित्रण करने में वह अवश्य सफल हुआ है, लेकिन कविता केवल सफ़ाई के इन्स-पेक्टर की रिपोर्ट मात्र नहीं होती। ईलियट को साधारण जनता से कोई सहानुभूति नहीं, वह उसे 'रेवड़' कह कर पुकारता है। बुर्ज्वा समाज और संस्कृति के विघटन के बावजूद साधारण जनता में भावी जीवन को अधिक मानवीय और संस्कृत बनाने के लिए जो आकांक्षाएँ इस युग में जाग्रत हुई

हैं, ईलियट उनको भय की दृष्टि से ही देखता है। उसका कहना है कि जनतंत्र में 'संस्कृति का दम घुट जाता है।' आधुनिक बुर्ज्वा संस्कृति के ह्रास का कारण भी उसे जनतंत्र ही दिखाई देता है। वह खुले शब्दों में फासिज्म का (विशेषकर फ्रान्सीसी ढंग के) समर्थन कर चुका है। आलोचक के रूप में ईलियट घोर प्रतिक्रियावादी है। मिल्टन, डिकन्स, शैले, ज्योर्ज ईलियट, हार्डी, बर्न्स, वेल्स, शॉ जैसे विश्व-विख्यात साहित्यकारों पर उसकी अपमानजनक टिप्पणियाँ किसी भी भाषा और जाति के लिए कलंक हैं।

ईलियट अपनी रचनाओं में धर्मान्धता (कैथोलिक मत और धर्म-संस्था) और सामन्तवाद का (शासनकर्त्ताओं के वंशानुगत अभिजात वर्ग के रूप में, जिसमें कवि भी शामिल हैं) प्रचार करता है। उसके विचार में 'उदारपंथी दृष्टिकोण ही मानवजाति की मुसीबतों की जड़ है।"

"दुख कल्याणकारी है, जाति द्वेष संगतिपूर्ण है।"

"फैसिज्म सत्य है", स्त्रियों को घर की चहारदीवारी के अन्दर रहना चाहिए"—इस प्रतिक्रियावादी विचारपूंजी को लेकर कोई भी कवि गुमराह हो सकता है।

प्रस्तुत लेख में ईलियट को इतना महत्व देने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि आधुनिक अंग्रेज़ी कवि एक बड़ी सीमा तक ईलियट की विचार-परिधि के अन्दर ही कुछ हेर-फेर से चक्कर काटते आये हैं। यह ठीक है कि किसी ने प्रचलित अनास्था और कुंठा के एक पहलू को अधिक चित्रित किया है, तो दूसरे ने किसी अन्य को, लेकिन समग्र रूप से ऑडेन, स्पेन्डर, लुई, मैकनीस, सेसिल डे लुईस, एडवेन म्योर, यहाँ तक कि एक हद तक एडिथ, सिटवेल और क्रिस्टोफ़र फ्राई भी इस व्यापक प्रवृत्ति के अन्तर्गत ही आते हैं। सन् ३०-४० के दशक में अंग्रेज़ी साहित्य के पाठकों को भ्रम हुआ था कि शायद ऑडेन-स्पेन्डर आदि ने अपनी धारा बदल दी है और वे ईलियट की विचार-सीमाओं का उल्लंघन करके विश्व की संघर्षशील जनता के शान्ति और जनवाद के संघर्ष में कूद पड़े हैं और मनुष्य की प्रगतिशील आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देने लगे हैं। यह भ्रम निराधार नहीं था, क्योंकि इनमें से कई कवियों ने स्पेन के गृह-युद्ध में जनतंत्रवादियों की ओर से भाग भी लिया था। किन्तु यह एक सामयिक उच्छ्वास मात्र निकला। वास्तव में यदि देखा जाय तो जीवन-वास्तव के प्रति इन कवियों का दृष्टिकोण उन दिनों भी मूलतः अनास्थापूर्ण और कुंठाग्रस्त ही बना रहा।

ऑडेन ने अपनी प्रारंभिक रचनाओं में यूरोप के सांस्कृतिक ह्रास का चित्रण करते हुए भविष्यवाणी की थी कि पुराना जीर्णशीर्ण समाज अधिक देर तक नहीं टिक सकता, वह अपनी अन्तिम साँसें गिन रहा है—आडेन की कविता में महामारी और सड़ाँध के चित्रों का बहुत प्रयोग है, क्योंकि समाज में "लकवा, कैन्सर (नासूर) और अपराध भरा पड़ा है"। आडेन इस ह्रास की प्रक्रिया से आतंकित और त्रस्त है। उसकी कविता में त्रास और चिन्ता है, न कि आशा का उन्मेष। पुराने के ध्वंस के बाद उसे कोई आशा दिखाई नहीं देती। वह स्वस्थ मानव-प्रेम के गीत भी नहीं गाता। उसे 'इंजन ड्राइवरों और फैक्टरी में काम करने वाली छोकरियों' घृणा है, क्योंकि वे "बुद्धिजीवियों के शत्रु हैं।" सन् १९३६ में आडेन ने लिखा कि "इंगलैंड के निर्धन लोग मन्द-बुद्धि और व्यर्थ के जीव हैं।" 'दी डबल मैन' (१९४१) में आडेन ने लिखा कि "कला की जीवन की समस्याओं से कोई सम्बन्ध नहीं।" वह मानव जाति को मूर्ख, सहज-विश्वासी और अश्लील समझता है और उन लोगों को कल्पना विलासी (यूरोपियन) मानता है, जो स्थायी सुख, सर्वसाधारण के लिए विटामिन और सार्वजनिक शिक्षा की कल्पना करते हैं।

स्पेन्डर ने एक कविता में लिखा :

''रेलों और पूँजी का शोर है।
भोजन, एक्सचेंज, डिबेट, सिनेमा, रेडियो......
सबसे बड़ी कुरीति शादी की है।
हमारी नींद हराम हो गई है......

लुई मैकनीस भी 'जाज् के संगीत और गितार' से तंग आ गया है। वह उन लोगों को क्षुद्र समझता है जो 'जायदाद'''चाँदी के चम्मच'''और डिनर की घंटी'''' के बग़ैर ज़िन्दा नहीं रह सकते; क्योंकि 'जीवन की ये सुखद वस्तुएँ अन्त में ज़हर और पीप बन जाती हैं।' एक और कवि ने लिखा है—

तुम्हारी सभ्यता क्या है ?
....
इश्तहारबाजी''''नासूर और पायरिया

सेसिल डे लुइस ने प्रारम्भ में कवि के सामाजिक दायित्व पर जोर दिया, लेकिन धीरे-धीरे वह भी इलियट की तरह दुरूह होता गया। अपनी प्रसिद्ध आलोचना पुस्तक 'A Hope for Poetry में' लुइस ने लिखा, 'कविता समझने के लिये भी उतना ही मनोयोग, ट्रेनिंग और सब्र चाहिये जितना कि कविता लिखने के लिये, अर्थात् कविता केवल सुसंस्कृत और अभिजातवर्ग के लिये है, साधारण लोग उसे नहीं समझ सकते, कविता गलित नहीं एलजब्रा है।'

लुइस की कविता भी आध्यात्म के दलदल में धँसती गई, यहाँ तक कि वह मृत्यु और युद्ध को माल्थस की तरह महान शोधक शक्ति मानने लगा। उसने इस मृत्यु-कामना को 'New Year's Eve' नाम की कविता में इस प्रकार व्यक्त किया है—

मनुष्य के अभिशाप से हम बँधे हैं—
अपने भविष्य में जो रहने के लिए, जो निश्चय ही
अपनी मत्यु के लिए रहना है—इसी कारण हम वर्तमान
का आलिंगन सह लेते हैं,
लेकिन अपने से इतर की कामना करते हुए।

इस प्रकार की मृत्यु-कामनाएँ आधुनिक अंग्रेजी कविता में विरल नहीं हैं। जीवन को निरर्थक मानकर चलने पर 'वर्तमान के लिए जीवित न रहने' और मृत्यु की कामना करते रहने की प्रवृत्ति स्वयं ही प्रबल हो जाती है।

'साहित्य जीवन की आलोचना है'—इस परिभाषा के अनुसार आधुनिक अंग्रेजी कविता को, उसमें व्यक्त घोर अनास्था, कुंठा त्रास और नैराश्य के बावजूद ह्रासोन्मुखी बुर्ज्वा समाज की कड़ी आलोचना कहने में भी औचित्य होता, यदि यह आलोचना साधारण जनों के दृष्टिकोण से की गई होती। लेकिन अधिकांशतः यह आलोचना एक ऐसे दृष्टिकोण से की गई है, जो सामाजिक जीवन की प्रगति के लिए घातक है। उदारपंथी विचार-धाराओं और जनतांत्रिक पद्धतियों का व्यंग और एक वंशानुगत अभिजात वर्ग की आकांक्षा आधुनिक अंग्रेजी कविता के दृष्टिकोण और उसकी विचार-वस्तु में कोई ऐसा मानवीय तत्व रहने देती जिससे इस कविता को एक आलोचनात्मक सामाजिक दस्तावेज़ का दरजा भी दे सकें। काव्यत्व तो उसमें नहीं के बराबर है ही, चाहे भाषा पहले से समृद्ध और शब्दावली अधिक संयत, नपी तुली और बौद्धिक क्यों न हो।

एडिथ सिटवेल, एडविन म्योर और क्रिस्टोफर फ्राई की कविताओं का स्वर इतना मानव-द्रोही और कुंठाग्रस्त नहीं है। एडिथ को जीवन के उल्लास और ध्वनि से प्रेम है। उनकी कविता में उतनी निराशा भी नहीं है, बल्कि कहीं-कहीं संगीत और रंगों की छटा का कौशल है। एक वृद्धा स्त्री (१९४०-४५) का चित्र है :

'मैं वृद्धा हूँ, मेरा हृदय सूरज की तरह है
जिसने जीवन में बहुत दुख देखा है
फिर भी उसकी चमक में अन्तर नहीं आया।''

एडविन म्योर नये 'गृहविहीन' युग का प्राणी है। उसकी कविता में पर्याप्त बौद्धिक गहराई है, और वर्ड्सवर्थ जैसी सरलता और ईमानदारी भी है। उसने अपनी कविता में जीवन के नैतिक मल्यों को एक दम तिलांजलि भी नहीं दी। जिन कवियों ने ईलियट से प्रेरणा लेकर भी ईलियट से विद्रोह किया, उनमें क्रिस्टोफ़र फ्राई प्रमुख है। उसके काव्य-नाटक प्रसिद्ध हैं। उनकी शैली सरस और रोचक है। उसने जीवन के अनेक सजीव कल्पना-चित्र खींचे हैं : वीनस आब्जर्व्ड में ड्यूक कहता है—

''हम भविष्य की ओर जा रहे हैं
पृथ्वी के सातों समुद्र, आकाश गंगा, प्रातः संध्या
सभी भविष्य के गर्भ में छिपे हैं
अतीत में सिवा अतीत के कुछ नहीं
रोज़ाबेल ! जाओ ! तुम भी संसार के साथ आनन्द मनाओ !''

आधुनिक अंग्रेजी कविता में जीवनोन्मुखी, मानवतावादी प्रवृत्ति अभी पूरी तरह उभर नहीं पायी। अभी तो अनस्था और मानवद्रोह की प्रवृत्तियों का ही जोर है (जिसका अनुकरण हिन्दी में भी इधर होने लगा है, यद्यपि यहाँ की परिस्थिति में इस तरह का मानवद्रोही स्वर बेसुरा ही नहीं अराष्ट्रीय भी लगता है)।

अन्त में मैं केवल इतना कहूँगी कि आधुनिक अंग्रेजी कवियों के भाषा-प्रयोगों और शैली से मुझे विशेष आपत्ति नहीं। इन प्रयोगों ने अंग्रेजी भाषा की अभिव्यंजना शक्ति को बढ़ाया है, और इस प्रकार यह विकास ही कहा जायगा। मुझे यदि आपत्ति है—और मैं समझती हूँ कि मेरे जैसे असंख्य स्वस्थमना पाठक भी ऐसा अनुभव करते हैं—तो उनके मानवद्रोही जीवन-दर्शन और वर्तमान जीवनके प्रति अनुत्तरदायित्व की भावना पर। वे अपने मानवद्रोह के लिए आधुनिक विज्ञान और युद्ध के जिम्मेदार ठहराते हैं। यह एक विचित्र तर्क है, जिसमें ईमानदारी की गन्ध नहीं है। इस युग के ही वेल्स और शॉ को विज्ञान और युद्ध मानवद्रोही नहीं बना पाए, बल्कि मानव-जाति को समृद्ध और संस्कृत बनाने में विज्ञान ने जो योग दिया है, उसको उन्होंने सराहा। विज्ञान और कला को परस्पर-विरोधी रूप में देखना अपने मानवद्रोही दृष्टिकोण के लिए औचित्य खोजना भर है। विज्ञान और युद्ध की विभीषिका आधुनिक कवि की मानवता को चुनौती थी, किन्तु उसने इस चुनौती को स्वीकार न करके मानव-मात्र से ही द्रोह करने की ठान ली।

मेरी दूसरी आपत्ति यह है कि 'परम्परा की रक्षा' का नारा उठाते हुए भी इन कवियों ने अधिकतर काव्य की मानवादी परम्परा से द्रोह किया है। वे परम्परा के नाम पर केवल औपचारिक रूप से कभी रोम के प्राचीरों की शरण लेते हैं, कभी मैक्सिको की गुफाओं की और कभी उद्धरणों की। शब्दों से जूझते-जूझते सचमुच वे इलियट की तरह शब्दों के दास हो गये हैं। आज की विक्षुब्ध मानवता के लिए उनके पास कोई सन्देश या नई अनुभूति नहीं है।

सम्पादकीय

कविता में 'प्रगति' और 'प्रयोग' की समस्या

हिन्दी कविता में 'प्रगति' और 'प्रयोग' शब्दों का इस्तेमाल लगभग दस-पन्द्रह वर्षों से होता आ रहा है—प्रायः इस रूप में जैसे ये दोनों सर्वथा भिन्न वस्तुएं हैं। हमारी साहित्यिक विचारणा में इन शब्दों को इतनी धूमधाम से प्रवेश कराने वाले चिन्तकों और रचनाकारों के अपने-अपने आग्रहों-दुराग्रहों और उनको लेकर चलने वाली निरंतर की तनातनी के परिणामस्वरूप पाठकों में यह व्यापक धारणा बन गयी है कि 'प्रगति' का सम्बन्ध कविता की वस्तु (कन्टेंट) से है और 'प्रयोग' का सम्बन्ध कविता के बाह्य रूपाकार (फार्म) से है।

किसी गहरी अनुभूति की कलात्मक अभिव्यंजना के बिना भी, कविता में यदि 'सही' मानववादी दृष्टिकोण या 'सही' वामपक्षीय राजनीतिक विचार पद्य-बद्ध हैं, तो उन हल्की-फुल्की तुकबन्दियों को 'नये युग' की कविता घोषित करने में हमारे कतिपय प्रगतिवादी आलोचक संकोच नहीं करते, और समझते हैं कि कोरे साधारणीकृत विचारों, सिद्धान्तों और वक्तव्यों में 'आगे बढ़ते जाने' या 'लड़ते जाने' के गर्वोक्तिपूर्ण उद्‌गारों और 'अंधेरा-सबेरा' की टकसाली चित्र-कल्पनाओं को यांत्रिक ढंग से जोड़कर तुकों की बन्दिश में बांध देने या मुक्त-छन्द के रूप में लिख देने भर से ही कविता में 'प्रगति-तत्व' पैदा हो जाता है। ऐसी स्थिति में काव्य की किसी भी सौन्दर्य-परक कसौटी पर इन पद्यात्मक रचनाओं को परखने का प्रश्न नहीं रहा, क्योंकि अमूर्त विचार-वस्तु की शुष्क और यथातथ्य नीरस व्यंजना भी उनकी दृष्टि में स्पृहणीय दिखायी देती है। 'सही' सिद्धान्त-कथन ही इन रचनाओं का जैसे औचित्य हो। गत पन्द्रह वर्षों में प्रगतिवादी कवियों की कविताओं के अनेक संग्रह छपे हैं। उनमें कुछ श्रेष्ठ और सशक्त कविताएं भी हैं, किन्तु अधिकतर ऐसी हैं, जिन्हें पढ़कर यह धारणा ही पक्की होती है कि इन कवियों ने काव्य के रूपाकार (फार्म) को विकृत और सतही बनाने में जैसे एक दूसरे से होड़ लगा रखी है।

प्रयोगवादी, इसके विपरीत, 'प्रयोग' का संबंध केवल कविता के रूपाकार (फार्म) तक ही सीमित रखने पर ज़ोर देते आये हैं। यह सच है कि रूपगत प्रयोगों को ही वे 'साध्य' घोषित नहीं करते, किन्तु वे प्रयोग किस विशेष 'वस्तु-सत्य' की अभिव्यक्ति के 'साधन' हैं, इसे वे कभी खुलकर बताते भी नहीं और न 'वस्तु' और 'रूप' के अंगांगि संबंध पर ज़ोर ही देते। वे अपने को 'राहों का अन्वेषी' तो कहते हैं, लेकिन राजनीतिक विश्वासों की भिन्नता के आधार पर कम्युनिस्ट से लेकर अमरीकी साम्राज्यवाद तक के हिमायती इन प्रयोगवादी कवियों की विभिन्न 'राहें' उन्हें कहां, किस ओर ले जाती हैं, उनका गन्तव्य क्या है, यह गन्तव्य उनके काव्य के रूपगत प्रयोगों से निर्णीत होगा या काव्य-वस्तु से, इन सभी संगत प्रश्नों पर वे अपनी व्याख्याओं में मौन ही रहते आये हैं।

अपने पन्द्रह-वर्षों के 'प्रयोगों' और 'राहों के अन्वेषणों' के फलस्वरूप उन्होंने आज तक साहस करके यह नहीं कहा कि उनकी कविता में 'युग-सत्य' की अभिव्यक्ति होने लगी है। लगता है जैसे वे समझते हैं कि काव्य-वस्तु की ओर से उदासीन रहकर भी, केवल नये शब्द-चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य, चित्रों और ध्वनियों की अभिनव योजना के सहारे ही कविता में 'प्रयोग' को सार्थक बनाया जासकता है। ऐसी स्थिति में काव्य और सौन्दर्य की किसी भी वस्तु-परक कसौटी पर इन 'प्रयोगों' को परखने का प्रश्न नहीं रहा, क्योंकि अभिव्यक्ति में किसी भी प्रकार की सार्थक अथवा निरर्थक नवीनता ही उनकी दृष्टि में स्पृहणीय दिखायी देती है। साहित्य के श्रेय-प्रेय से परे की यह रूपगत नवीनता ही इन कविताओं का जैसे औचित्य हो। गत पन्द्रह वर्षों में प्रयोगवादी (?) कविताओं के जो कतिपय संग्रह छपे हैं, उनमें कुछ कविताएँ सार्थक और सफल भी हैं, किन्तु अधिकतर ऐसी हैं, जिन्हें पढ़कर पाठकों की यह धारणा ही पक्की होती है कि इन कविताओं ने काव्य-परम्परा से विच्छेद करने के साथ ही काव्य-वस्तु (कन्टेन्ट) को विकृत और सतही बनाने में एक-दूसरे से होड़ लगा रखी है।

हिन्दी कविता, इस प्रकार, दोनों दिशाओं से एकांगी बनती जा रही हैं। 'प्रगति' और 'प्रयोग' के समर्थकों की काव्य-दृष्टियों में और भी अनेक मौलिक भेद हैं, किन्तु यहाँ केवल इतना सूचित कर देना ही हमें अभीष्ट है कि 'प्रगति' या 'प्रयोग' के नारे उठा कर हमारे तरुण कवियों नें कविता के साथ गत वर्षों में जैसा खिलवाड़ किया है, वह हिन्दी-पाठकों को दायित्वहीन और एक सीमा तक उच्छृंखल भी लगा है। इन कविताओं में उन्हें न रस मिलता है, न कोई गहरा व्यापक अनुभव ही, जो उनकी मूक भावनाओं और वस्तु-सत्य की अरूप अनुभूतियों को वाणी और रूप देकर प्रकाशति कर दे। यहाँ कविता की सरलता और दुरूहता का प्रश्न नहीं है, न कवि के समष्टिवादी या व्यष्टिवादी दृष्टिकोण का, न पुरानी या नयी पद्धति का, और न बहुसंख्यक पाठकों में रुचि की गिरावट या समान-धर्मा अभिजात वर्गीय पाठकों की अल्प संख्या का ही। यह सब प्रश्न तभी उठते हैं जब कविता वास्तव में 'कविता' हो—अमूर्त्त विचारों की तुक-बन्दी या कोरा वाग्वैचित्र्य न हो।

इस युग में कविता का स्तर गिर गया है और पाठक उससे विमुख हो गये हैं। आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस (इंगिलिस्तान) ने अपनी रिपोर्ट में स्वीकार किया है कि अंग्रेजी के पाठकों ने जैसे सर्वसम्मति से कटिबद्ध होकर आधुनिक कविता से (जो इज़रा पाउण्ड, टी० एस० ईलियट और उनसे प्रभावित कवियों की प्रयोगवादी कविता है) पीठ फेर ली है। कविता अब बिकती ही नहीं। अमरीका के बारे में भी लुई अन्टरमियर की ऐसी ही रिपोर्ट है। दक्षिणी अमरीका के बारे में चिली के नोबल पुरस्कार-विजेता कवि ग्रेबीता मिस्त्राल का कहना है कि वहाँ भी कविता ह्रास-ग्रस्त है क्योंकि कोई महान प्रतिभा का नया कवि नहीं पैदा हो रहा, और कविता का स्तर दिनोदिन गिरता जा रहा है। सोवियत् रूस में भी मायाकोव्स्की के बाद अभी तक कोई बड़ी प्रतिभा का नया कवि नहीं पैदा हुआ। हमारे यहां भी, प्रसाद, पंत, निराला के बाद, 'प्रयोग' या 'प्रगति' की समस्याओं से जूझने वाले नये कवियों की पीढ़ी में कोई वास्तविक प्रतिभा का नया कवि नहीं पैदा हुआ। यह गिरावट सार्वत्रिक है। और विचित्र बात तो यह है कि इस गिरावट का कारण दोनों विचार-कोणों के समर्थक केवल बाह्य ही बताते हैं; वह भी जो समष्टिवादी हैं और वह भी जो व्यष्टिवादी हैं। दोनों ही इस गिरावट की जिम्मेदारी समाज के कन्धों पर डाल कर अपनी अक्षमताओं के लिए औचित्य ढूँढ़ लेते हैं।

'प्रगति' के समर्थक, जो अधिकांशतः साम्यवादी हैं, समाज-विज्ञान के अध्येता हैं, जिन्होंने व्यक्ति और समाज तथा कला और समाज के पारस्परिक संबंध की सारी गुत्थियों को वैज्ञानिक रीति से सुलझा कर ऐसे सटीक फार्मूले तैयार कर लिए हैं कि कोई बात उनकी चेतना में अस्पष्ट या व्याख्यापेक्षित नहीं रही, उनका कहना है—और अपनी जगह पर सही कहना है—कि वर्तमान पूंजीवादी समाज के वैषम्यपूर्ण वर्ग-संबन्धों की आधार-शिला मनुष्य द्वारा मनुष्य का श्रम-शोषण करके मुनाफा कमाना है। वर्तमान समाज की चरम सीमा पर पहुंची हुई इस व्यवसायिक वृत्ति के कारण ही कविता और कलाओं में ह्रास हो रहा है। विज्ञान-युग के सांस्कृतिक साधनों (रेडियो, फिल्म, प्रेस,) पर पूंजीपतियों की इजारेदारी है, जो अपने मुनाफे के लिए और अपने वर्ग का अस्तित्व कायम रखने के लिए इन साधनों के द्वारा जैसा साहित्य और जैसी कला को प्रोत्साहन दे रहे हैं, वह जनता की वस्तु-सत्य की चेतना को कुंठित करती है, उसकी कला-रुचि को विकृत और अश्लील बनाती है, उसके मनमें बुर्जुआ भ्रमों की जड़ें पक्की करती है। लेखक और कलाकार भी इस 'बाजार' के ही आश्रित हैं और ऐसी कृतियों की रचना करने के लिए विवश हैं, जो इन साधनों के स्वामियों को अधिक से अधिक लाभ दिला सकें। ऐसी स्थिति में कला का स्तर गिर जाना स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त, लेखक और कलाकार स्वयं पूंजीवादी भ्रमों और मनोवृत्तियों से मुक्त नहीं हुए हैं, और वे वर्तमान समाज की कलाघाती व्यवसायिक वृत्ति और वर्ग-वैषम्य के प्रति पूरी तरह सचेत भी नहीं हैं, अर्थात् समाजवाद के लिए संघर्ष करने वाली जनता के साथ नहीं हैं।

किन्तु कविता की जिन धाराओं की हम यहां चर्चा कर रहे हैं—प्रगति और प्रयोग की धाराएं—उन पर यह वैज्ञानिक विवेचन पूरी तरह लागू नहीं होता। सबसे पहले, 'प्रगति' के समर्थक तो सचेतन कवि और लेखक हैं, वर्ग-समाज के वैषम्य की जांच-पड़ताल में ही उनका अधिकांश समय बीतता है, और उन्हें इस बात पर गर्व भी कम नहीं है कि वे पूंजीवादी भ्रमों और मनोवृत्तियों से अपने को मुक्त करके जनता के साथ एकजूट होकर समाजवाद के लिए संघर्ष कर रहे हैं। किन्तु फिर भी, उनकी कविता—केवल भारत में ही नहीं, बल्कि वहां भी जहां मनुष्य पूंजीवाद के वर्ग-सम्बन्धों को मिटाकर नये समाज का निर्माण कर रहा है—एक बड़ी सीमा तक रसहीन और रूपहीन है, सो क्यों? कम से कम उनकी कविता को तो पूंजीवादी व्यवसायिकता से उत्पन्न ह्रासोन्मुखता का अपवाद होना चाहिए था। दूसरी बात यह कि, 'प्रयोग' के समर्थक कवियों ने, वे चाहे जिस शैली के हों—प्रतीकवादी, रूपचित्रवादी या अभिव्यंजनावादी—वे सब पूंजीवादी मनोवृत्ति और दृष्टिकोण से चाहे जितने आक्रान्त हों, उन्होंने व्यावसायिक लाभ के लिए क्वचित ही कभी लिखा है। उनकी कविता 'पापुलर' नहीं है, जिस तरह सनसनीखेज उपन्यास होते हैं। बल्कि सच तो यह है कि फ्रांस, इंग्लैण्ड या स्वयं हमारे देश में भी, व्यावसायिक लाभ की दृष्टि से रचे गये 'पापुलर साहित्य और कला' की तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में ही 'कला कला के लिए' का नारा उठाया गया था, जो आगे चलकर अनेक रूपवादी शैलियों का जनक बना। रूपगत प्रयोग ही मुख्यतः इस प्रतिक्रिया के माध्यम बने। सभी जानते हैं कि प्रयोगवादी रचनाएं प्रकाशकों के लिए मुनाफे की वस्तु नहीं रहीं। इसलिए 'प्रगति' के समर्थकों का वैज्ञानिक तर्क वर्तमान काल में कविता के स्तर की गिरावट का सही-सही निदान करने में समर्थ नहीं है।

'प्रयोग' के समर्थक, जो अधिकांशतः व्यष्टिवादी हैं, मनोविज्ञान (विशेषकर फ्रायडी मनोविश्लेषण शास्त्र) के मननशील अध्येता हैं, जिन्होंने व्यक्ति के अचेतन मानस की ज्ञात और अज्ञात कन्दराओं में (आत्मापेक्षण द्वारा) घुसकर मनुष्य के जैवी-स्तर की पाशविक वृत्तियों और ग्रन्थी

काम-वासनाओं का साक्षात्कार किया है, जो वास्तविकता को अपने से बाहर नहीं, अपने मन के भीतर ही देखते हैं, जो व्यक्ति मानस को ही समस्त घटनाओं और संघर्षों का केन्द्र और कारण मानते हैं, जो व्यक्ति-सापेक्ष विशिष्ट अनुभूतियों को ही निरपेक्ष सत्य समझते हैं, जिनके लिए कला केवल व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति का ही साधन और साध्य है, जिन्हें अपनी कला पर समाज और उसकी नैतिकता की छाया पड़ जाना भी स्वीकार नहीं है, उनका भी कहना है कि वर्तमान युग में विज्ञान की ईजादों और युद्ध की विभीषिकाओं ने व्यक्ति की सत्ता को आमूल झकझोर दिया है। विज्ञान ने धर्म और ईश्वर की जड़ों पर कुठाराघात करके मनुष्य से उसकी आस्था का सम्बल छीन लिया है और इसके बदले में व्यक्ति को इस अनन्त ब्रह्माण्ड में मनुष्य-जीवन की अकिंचनता का आभास देकर उसकी चेतना को अवसन्न कर डाला है। जड़ प्रकृति के इस अनन्त आँचल में कण-तुल्य मनुष्य के अस्तित्व का मूल्य ही क्या ? मानव-समाज के उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करने के ये सब सपने, योजनाएँ, संघर्ष और क्रान्तियाँ किस हेतु हैं, जब कि जीवन-मात्र एक आकस्मिक घटना है और अचेतन प्रकृति के एक ही आकस्मिक आलोड़न में सदा के लिए उसका अन्त हो सकता है ? युद्ध की विभीषिकाओं, क्रान्तियों और नये सर्व-संहारी अणु-अस्त्रों के निर्माण ने मानव-सभ्यता और संस्कृति को ही नहीं, व्यक्ति-जीवन के अस्तित्व और उसकी सम्भावनाओं तक को भी अनिश्चित बना दिया है। इस अनिश्चितता ने समाज में मरण-भावना के प्रति गहरी आसक्ति पैदा कर दी है। मरण-भावना यों भी, मनोविज्ञान के अनुसार, मानव-मन की एक मूल-वृत्ति है। किन्तु आज अणु-बम या प्रकृति के कोप से मरने का त्रास ही व्यक्ति को नहीं सता रहा। फ्रायडी मनोविज्ञान ने व्यक्ति को जीते जी मरने के—एक बार नहीं बल्कि अनेक बार—त्रास के प्रति भी सचेत कर दिया है, अर्थात पुंसत्वहीनता के भय के प्रति, जो युद्ध, क्रान्ति या महामारी में मरने से कहीं भयंकर है। इसलिए इस युग में व्यक्ति के लिए अपने अस्तित्व की चिन्ता ही सबसे बड़ी और मौलिक चिन्ता है। पुंसत्वहीनता का भय ही सबसे बड़ा भय है। इस चिन्ता और भय के विरुद्ध अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित करने के लिए आज लेखक और कलाकार विवश है। नैतिकता-अनैतिकता का प्रश्न उसके सामने नहीं है। उसे इस बात से प्रयोजन नहीं कि उसकी कला स्वस्थ है या अस्वस्थ, सरल है या दुरूह, क्योंकि वह ईमानदारी से अपने मन की प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के लिए प्रयोग करता है। अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का मार्ग उसके पास और है भी क्या ? अपने को स्वस्थ, आस्थाशील, मानववादी या नैतिक दिखाने के लिए वह अपनी कला पर किसी बाहरी सिद्धान्त या दृष्टिकोण का रंग नहीं चढ़ाता, क्योंकि ऐसा करके वह अपने प्रति ईमानदार नहीं रह सकता और न अपनी आत्मा के सत्य को व्यक्त करके अपने व्यक्तित्व को ही प्रमाणित कर सकता है। वह किसी और की बोली में क्यों बोले ? वह किसी भी समाज-स्वीकृत भावना, विचार, रूढ़ि या नीति का पिष्ट-पेषण या चर्वित-चर्वण क्यों करे ? इस लिए उसके प्रयोग मुख्यतः कला के रूप तक ही सीमित हैं—ऐसे रूप की सृष्टि तक जो व्यक्ति-कलाकार की विशिष्ट मानसिक स्थितियों की संश्लिष्टता को झलका सके। उसकी कविता समाज-वास्तव द्वारा आरोपित बाध्यताओं और विवशताओं की कविता है। आलोचक यदि कहते हैं कि यह कविता का ह्रास है तो वे जानें, कवि इससे परेशान नहीं। साधारण पाठक यदि उसकी कविता को नहीं समझ पाते, तो यह उसे अभीष्ट नहीं। समानधर्मा अभिजातवर्ग का एक छोटा-सा वर्ग भी उसे समझ जाय तो उसके प्रयोगों का औचित्य है। (सच तो यह है कि समान-धर्मा पाठक भी कवि के मन की विशिष्ट प्रतिक्रियाओं को ठीक-ठीक नहीं समझ सकते, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के विशिष्ट अनु-

भव की अपेक्षा में ही किसी अन्य की बात को समझता है, अतः एक प्रयोगवादी कवि की विशिष्ट मानसिक प्रतिक्रियाओं को प्रत्येक समान-धर्मा पाठक भी अपने ढंग से ही समझेगा, जो कि सम्भव है कवि के मन्तव्य और मनोभाव से बिलकुल भिन्न हो।)

किन्तु 'प्रयोगवादी' जब इस प्रकार की बौद्धिक दलीलें देता है तो स्वयं अपने व्यक्तिवाद की कब्र खोद कर उसमें कूद पड़ता है। यह मान लेने पर कि विज्ञान की ईजादों और युद्ध की विभीषिकाओं ने अनिश्चितता और भय का वातावरण पैदा कर दिया है, जिससे समाज में कुंठा, निराशा, मरण-भावना, हिंसा, पर-पीड़न, अनास्था, यौन-उच्छृंखलता, स्वार्थपरता और मानवद्रोह की भावनाएं ऊपर से नीचे तक व्याप्त हो गई हैं; क्या प्रयोगवादी कवि का केवल अपनी आत्मा के सत्य को व्यक्त करने या अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का यह सारा आडम्बर एक भयंकर आत्म-प्रवंचना का प्रमाण नहीं देता ?—क्योंकि प्रयोगवादी कविता में अधिकतर इन भावनाओं की ही अनुगूंज रहती है। व्यक्ति-कलाकार की आत्मा के विशिष्ट सत्य जैसी कोई चीज़ इन रचनाओं में कौन-सी होती है ? माना कि ये भावनाएं सामाजिक नहीं हैं, नैतिकता की दृष्टि से अ-सामाजिक, अ-नैतिक और अ-मानवीय हैं, किन्तु प्रयोगवादियों के ही कथनानुसार वे समाज में व्यापक रूप से प्रचलित तो हैं और सामाजिक कारणों से ही तो उत्पन्न हुई है ? तो क्या उनका अ-सामाजिक, अ-नैतिक और अ-मानवीय होना ही उनकी 'विशिष्टता' का प्रमाण है, जिससे प्रयोगवादी उन्हें अपनी 'आत्मा का विशिष्ट सत्य' बनाने के लिए इतना उतावला रहता है ! उसका ईमानदारी का सबूत क्या मनुष्य की पशुता को उघाड़ने में ही है ? अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का यही तरीक़ा उसके पास शेष रहा है ? इन प्रश्नों से कतराने के लिए ही वह केवल 'प्रयोग' पर ज़ोर देता है, ताकि पाठक भ्रम में पड़कर केवल वचन-भंगिमा, शब्दों की विचित्र योजना, उक्ति की वक्रता और लय की नवीनता को ही, अर्थात् अभिव्यक्ति के विशिष्ट ढंग को ही उसकी 'आत्मा के विशिष्ट सत्य' और अपने 'व्यक्तित्व को प्रमाणित' करने की चेष्टा का पर्याय मान लें और उसकी कविता में निहित मानव-जीवन और जगत के प्रति कवि के वक्तव्य, भाव, स्वर और अन्तर्दृष्टि के वास्तविक स्वरूप को पहचानने की चेष्टा न करें, अर्थात् उसकी वस्तु को न जाचें। दूसरे, जिन सामाजिक बाध्यताओं और विवशताओं का प्रयोगवादी उल्लेख करते हैं, वे गत पन्द्रह वर्षों या बीसवीं शताब्दी की कोई आकस्मिक उपज नहीं हैं। अनेक युगों में, अनेक बार लोगों को अपने समय की चेतना की अपेक्षा में प्रत्यक्षतः दुर्निवार समस्याओं और संकटों का सामना करना पड़ा है। वर्ग-समाज की विषमताओं के बीच प्रगति करने वाले मनुष्य के सामने संघर्ष, युद्ध और क्रान्तियां कब नहीं रहीं ? किन्तु जितनी बड़ी समस्याएं रहीं, उनका मुक़ाबला करने के लिए सामूहिक रूप से मनुष्य उतनी ही बड़ी शक्ति को उत्पन्न करने में भी समर्थ होता रहा। उन युगों के महाकवियों और कलाकारों ने अपने व्यक्तिगत सुख-दुःखों की संकीर्णताओं से उतना ही ऊपर उठ कर चेतना-प्रेरक, प्राणवान् और जीवनाकांक्षी काव्य और कला की महान कृतियों का निर्माण किया—आखिर समस्याएं और संकट भी तो मानवकृत ही थे और आज भी हैं। आज भी मनुष्य युद्ध की विभीषिकाओं से बचने और अणु-शक्ति के विध्वंसक उपयोग को रोकने के लिए सामूहिक रूप में शान्ति-संघर्ष में अपनी अपार शक्ति को तोल रहा है। समाज-वास्तव का यह भी तो एक पहलू है—अधिक सत्य, चेतन और आशामय, जो कुंठाओं से मेघाच्छन्न नहीं है। इसलिए 'प्रयोग' के समर्थकों की बौद्धिक दलीलें वर्तमान काल में कविता के स्वर की गिरावट का सही सही निदान करने में समर्थ नहीं हैं।

इस प्रसंग में एक बात और उल्लेखनीय है—सामान्य पाठकों के प्रति दोनों वर्ग के कवियों और आलोचकों का आत्मश्लाघा से भरा तिरस्कारपूर्ण, नक्कूशाही दृष्टिकोण, जिसे अंग्रेजी में 'स्नॉबरी' कहते हैं। दोनों के पाठक अलग-अलग 'बन्द दायरे' के विशिष्ट पाठक हैं—प्रगतिवादी कवि केवल वर्ग-संघर्ष में भाग लेने वाले कार्यकर्त्ताओं तक ही अपनी रचनाओं को प्रेषित करते ह, क्योंकि केवल वे ही अपनी उत्तेजित मनोदशा में इन पद्यबद्ध वक्तव्यों को पढ़कर पुलकित होते हैं। उन्हें कविता या साहित्य से कोई स्थायी मूल्य का अनुभव पाने की अपेक्षा नहीं रहती, इसलिए वे अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के प्रति प्रायः उदासीन होते हैं। उन्हें तो अधिकतर कामचलाऊ चीजें चाहिए, जिनका उपयोग वे तुरन्त किसी मंच पर कर सकें। इस तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति करके ही 'प्रगति' का समर्थक कवि अपने को पाँच सवारों में गिनने लगता है, चाहे साधारण पाठक (जो अधिकांशतः शोषित वर्गों के ही हैं) स्वतंत्र रूप से उसकी रचनाओं को पढ़ कर द्रवित और रस-विभोर न होते हों। इन कवियों के अहंकार को प्रोत्साहन देने और साधारण पाठकों के सहज विवेक और सौन्दर्यबोध को कुंठित करने के लिए 'प्रगति' के वकील (ऐपॉलोजिस्ट) आलोचकों और सम्पादकों का एक गिरोह पैदा हो गया है। उनका तर्क-जाल इन कवियों को भी गुमराह करता है और पाठकों में भी हीन-भावना पैदा करके एक विकृत और छिछली कला-रुचि फैलाता है। उनके तर्कों का सार यह है—'तुम्हें (साधारण तथा प्रबुद्ध पाठकों को) ये प्रगतिवादी कविताएँ पसन्द नहीं हैं? इन में रस नहीं मिलता? तो निश्चय ही तुम प्रतिक्रियावादी हो, तुम्हारे संस्कार बुर्ज़ुआ हैं, तुम 'कला कला के लिए' के समर्थक हो, कलावादी हो, रूपवादी हो, जनता से विमुख हो, जनता की अनलंकृत भाषा के विरोधी हो। तुम सत्य नहीं चाहते, केवल शब्दों का इन्द्रजाल तुम्हें रुचता है। क्या कहा? सत्य चाहते हो, जनवादी हो? तो फिर इन कविताओं में 'सत्य' ही तो व्यक्त है! ये कवि ही तो सच्चे जनवादी हैं! कबीर, तुलसी और भारतेन्दु अपने समय के सच्चे जनवादी कवि थे, उन्होंने जनभाषा में लिखा, उनकी परम्परा को वर्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुसार ये कवि ही तो विकसित कर रहे हैं। ये कविताएँ तुम्हें अभी नहीं रुचतीं, क्योंकि तुम अभी इस युग की समस्याओं के प्रति सचेत नहीं हो, लेकिन भविष्य की कविता पलायनवादी और कल्पना-लोक में विहार करने वाली नहीं होगी, बल्कि उसमें जीवन के ठोस यथार्थों की अभिव्यक्ति होगी, जो इन कविताओं में पर्याप्त है।' इस प्रकार के युक्ति-युक्त लांछनों और उपदेशों को सुनकर इस कविता को तुच्छ और रद्दी कहने का साहस किसे होगा? साधारणतया कोई व्यक्ति अपने को प्रतिक्रियावादी नहीं मानना चाहता।

इसके ठीक विपरीत, प्रयोगवादी कवि अभिजातवर्ग के उन अल्पसंख्यक पाठकों तक ही अपनी कविता को प्रेषित करते हैं, जो एक ओर तो अपने उपजीवी और निठल्ले जीवन के कारण भावना से उच्छृंखल और दायित्वहीन हैं, दूसरी ओर वर्तमान पूंजीवादी समाज के अन्ततः ह्रास की आशंका से संत्रस्त और उद्भ्रान्त भी हैं। ऐसे ('समानधर्मा') पाठकों को सार्थक या निरर्थक रूपगत प्रयोगों की पहेली-बुझौवल से एक विशेष प्रकार की मानसिक तृप्ति मिलती है। उन्हें कविता या साहित्य से कोई गहरा मानवीय अनुभव पाने की अपेक्षा नहीं रहती। इसलिए कविता की वस्तु के प्रति वे प्रायः उदासीन रहते हैं। उन्हें तो अक्सर ऐसी वक्र उक्तियाँ और चुटकले चाहिए, जिन्हें वे अपनी ऊब और कुंठा दूर करने के लिए अपने वर्ग के बीच बैठकर व्यंग-विनोद करने, एक-दूसरे पर फ़ब्तियाँ कसने, मुंह बिचकाने या सामाजिक भावनाओं और नैतिकता की खिल्ली उड़ाने के लिए तुरंत इस्तेमाल कर सकें, या जो उनकी मानवद्रोही अनास्थाशील और यौन-उच्छृंखलतावादी

भावनाओं का औचित्य सिद्ध करके तत्काल के लिए उनके अन्तःकरण को मुक्त कर दें। इस तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति करके ही 'प्रयोग' के समर्थक कवि अपने को बहुत बड़ा तीसमार खाँ गिनने लगते हैं, चाहे सामान्य पाठक (जिनमें प्रबुद्ध, संस्कृत और संवेदनशील पाठकों की कमी नहीं है) स्वतंत्र रूप से उनकी रचनाओं को पढ़कर विरक्ति और ग्लानि का ही अनुभव क्यों न करते हों। वे अपने को सूर, तुलसी, ग़ालिब, रवीन्द्र, इक़बाल, प्रसाद, पंत, निराला से किसी भी अंश में कम नहीं मानते। इन कवियों के अहंकार को प्रोत्साहन देने और साधारण पाठकों की सहज मानवीय भावनाओं और वस्तु-बोध को कुंठित करने के लिए 'प्रयोग' के वकील (एपॉलोजिस्ट) आलोचकों, सम्पादकों और अध्यापकों का एक गिरोह पैदा होता जा रहा है (पाश्चात्य देशों में तो इस गिरोह में बड़े बड़े नामवर लोग हैं) जो उक्ति-वैचित्र्य, शब्द-चयन, ध्वनि-चित्र के टेकनिकल स्तर तक ही प्रयोगवादी कविता के विवेचन को सीमित रखकर सामान्य पाठकों में एक विशेष प्रकार की हीन-भावना पैदा करने की उद्धत चेष्टा करते हैं। उनके तर्कों का सार यह है—'तुम्हें (साधारणतया प्रबुद्ध पाठकों को) ये प्रयोगवादी कविताएं पसन्द नहीं हैं। तुम्हें ये दुरूह लगती हैं? तुम इसे असंगत प्रलाप कहते हो? तो तुम निश्चय ही रूढ़िपन्थी हो, समय से पिछड़े हुए हो, तुम्हारी रुचि का आधुनिक संस्कार नहीं हुआ, तुम मतवादी हो, पूर्वग्रहों से ग्रस्त हो! तुम्हारी भावनाएँ दक़ियानूसी और असंस्कृत हैं। तुम कविता की कृत्रिम रूप से गढ़ी हुई रंगीन भाषा के आदी हो, जिसके भाव, चित्र, अलंकार और उपमान पुराने और टकसाली हों। पुराने के प्रति मोह मनुष्य का स्वभाव है, क्योंकि दीर्घ परिचय के कारण वह बोधगम्य होता है। लेकिन पुराने भावों को व्यक्त करने में मौलिकता कहां है? और नये भाव पुरानी भाषा में कैसे व्यक्त हो सकते हैं? कविता का विकास परम्परा से आबद्ध रहकर नहीं हो सकता। फिर इतनी संकीर्णता क्यों? क्या कहा, तुम पिछड़े नहीं हो, दक़ियानूसी नहीं हो, आधुनिक चेतना के मनुष्य हो? तो फिर यह 'प्रयोगवादी कविता' ही तो अद्यतन कविता है, परम्परा से सर्वथा मुक्त। वास्तव में यही 'सच्ची' कविता है, क्योंकि इतिहास में पहली बार कवि ने ईमानदारी से अपने मन की जटिल और विशिष्ट प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्ति दी है—वह अपने अन्नदाता की प्रशस्तियां गाने वाला राजकवि और चारण-भाट नहीं रहा, वह नैतिक बन्धनों के कारण 'ढुलमुल चाटुता से वासना को झलमला कर' गाने वाला भक्त कवि नहीं है, वह 'कल्पना का लाड़ला' छायावादी भी नहीं है, जो 'निपट भावावेश से निर्वेद' अवस्था में पहुंचकर जीवन-यथार्थ से ही विमुख हो गया था। यह प्रयोगवादी कवि ही सच्चा कवि है, जो बिना किसी लाग-लपेट के जीवन की बीभत्सता, कुत्सा और निस्सारता का सही चित्र अंकित कर देता है। पुराना काव्य, इसीलिए, कोरा शब्द-जाल है, थोथा कौशल है, केवल बाह्य की अनुकृति है। उसमें प्रौढ़ता नहीं, कवि के व्यक्तित्व का प्रकाश नहीं। सौन्दर्य के पुराने मानदंडों से इस नयी कविता को मत जांचो! यह मत देखो कि कवि ने क्या कहा है, क्योंकि यह जानना महत्वपूर्ण नहीं है, और ऐसा करने से अनिवार्यतः तुम व्यर्थ के नैतिक पचड़ों में फंस जाओगे। तुम्हें तो सिर्फ़ यह देखना चाहिए कि कवि क्या कहना चाहता है—वह चाहे जो हो, तुच्छ या महान, नैतिक या अनैतिक—और जो कहना चाहता है, वह ठीक से, निर्भीकता से, ईमानदारी से कह पाया है या नहीं। नयी कविता का सौन्दर्य कवि की इस ईमानदारी में है, जो उसके कहने के ढंग में व्यक्त होती है।' इस प्रकार के युक्ति-युक्त लांछनों को सुनकर इस कविता को मानवद्रोही और खोखली कहने का साहस किसे होगा? साधारणतया कोई व्यक्ति अपने को मूर्ख, असंस्कृत और समय से पिछड़ा हुआ नहीं मानना चाहता। तो दोनों ही अपने नक्क़ूशाही दृष्टिकोण से साधारण

पाठक के सत्य-परक विवेक और सौन्दर्य-बोध को मूर्छित करना चाहते हैं । इतिहास में जान-बूझ कर केवल इतने विशिष्ट पाठकों तक ही अपनी कविता को प्रेषित करने की चेष्टा रचनाकारों ने कभी नहीं की । गत युगों के सभी महान कवियों ने, अपने वर्गगत संस्कारों के बावजूद, अपनी जान में तो मनुष्य-मात्र तक अपनी कविता को प्रेषित करने का ही प्रयत्न किया, जिसके कारण भी उनकी कविताएँ सर्वजन-संवेद्य बन सकीं । बाल्मीकि, कालिदास, होमर, शेक्सपियर और गेटे की कविता रसार्द्र करने के लिए किसी पाठक से विशिष्ट राजनीतिक दृष्टिकोण या अभिजातवर्गीय अनास्था और कुंठा की अपेक्षा नहीं रखती ।

आधुनिक पाठक जैसे कविता के बीहड़ जंगल में फँस गया है, जहाँ समाज को दोषी ठहराने वाली कर्कश आवाजें तो सुनाई देती हैं, लेकिन कविता की रसधारा नहीं बहती । स्वयं उस बेचारे को प्रतिक्रियावादी, दक़ियानूसी या मूर्ख कहकर लांछित तो किया जाता है, लेकिन उसकी विश्व-बोधिनी चेतना को गहरी अन्तर्दृष्टि और उसकी भावनाओं को गहरा मानवीय संस्कार नहीं दिया जाता । ऐसे में यदि पाठक का दम घुटता है और वह इस जंगल से जान छुड़ाकर निकल भागने को छटपटाता है, तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ? कविता के स्तर की गिरावट क लिए समाज की व्यावसायिकता जिम्मेदार है, विज्ञान की ईजादें, युद्ध की विभीषकाएँ और आधुनिक युग की अनास्थाहीनता जिम्मेदार है, और इन विपरीत परिस्थितियों में भी जो कविता रची जा रही है, उसको नापसन्द करने या समझ न पाने के लिए पाठकों की बुर्जुआ मनोवृत्ति या उनकी रूढ़ि-प्रियता और मूर्खता ज़िम्मेदार है—आधुनिक कविता के पाश्चात्य वकीलों की किताबों से रट-रटाकर, इन तर्कों की आवृत्ति और पुनरावृत्ति करते फिरना तो एक फैशन-सा बन गया है, लेकिन क्या कभी किसी ने पाठक का मत भी जानना चाहा है ? आज का प्रबुद्ध पाठक भी तो आधुनिक युग की चेतना में ही पला है—विज्ञान-मनोविज्ञान के अन्वेषणों-विश्लेषणों, युद्धों-अणुअस्त्रों की विभीषिकाओं, साम्राज्यवाद-फ़ैसिज्म के अत्याचारों, आर्थिक-संकट-बेरोज़गारी की, अनिश्चितताओं-यातनाओं, स्वतंत्रता-संग्रामों—समाजवादी क्रान्तियों और शान्ति-आन्दोलनों के विप्लवकारी परिवर्तनों के बीच ही उसके विश्व-बोध और भाव-प्रतिक्रियाओं का विकास हुआ है, जिनकी दुहाई देकर हमारे नये कवि अपनी कलागत् अक्षमताओं या मानवद्रोही भावनाओं के लिए बौद्धिक औचित्य खोजते फिरते हैं, मानो इस युग की यातनाओं और उथल-पुथल के एक मात्र वे ही भुक्त-भोगी दृष्टा रहे हैं, और मानो पाठक किसी प्राचीन अन्धकार-युग के निर्द्वन्द्व वातावरण में रहते आये हैं । किन्तु आधुनिक कवि की आत्म-प्रवंचनाओं के कवच को छेदकर प्रबुद्ध पाठक पूछता है—उसे पूछने का अधिकार है क्योंकि इन कविताओं के लिए वह अपनी कमाई के पैसे ही नहीं खर्च करता, बल्कि उन्हें अपने गले से नीचे उतारने के लिए भी बाध्य किया जाता है—इसलिए वह पूछता है कि कविता-क्षेत्र की इस समस्त धांधली के लिए क्या कवि की ज़िम्मेदारी कुछ भी नहीं है ? जो कवि विषय-वस्तु पर ही जोर देते हैं और अभिव्यक्ति और रूप (फार्म) के प्रति प्रायः उदासीन रहते हैं, वे क्या रूप (फार्म) से मुक्त कविता की सृष्टि कर सकते हैं ? रूप-सौन्दर्य और व्यंजना-तत्व की अवहेलना करने से क्या बड़े से बड़ा विचार स्वयं विकृत होकर क्षुद्र नहीं बन जाता ? उसका कलात्मक मूर्तीकरण क्या अन्ततः रूप के ही आश्रित नहीं है ? इसलिए अनगढ़, रुक्ष और अविकसित रूप (फार्म) में क्या विचार-वस्तु, विश्व-बोध, भाव, स्वर सभी कुछ संकीर्ण और क्षुद्र बनकर नीरस और निर्जीव नहीं दिखता ? और जो कवि केवल रूप (फार्म) पर ही जोर देते हैं और विचार-वस्तु के प्रति प्रायः उदासीन रहते हैं, या उसकी चर्चा से कतराते हैं, वे क्या वस्तु से युक्त किसी शुद्ध

रूप की सृष्टि कर सकते हैं ? विचार-वस्तु की अवहेलना करने से क्या रूप-निर्माण की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेष्टाएं खोखली और बेढंगी नहीं बन जातीं ? रूप की रेखाएं क्या वस्तु की व्यंजना में ही नहीं अनिवार्यतः उभरतीं-निखरतीं ? इसलिए तुच्छ और उलझी विचार-वस्तु और क्षुद्र और कुत्सित भावनाओं से, कुशल प्रयोगों के बावजूद, क्या रूप भी विकृत होकर भोंडा नहीं दिखता ? ऐसी एकांगिता क्या दोनों प्रकार की कविता को समान रूप से नीरस, निरर्थक, कुरूप और अ-प्रेष्य नहीं बना देती ? क्या इस एकांगिता के लिए भी कवि की ज़िम्मेदारी कुछ नहीं है ?—तो कवि का मानस क्या ग्रामोफ़ोन का चक्का है जिस पर सिर्फ़ राजनीतिक पार्टियों के वक्तव्यों के रिकार्ड ही बजाये जा सकते हैं, या मात्र एक ऐसी विशिष्ट फ़ोटो-प्लेट है, जिस पर समाज में व्याप्त कुत्साओं, वासनाओं और क्षुद्रताओं के रूप ज्यों के त्यों उतर आते हैं, और वास्तविकता के अन्य संविधायक पहलू उस पर अपना अक्स नहीं छोड़ पाते ? 'कवि क्या कहना चाहता है,' केवल इतने तक ही पाठक अपनी जिज्ञासा को सीमित क्यों रखे ? पाठक अन्तर्यामी तो नहीं है जो कवि के अवचेतन मन की 'उलझी संवेदनाओं' को भांप जाये ? किसी कविता में कवि ने क्या कहा है, जो कहा है वह मनुष्य के परम्परागत अनुभव की अपेक्षा में कैसा है, किस कोटि का है—नवीनता, गहराई, व्यापकता, जीवन-बोध और मानवीय रागात्मकता की दृष्टि से--इन सब सौन्दर्यपरक, नैतिक और दार्शनिक स्तरों पर भी उसके कथन को वह क्यों न जांचे-परखे ? केवल 'कैसे कहा है'—शिल्प-टेक्नीक के स्तर की इतनी जांच-परख ही क्या पर्याप्त है ? क्या इतने से ही कविता का सम्पूर्ण अर्थ ग्रहण कर पाना सम्भव है ? आधुनिक पाठक की चेतना भी इस युग के अनुसार ही संश्लिष्ट है, अतः किसी भी कविता को पढ़ते समय शब्द-चमत्कार और ध्वनि-सौन्दर्य के प्रारम्भिक मूर्त्त-स्तर से लेकर नैतिक और दार्शनिक चेतना के उच्चतर अमूर्त्त स्तरों तक की प्रक्रियाएं एक साथ ही उसके मन में अनायास चालू हो जाती हैं—उस कविता के सम्पूर्ण अनुभव को ग्रहण करने के लिए—और उनके सम्मिलित निर्णय के आधार पर ही पाठक उस कविता का मूल्य आंकता है। आधुनिक कविता को समझने का प्रयत्न करते समय वह इन उच्च-स्तर की जिज्ञासाओं को बरबस क्यों दबा रखे ?

किन्तु इन उच्च-स्तर की जिज्ञासाओं का ज़िक्र आते ही पाठक के 'पूर्वग्रहों' को रसास्वादन की क्रिया में विघ्न डालने वाले दस्युओं के रूप में घसीट लाना क्या आधुनिक कविता के वकीलों (ऐपॉलोजिस्ट्स) को शोभा देता है ? कवि के पूर्वग्रह क्या नहीं होते, और वे उसकी कविता में क्या अनिवार्यतः व्यक्त नहीं होते ? पाठक के पूर्वग्रह निन्दनीय हैं तो कवि नामधारी व्यक्ति के पूर्वग्रह किस दैवी पुण्य के कारण वन्दनीय हैं, जो पाठक उन्हें अतर्क्य श्रद्धा-भाव से अपने सिर-माथे स्वीकार करता जाय ? आख़िर ये 'पूर्वग्रह' हैं कौन-सी बला, जिनसे कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं है—कभी नहीं रहा—और जो किन्हीं दो व्यक्तियों को परस्पर अपने हृदय की बात कहने-सुनने-समझने के मार्ग में सदा एक दुर्लंघ्य दीवार बनकर खड़े हो जाते हैं ? वास्तव में 'पूर्वग्रह' ऐसी कोई भयंकर बला नहीं हैं, यदि होते तो ज्ञान-विज्ञान और कला का कहीं अस्तित्व न होता, यहां तक कि मनुष्य की भाषा तक का विकास न होता। 'पूर्वग्रह' मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक अनुभव और ज्ञान के मार्ग से विकसित होने वाली चेतना, नैतिक-संस्कार, सौन्दर्य-भावना और विश्व-बोध का अनिवार्य परिणाम हैं, जो व्यक्ति की निजी धारणाओं, मान्यताओं और सहानुभूतियों के रूप में व्यक्त होते हैं। किन्तु ये 'पूर्वग्रह', व्यक्ति की ऊपर से निजी दिखने वाली धारणाएं, मान्यताएं, और सहानुभूतियां, युग-चेतना के विकास और व्यक्तिगत तथा सामाजिक रूप से वस्तु-सत्य देखने

अनुभव की अपेक्षा में स्वतः बदलते भी रहते हैं। कला तथा विज्ञान, जीवन और जगत के सत्य का अपने-अपने ढंग से उद्घाटन करके, मनुष्य के विश्व-बोध को व्यापक बनाते हैं तो साथ ही उसके पूर्वग्रह भी संकीर्णता त्यागकर अधिक व्यापक और मानवीय होते जाते हैं। फिर 'पूर्वग्रहों' का भूत खड़ा करके प्रयोगवादी कवि अपने और पाठक के बीच किसी गहरे चेतनाप्रद अनुभव के आदान-प्रदान की सम्भावना को ही बन्द क्यों कर देना चाहते है ? गत युगों के महान कवियों की तरह (जो स्वयं अपने पूर्वग्रहों, अपने युग की चेतना और शिल्प-ज्ञान की सीमाओं से मुक्त नहीं थे) जीवन-वास्तव और मानव-सम्बन्धों के सत्य की गहरी चेतना देने वाली मार्मिक कविता रचकर आधुनिक कवि भी मनुष्य के संकीर्ण, क्षुद्र, असंस्कृत, पिछड़े, असामाजिक पूर्वग्रहों को तोड़ने और उसकी सहानुभूतियों को और अधिक व्यापक तथा मानवीय बनाने में योग क्यों नहीं देते ? या फिर स्वयं उनकी सहानुभूतियाँ, उनके 'पूर्वग्रह' इतने संकीर्ण, आत्म-केन्द्रित और असामाजिक हैं कि वे अपने रुग्ण मानस के बाहर निकलकर वास्तविकता को देख-समझ ही नहीं सकते, और शायद इसी कारण उनकी पर्दापोशी के लिए वे पाठक के 'पूर्वग्रहों' का भय दिखाते हैं, ताकि पाठक की उच्चस्तर की जिज्ञासाओं की अन्तर्भेदी दृष्टि के आगे उन्हें अपनी क्षुद्र और मानवद्रोही आत्मा की 'नंगाझोरी' देने के लिए बाध्य न होना पड़े ? पर उनकी इस दयनीय स्थिति की जिम्मेदारी किस पर है ? संकीर्णता पाठक की है या आधुनिक कवि की, जो या तो जीवन-वास्तव के प्रति निपट असंवेदनशील है, या यदि संवेदनशील है तो केवल उस अंग के प्रति ही जो ह्रासोन्मुखी है, और जिसे सम्पूर्ण सत्य मानकर, उच्छृंखलता और ग़ैरजिम्मेदारी की झोंक में, वह अपनी रही-सही मानवीय सहानुभूतियों का गला घोंटने पर उतारू हो गया है ?

जीवन पर संकट के बादल छाये हैं, किन्तु मनुष्य ने क्या उसके आगे घुटने टेक दिये हैं ? क्या स्वयं हमारे देश की आवाज़, जो छत्तीस करोड़ जनता की आवाज़ है, इस संकट से मनुष्य जाति का उद्धार करने के लिए इतिहास और जीवन का आग्रह लेकर विश्व में गूंजकर लोगों में नयी आशा का संचार नहीं कर रही है ?

इस आवाज़ के प्रति कवि क्यों कर्ण-बधिर होकर बैठ गया है, या उसको मुँह क्यों बिचकाता रहता है ? क्या आध्यात्मिक रंकता और पुंसत्वहीनता के वातावरण में किसी भी शाब्दिक तिलिस्म से वह अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित कर सकेगा ?

प्रबुद्ध पाठक के प्रश्नों का अन्त नहीं है, किन्तु हम इस सूची को अनावश्यक रूप में लम्बा नहीं बनाना चाहते। इन प्रश्नों की गंभीरता केवल इस तथ्य को ही रेखांकित करती है कि दोनों पक्षों के प्रवक्ता और कवि 'प्रगति' और 'प्रयोग' की समस्या को जिस एकांगी दृष्टि से समझते हैं और आधुनिक कविता में जो गिरावट दिखायी देती है—एक ओर विशेषकर शिल्प-सौन्दर्य और दूसरी ओर भाव-विचार-वस्तु की—उसके बारे में प्रचलित प्रवादों, मतवादों और फैशनों के चक्कर में न पड़कर नये कवि अपने महान दायित्वों को समझें। प्रगति और प्रयोग की समस्या को वे समग्र रूप में देखें। और जिनमें प्रतिभा है वे उसको, परिस्थितियों की विषमता के बावजूद, 'सच्ची' कविता के सृजन में लगायें। इसी में कवि का गौरव है और देश का गौरव है।

—शिवदानसिंह चौहान

हमारा वक्तव्य

हमने काव्यधारा नाम से आधुनिक हिन्दी-कवियों की प्रतिनिधि रचनाओं के प्रकाशन का आयोजन किया है। हमें पूर्ण आशा और विश्वास है कि आपके सक्रिय सहयोग से हम इस योजना को कार्यान्वित ही नहीं कर पायेंगे; बल्कि हिन्दी-काव्यधारा को अन्य साहित्य-रूपों की अपेक्षा में पुनः सर्वाधिक लोक-प्रिय और बलशाली धारा बनाने में सफल हो सकेंगे। अर्थात्, हिन्दी-कविता पुनः अपने विगत गौरव को प्राप्त कर सकेगी और नये युग की चेतना को आत्मसात् करती हुई नये सौन्दर्य और जीवन-मूल्यों की सृष्टि करके जन-मानस में जीवन के प्रति नया अनुराग, युग की केन्द्रीय समस्याओं के प्रति नई जागरूकता, नई भाव-सम्वेदना, राष्ट्र-निर्माण और विश्व-शान्ति के मानवोचित आदर्शों के प्रति नई निष्ठा और उमंग, व्यष्टि और समष्टि के समन्वित विकास में नई आस्था और उदात्त नैतिक भावनाएं जगायेगी और इस प्रकार मनुष्य-मात्र की प्रगतिशील आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कर सकेगी।

अनेक संस्कृति-विरोधी बाह्य-प्रभावों में फंसकर गत वर्षों में पाठकों की काव्य-रुचि विकृत होती गयी है और आज सामान्य पाठक कविता के प्रति ही नहीं, साहित्य और कला के अन्य रूपों के प्रति भी उदासीन-से होते जा रहे हैं। इसकी प्रतिक्रिया भी हुई है। कवि और पाठक के बीच छायावाद-युगीन आत्मीय और अंतरंग सम्बन्ध टूट जाने से कुछ कवि अपनी वैयक्तिक, उलझी, कुंठित, अनास्थाशील और विद्रूपात्मक संवेदनाओं या एकांगी बौद्धिक मान्यताओं को ऐसी अनुभूति-हीन, दुरूह और गद्यात्मक शैली में व्यक्त करने लगे हैं, जिसका उद्देश्य सामान्य पाठकों तक अपने भाव-विचारों का प्रेषण नहीं होता; बल्कि समानधर्मा कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का मनोरंजन करना मात्र होता है। इस प्रवृत्ति ने कवि और पाठक के बीच के बढ़ते हुए व्यवधान को और बढ़ाने में योग दिया है। कविता जन-मानस की भाव-चेतना में जीवन-सत्य की अधिक गहरी और मार्मिक अनुभूति जगाने के दायित्व से विमुख होकर युगीन अर्थवत्ता और भाव-गम्भीरता खोती जा रही है। इससे काव्य-जगत में अनेक प्रवाद चल पड़े हैं। किन्तु जो कवि इन विकृतियों के प्रति सचेत हैं—और सौभाग्य से अभी भी उनकी संख्या अधिक है—वे भी सम्प्रति कविता के भविष्य के बारे में सन्देहशील हो उठे हैं। 'कविता का युग बीत गया'—इस बहुप्रचारित, किन्तु अनैतिहासिक धारणा ने समर्थ कवियों तक को कम हतोत्साहित नहीं किया है। हिन्दी-कविता में नये प्राण और नई शक्ति भरने वाले नये अर्थ और भाव से संवलित रस-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा जरूरी है. इससे कोई इन्कार नहीं करता, और हमारे प्रतिभा-सम्पन्न नये और पुराने कवियों को युग के सम्पूर्ण वेदन को उत्कृष्ट कलात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए काव्य-जगत की इस केन्द्रीय समस्या का समाधान स्वयं अपनी काव्य-साधना द्वारा प्राप्त करना होगा, लेकिन इस दिशा में एक विराट संगठित प्रयत्न भी अपेक्षित है।

काव्यधारा ऐसे विराट् संगठित प्रयत्न का आयोजन करने का संकल्प लेकर ही जन्म ले रही है। इसलिए यह प्रयास युग-वांछित ही नहीं, अभूतपूर्व भी है। किसी पूर्वग्रह या एकांगी मतवाद में न बंधकर काव्य-धारा सभी नये-पुराने कवियों की श्रेष्ठतम रचनाओं को संकलन के रूप में प्रकाशित करके हिन्दी की 'मुख्य काव्यधारा' का प्रतिनिधित्व करेगी, तत्सामयिक फैशनवर्ती, कूल-किनारों पर भटकती फिरने वाली स्वेच्छाचारी फेनिल बुदबुदों का नहीं। काव्यधारा की प्रत्येक संख्या में हिन्दी-पाठक हमारे सिद्धि-प्राप्त और उदीयमान कवियों की युग-चेष्टा का स्वरूप देखकर अपनी कलाभिरुचि का संस्कार कर सकेंगे और नई चेतनादायी प्रेरणाएँ ग्रहण कर सकेंगे।

काव्यधारा जैसी योजना की अनिवार्यता आज इसलिए भी है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा बन गई है। हिन्दी के लेखक अब केवल हिन्दी-पाठकों के प्रति ही नहीं; भारत की अन्य भाषाओं और प्रकारान्तर से विश्व के पाठकों के प्रति भी उत्तरदायी हैं। हमारे कवियों की साधना इस दायित्व को पूरी गरिमा से निभाने में पूर्णकाम होगी, ऐसा हमारा विश्वास है, और आशा है कि काव्यधारा इसका समर्थ माध्यम बन सकेगी। हिन्दी-काव्य का नया उत्थान भारतीय और इतर भारतीय भाषाओं के काव्यों में भी एक नये युगीन उत्थान का प्रेरक बनेगा, इस उदात्त लक्ष्य की ओर सजग-चरण बढ़ने का अनुष्ठान करके ही काव्यधारा आप के सहयोग की प्रार्थी है।

'काव्यधारा' की पहली संख्या के प्रकाशन में अनावश्यक विलम्ब हुआ है, इसका हमें हार्दिक खेद है। आशा है कि अगली संख्याएँ अब समय पर निकलती जायेंगी। कई अकथनीय कार... कहीं-कहीं प्रूफ़ की अशुद्धियाँ रह गई हैं, उसके लिए हम क्षमा चाहते हैं।

शिवदानसिंह चौहान : गोपालकृष्ण कौल